हिन्दी समिति ग्रंथमाला—१६

दर्शन-संग्रह

[भारतीय दर्शन का सामान्य विवरण]

लेखक
डॉ० दीवानचन्द

प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश

प्रथम सस्करण
१९५८

मूल्य
साढ़े चार रुपये

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

भारत की राजभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किन्तु इससे हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के विशेष उत्तरदायित्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। हमें संविधान में निर्धारित अवधि के भीतर हिन्दी को न केवल सभी राज-कार्यों में व्यवहृत करना है, उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट बनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिन्दी में वाङ्मय के सभी अवयवों पर प्रामाणिक ग्रन्थ हों और यदि कोई व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने शिक्षा विभाग के अन्तर्गत साहित्य को प्रोत्साहन देने और हिन्दी के ग्रन्थों के प्रणयन की एक योजना परिचालित की है। शिक्षा विभाग की अवधानता में एक हिन्दी परामर्श समिति की स्थापना की गयी है। यह समिति विगत वर्षों में हिन्दी के ग्रन्थों को पुरस्कृत करके साहित्यकारों का उत्साह बढ़ाती रही है और अब इसने पुस्तक प्रणयन का कार्य आरम्भ किया है।

समिति ने वाङ्मय के सभी अंगों के सम्बन्ध में पुस्तकों का लेखन और प्रकाशन कार्य अपने हाथ में लिया है। इसके लिए एक पंच-वर्षीय योजना बनायी गयी है जिसके अनुसार ५ वर्षों में ३०० पुस्तकों का प्रकाशन होगा। इस योजना के अन्तर्गत प्रायः वे सब विषय ले लिये गये हैं जिन पर संसार के किसी भी उन्नतिशील साहित्य में ग्रन्थ प्राप्त हैं। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमें से प्रथमतः ऐसे विषय अथवा उन विषयों को ले जाय जिनकी हिन्दी में नितान्त कमी है।

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरम्भ करने का यह आशय नही है कि व्यवसाय के रूप में यह कार्य हाथ में लिया गया है। हम केवल ऐसे ही ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहते है जिनका प्रकाशन कतिपय कारणो से अन्य स्थानो से नही हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रो से सहायता प्राप्त होगी और भारती के भण्डार को परिपूर्ण करने में उत्तर प्रदेश का शासन भी किंचित् योगदान देने में समर्थ होगा।

भगवती शरण सिंह
सचिव
हिन्दी परामर्श समिति

प्रस्तावना

(१) मिस्र को पराजित करने के बाद, जूलियस सीज़र ने मिस्रवासियों की बाबत कहा—"यह लोग पुस्तकों की सहायता से जीवन को स्वप्न में व्यतीत कर देते हैं, जीना नहीं जानते।" भारतवासियों की बाबत भी कुछ विदेशियों का ख्याल ऐसा ही है। जब वे हमें 'दार्शनिकों की जाति' कहते हैं, तो यह सम्मान के नहीं, अपितु तिरस्कार के शब्द होते हैं। कुछ वर्ष पहले जापानी कहते थे कि भारतवासी राजनीतिक निर्वाण की अवस्था में हैं।

दार्शनिक विवेचन मस्तिष्क का काम है। यदि उज्ज्वल मस्तिष्क के साथ पवित्र हृदय और बलिष्ठ बाहु विद्यमान नहीं होते, तो यह मस्तिष्क का दोष नहीं। प्राचीन भारत से जो पैतृक सम्पत्ति हमें प्राप्त हुई है, उसमें भारतीय दर्शन एक अनमोल भाग है। विदेशी शासन के कारण हम इसकी ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दे सके, अब तो इसकी ओर उदासीन रहने का कोई कारण नहीं।

(२) पश्चिमी दर्शन के अध्ययन की सुगम नीति उसके इतिहास का अध्ययन है, दर्शन का इतिहास मानव जाति के निरन्तर विवेचन की कथा ही है। पश्चिम में यह विवेचन दो ढाई सहस्र वर्षों से एक धारा के रूप में चलता आया है। भारत में स्थिति भिन्न है, यहाँ आरम्भ के कुछ काल बाद ही विवेचन-धारा कई उपधाराओं में बँट गयी, और यह उपधाराएँ साथ-साथ चलती रही हैं। इन उपधाराओं को हाल में हम विकास को देखते हैं, परन्तु एक धारा के रूप में यहाँ दर्शन का इतिहास विद्यमान नहीं। जो विद्वान् 'भारतीय दर्शन का इतिहास' लिखते हैं, वे वास्तव में विविध शाखाओं पर निबन्ध ही लिखते हैं।

(३) भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में तीन युग प्रसिद्ध हैं। पहला युग उपनिषद् काल है। उपनिषदों में अनेक विषयों पर विचार किया गया है, परन्तु उपनिषदें दर्शन नहीं, ये दर्शनों को विवेचन-सामग्री देती हैं। उनमें अनेक विचार फैले हुए मिलते हैं। दूसरे युग में दर्शनों ने इन विचारों को स्फटिकों के रूप में पेश किया। प्रत्येक दर्शन-शाखा ने अपने लिए विषय-क्षेत्र चुना और उसके सम्बन्ध में उपनिषदों के विचारों को विस्तृत किया। उन्होंने शैली में भी परिवर्तन किया; जो कुछ कहना था, सूत्रों में कहा, और उसे प्रमाणित करने का यत्न किया। इसके लिए आवश्यक

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरम्भ करने का यह आशय नही है कि व्यवसाय के रूप में यह कार्य हाथ में लिया गया है। हम केवल ऐसे ही ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहते है जिनका प्रकाशन कतिपय कारणो से अन्य स्थानो से नही हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रो से सहायता प्राप्त होगी और भारती के भण्डार को परिपूर्ण करने में उत्तर प्रदेश का शासन भी किंचित् योगदान देने में समर्थ होगा।

भगवती शरण सिंह
सचिव
हिन्दी परामर्श समिति

प्रस्तावना

(१) मिस्र को पराजित करने के बाद, जूलियस सीज़र ने मिस्रवासियों की बाबत कहा—"यह लोग पुस्तकों की सहायता से जीवन को स्वप्न में व्यतीत कर देते हैं, जीना नहीं जानते।" भारतवासियों की बाबत भी कुछ विदेशियों का ख्याल ऐसा ही है। जब वे हमें 'दार्शनिकों की जाति' कहते हैं, तो यह सम्मान के नहीं, अपितु तिरस्कार के शब्द होते हैं। कुछ वर्ष पहले जापानी कहते थे कि भारतवासी राजनीतिक निर्वाण की अवस्था में हैं।

दार्शनिक विवेचन मस्तिष्क का काम है। यदि उज्ज्वल मस्तिष्क के साथ पवित्र हृदय और बलिष्ठ बाहु विद्यमान नहीं होते, तो यह मस्तिष्क का दोष नहीं। प्राचीन भारत से जो पैतृक सम्पत्ति हमें प्राप्त हुई है, उसमें भारतीय दर्शन एक अनमोल भाग है। विदेशी शासन के कारण हम इसकी ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दे सके, अब तो इसकी ओर उदासीन रहने का कोई कारण नहीं।

(२) पश्चिमी दर्शन के अध्ययन की सुगम नीति उसके इतिहास का अध्ययन है, दर्शन का इतिहास मानव जाति के निरन्तर विवेचन की कथा ही है। पश्चिम में यह विवेचन दो ढाई सहस्र वर्षों से एक धारा के रूप में चलता आया है। भारत में स्थिति भिन्न है, यहां आरम्भ के कुछ काल बाद ही विवेचन-धारा कई उपधाराओं में बँट गयी, और वह उपधाराएँ साथ-साथ चलती रही हैं। उन उपधाराओं की हालत में हम विकास को देखते हैं, परन्तु एक धारा के रूप में यहाँ दर्शन का इतिहास विद्यमान नहीं। जो विद्वान् 'भारतीय दर्शन का इतिहास' लिखते हैं, वे वास्तव में विविध शाखाओं पर निबन्ध ही लिखते हैं।

(३) भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में तीन युग प्रसिद्ध हैं। पहला युग उपनिषद् काल है। उपनिषदों में अनेक विषयों पर विचार किया गया है, परन्तु उपनिषदें दर्शन नहीं, ये दर्शनों को विवेचन-सामग्री देती हैं। इनमें अनेक विचार बिखरे हुए मिलते हैं। दूसरे युग में दर्शनों ने इन विचारों को इकाइयों के रूप में पेश किया। प्रत्येक दर्शन-शाखा ने अपने लिए विषय-क्षेत्र चुना और उसके सम्बन्ध में उपनिषदों के विचारों को विस्तृत किया। उन्होंने शैली में भी परिवर्तन किया, जो कुछ कहना था, सूत्रों में कहा और उसे प्रमाणित करने का यत्न किया। इसके लिए आवश्यक

था कि हर एक शाखा स्पष्ट शब्दो में बताये कि वह किन प्रमाणो को स्वीकार करती है। एक शाखा ने तो प्रमाण के विश्लेषण को अपना प्रमुख विषय बनाया। भारत के दर्शनो में साख्य और योग, न्याय और वैशेषिक, पूर्व और उत्तर मीमासा एक दूसरे के बहुत निकट हैं। तीसरे युग में इन दर्शनो पर भाष्य लिखे गये और फिर उन भाष्यो पर भाष्य लिखे गये। यह सिलसिला जारी रहा और इसके फलस्वरूप स्वतन्त्र विचार एक तरह से समाप्त ही हो गया। एक और परिणाम यह हुआ कि मूल सिद्धान्त भाष्यो के तले दब गया। आजकल वेदान्त बादरायण का सिद्धान्त नही, अपितु शकराचार्य का मत है, पूर्व मीमासा की व्याख्या में जैमिनि पीछे पड गया है, प्रभाकर और कुमारिल आगे आ गये है। यही अवस्था अन्य शाखाओ की है।

(४) वर्तमान पुस्तक में मैंने अपने अध्ययन को मूल ग्रन्थो तक सीमित रखा है, भाष्यकारो को एक ओर रहने दिया है। इसके फलस्वरूप अपने समाधान में मै कही-कही परम्परा से दूर हो गया हूँ। दार्शनिक विवेचन का तो तत्त्व ही यह है कि विवेचन करनेवाला अपनी प्रतिक्रिया को प्रकट करे। मेरी प्रतिक्रिया एक ऐसे व्यक्ति की प्रतिक्रिया है, जिसने साधारण आधुनिक शिक्षा प्राप्त की है, और उसके साथ भारतीय दर्शन के मूल ग्रन्थो को पढा है। जो कुछ मुझे सूझा है, उसे कह दिया है। आठवे अध्याय में अपने चुनाव के मार्ग से ज़रा हटा हूँ। अध्याय का शीर्षक ही इसका सूचक है। कपिल, कणाद आदि के जीवन की बाबत हम उनके नामो से अधिक बहुत कम जानते हैं, बुद्ध की हालत में स्थिति भिन्न है, इसलिए बुद्ध भी अध्याय में विद्यमान है। बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध मे भी बुद्ध की अपनी शिक्षा को सीमा नही बनाया, क्योकि जो कुछ बौद्ध दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है, उसका अधिक भाग बुद्ध के बहुत पीछे विकसित हुआ। अन्तिम अध्याय भगवद्गीता की शिक्षा का सक्षिप्त विवरण है।

६३, छावनी, कानपुर

दीवानचन्द

विषय-सूची

दर्शन-संग्रह

दर्शन-संग्रह

उपनिषद्

१. सामान्य विवरण

भारत के साहित्य में उपनिपदो का विशेप स्थान है। यह वेद के ज्ञान-भाग का व्याख्यान हैं। कुछ लोग तो इनको इतना महत्त्व देते हैं कि इन्हें वद का अश ही समझते है।

'उपनिपद्' का अर्थ निकट वैठना है। जव दो मनुष्य एक दूसरे के निकट वैठते है तो वह ऐसी वातें भी कर सकते हैं, जिन्हें वह दूसरो से गुप्त रखना चाहते है। इसलिए 'उपनिपद्' शव्द रहस्य के अर्थ में भी लिया जाता है। एक पग आगे वढें तो उपनिपद् वह रहस्य है, जो तात्त्विक विवेचन का विपय है।

उपनिपद् किसी एक पुस्तक का नाम नही, यह प्राचीन साहित्य की एक शाखा है। इस शाखा के अन्तर्गत अनेक पुस्तकें आती हैं, जो विविध समयो पर लिखी गयी। इनमें कुछ गद्य में है, कुछ में गद्य और पद्य मिले है, और कुछ पद्य में है। इसी क्रम में इन्हें प्राचीन, मध्यकालीन और नवीन समझा जाता है। काल-क्रम निश्चित करने के लिए भापा, समाधान-शैली और विपय को भी घ्यान मे रखा जाता है।

जो पुस्तकें उपनिपदो के नाम से प्रसिद्ध हैं, उनकी सख्या १०० से ऊपर है, परन्तु प्रामाणिक उपनिषदो की सख्या थोडी ही है। इस श्रेणी में वे उपनिपदें आती है, जो साम्प्रदायिकता से विमुक्त है और जिन पर शकराचार्य ने भाप्य किया है। इनके नाम ये है—

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, श्वेताश्वतर। कुछ लोग कौपीतकी को भी इनमें सम्मिलित करते है।

ईश उपनिपद् जो अपने प्रथम पद के कारण इस नाम से प्रसिद्ध है, तनिक भेद के साथ यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय ही है। इसमें केवल १८ मन्त्र हैं, परन्तु उपनिपदो में इसका स्थान सर्वोच्च है।

अन्य उपनिपदो में वृहदारण्यक प्रमुख है। यह गद्य में है। पाँचवें अध्याय का अन्तिम (१५वाँ) व्राह्मण ईश उपनिपद् के अन्तिम चार मन्त्रो का उद्धरण ही है।

इस उपनिषद् के छ अध्याय हैं। दूसरे, चौथे और फिर छठे अध्याय के अन्त में 'वश' (सिद्धान्त-शिक्षको की परम्परा) विद्यमान है। आम तौर पर ऐसी सूची पुस्तक की समाप्ति का चिह्न होती है। याज्ञवल्क्य ने आश्रम-परिवर्तन के समय जो उपदेश अपनी पत्नी को दिया, वह थोडे भेद के साथ दूसरे और चौथे अध्याय में एक ही शब्दो में मिलता है। उपनिषदों में वाक्, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन की अपेक्षा मुख्य-प्राण को कई स्थानो में श्रेष्ठ बताया है। वृहदारण्यक में यह विषय तीनों भागो में विद्यमान है, और समाधान एक-सा ही है। सम्भव है, उपनिषद्कार ने भिन्न समयो पर तीन रचनाएँ की हो, और पीछे तीनो मिलकर एक उपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध हो गयी हो।

वृहदारण्यक में कई सवाद आते हैं। याज्ञवल्क्य इनमें प्रमुख वक्ता है। जनक का राजमहल दार्शनिक विचार का स्थान था।

छान्दोग्य उपनिषद् में भी बहुत सवाद है। इनमें सनत्कुमार, आरुणि आदि विचारको से हमारी भेंट होती है। इस उपनिषद् में तात्त्विक विचार के साथ कर्म-काण्ड भी प्रमुख विषय है।

छोटी उपनिषदों में, 'मुण्डक', 'कठ' और 'प्रश्न' एक त्रिक बनाती हैं। इनका विषय, विचार-शैली और भाषा एक दूसरे से मिलती है। इन तीनो में 'मुण्डक' पुरानी समझी जाती है, 'कठ' हमें आदर्श जिज्ञासु नचिकेता से परिचित कराती है। नचिकेता ने स्वय यम के पास पहुँचकर उससे आत्मा के अमरत्व की बावत पूछा। प्रश्न उपनिषद् में छ जिज्ञासु पिप्पलाद के पास जाते हैं और उससे अपने-अपने प्रश्न का उत्तर पूछत हैं।

केन उपनिषद् अपने पहले पद के कारण इस नाम से प्रसिद्ध है। इसमें आत्मा और परमात्मा विचार का विषय हैं।

तैत्तिरीय और ऐतरेय एक जोडा है। तैत्तिरीय में शिक्षा पर भी विचार किया है। इसी में वे आदेश भी मिलते हैं, जिन्हें आजकल भारत के कुछ विश्वविद्यालयो में दीक्षान्त भाषण के रूप में वरता जाता है।

श्वेताश्वतर एक नयी उपनिषद् है। इसमें अन्य उपनिषदो के उद्धरण मिलते हैं। यह साख्य और वेदान्त सिद्धान्तों को निकट लाने का यत्न करती है। परमात्मा के स्वरूप की बावत इसमें कई मधुर श्लोक मिलते हैं।

२ विचार-शैली और प्रमुख प्रश्न

उपनिषदो में कठ और श्वेताश्वतर अपने रचयिताओ के नाम पर प्रसिद्ध हैं। कठ में उपनिषद्कार अपने विचारो को एक उपदेश के रूप में प्रस्तुत करता है, जो

यम ने नचिकेता को दिया, श्वेताश्वतर में रचयिता अपने विचारो को आप वयान करता है। प्रश्न उपनिपद् में वक्ता हमें उन प्रश्नो और उत्तरो की वावत वताता है, जो छ जिज्ञासुओ और पिप्पलाद में हुए। अन्य उपनिपदो के रचयिताओ की वावत कुछ कह नही सकते। वृहदारण्यक और छान्दोग्य में सवाद का उदार प्रयोग हुआ है। यह सवाद हमें प्लेटो के मवादो की याद दिलाते हैं। परन्तु प्लेटो के सवादो और उपनिपदो के सवादो में वहुत भेद है। प्लेटो के सवादो में सुकरात प्रमुख वक्ता है, परन्तु वह जिज्ञासुओ में एक जिज्ञासु होता है। जो लोग सवाद में प्रस्तुत होते हैं, वह सभी वाद में भाग लेते है। उपनिषदो के सवादो में प्रमुख वक्ता कहता जाता है, और दूसरे सुनते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विपय के विविव पक्ष हमारे सम्मुख नही आते। प्लेटो के सवाद दर्शनशास्त्र की पुस्तकें हैं, उनमें प्रतिज्ञाओ की जाँच होती है। उपनिषदो के सवादो मे यह चिह्न विद्यमान नही।

उपनिपदें दर्शन नही, दर्शनो को उनके विवेचन की सामग्री देती हैं। इनमें अनेक विचार घुले हुए मिलते हैं, ये पीछे दर्शनो में स्फटिको के रूप में व्यक्त हुए। दर्शन की विविध शाखाएँ उपनिषदो के दृष्टिकोण को स्वीकार करती हैं, और उनकी व्याख्या और पुष्टि को अपना प्रमुख लक्ष्य वनाती हैं।

उपनिपदो में दार्शनिक विचार, धर्म और नीति से मिले हुए हैं। कथन पद्य में हो या गद्य में, यह कविता के रग मे रँगा होता है। प्लेटो में भी दार्शनिक और कवि युक्त हैं, और यह जानना कठिन हो जाता है कि दार्शनिक प्लेटो हमें समझा रहा है, या कवि प्लेटो हमें मोहित कर रहा है। उपनिपदो मे भी स्थिति ऐसी ही है। यहाँ प्रतिभा (अन्तर्ज्योति) ज्ञान का आधार है। जो कुछ किसी मुनि को दिखाई देता है, वह उसे वयान कर देता है। कोई उससे विवाद करना चाहे, तो वह यही कहेगा—'मुझे ऐमा दिखाई देता है, अपने लिए तुम आप सोच लो।'

दार्शनिक विवेचन के तीन ही प्रमुख विपय हैं—ब्रह्माण्ड, ब्रह्म और स्वय मनुष्य। हम इनके स्वरूप की वावत जानना चाहते हैं, यह भी जानना चाहते हैं कि इनका आपसी सम्वन्ध क्या है। सम्वन्धो का महत्त्व इतना है कि कुछ विचारक तो पदार्थों को सम्वन्धों के पुज ही समझते हैं। हमारे मन की वनावट कुछ ऐसी है कि हम दो वस्तुओं के सम्वन्ध को एक साथ देखना सुगम पाते है। पश्चिमी दर्शन का इतिहास इसे स्पष्ट करता है। प्राचीन काल में प्रमुख प्रश्न ब्रह्माण्ड और ब्रह्म का सम्वन्ध था, मध्य काल में परमात्मा और जीवात्मा का सम्वन्ध प्रमुख विपय वना। नवीन काल में ज्ञान-मीमांसा आगे आयी, और आत्मा और प्रकृति का सम्वन्ध अध्ययन का केन्द्र वन गया है। भारत में यह काल-क्रम दिखाई नहीं देता, परन्तु ब्रह्माण्ड, ब्रह्म और

जीवात्मा का स्वरूप और इनके सम्बन्ध सदा विचार के विषय बने रहे हैं। उपनिषदों में भी हम यही देखेंगे।

३ ब्रह्म-विद्या का अधिकार

एक प्रचलित कथन के अनुसार, 'अल्प ज्ञान भयकर होता है' यह कथन तत्त्व-ज्ञान के सम्बन्ध में विशेष महत्त्व रखता है। दार्शनिक विवेचन का पहला परिणाम स्वीकृत विश्वासो में अश्रद्धा पैदा करना होता है। जो लोग ऐसे विश्वासो के स्थान में कोई नये विश्वास अपना नही सकते, वे न इधर के रहते है, न उधर के। सुकरात पर यही अभियोग लगाया गया था कि वह नवयुवको में अविश्वास पैदा करके उनके आचार को भ्रष्ट करता है। प्लेटो ने कहा कि दर्शन का अध्ययन ३० वर्ष की उम्र में आरम्भ करना चाहिये। उपनिषदो में भी कहा है कि यह ज्ञान ज्येष्ठ पुत्र या योग्य शिष्य को ही देना चाहिये। बौद्धिक प्रौढता के अतिरिक्त, यहाँ शुद्ध आचार को भी ऐसी विद्या के अधिकार में सम्मिलित किया गया है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है—

निश्चय यह आत्मा सत्य से, तप से, यथार्थ उपयोगी ज्ञान से और निरन्तर ब्रह्मचर्य-सेवन से मिलता है। यह ज्योतिर्मय और पवित्र आत्मा शरीर में विद्यमान है, सयमी पुरुषो को, जिनके दोष नष्ट हो चुके हैं, इसके दर्शन होते हैं।

हमारे देश में ब्रह्म-विद्या का अधिकार वर्ण-भेद के साथ भी सम्बद्ध है। सत्यकाम इस विद्या की प्राप्ति के लिए गुरु के पास पहुँचा, तो गुरु ने उससे उसके गोत्र की बाबत पूछा। सत्यकाम ने कहा कि 'मेरी माता मुझे मेरे पिता की बाबत बता नही सकी।' गुरु ने कहा—'जो बालक ऐसा कटु सत्य कह सकता है, वह निश्चय ब्राह्मण की सन्तान है।'

जहाँ तक आम विवेचन का सम्बन्ध है, स्थिति काल की गति के साथ बदलती रही। आरम्भ में दार्शनिक विवेचन क्षत्रियो के अनुराग का विषय था, ब्राह्मण कर्मकाण्ड मे विलीन रहे। छान्दोग्य उपनिषद् (५ ३) में कहा है कि गौतम का पुत्र श्वेतकेतु पचाल देश की सभा में आया। वहाँ राजा प्रवाहण ने उससे पाँच प्रश्न पूछे। वह उनमें से किसी का उत्तर न दे सका और लज्जित होकर अपने घर लौट गया। पिता पुत्र दोनो प्रवाहण के पास पहुँचे। प्रवाहण ने कहा—'पूज्य गौतम ! कहो, क्या सेवा कर सकता हूँ?' गौतम ने कहा—'राजन् ! मुझे धन की आवश्यकता नही। जो प्रश्न तुमने श्वेतकेतु से पूछे थे, उनका उत्तर बता दो।' राजा यह सुनकर दुखी हुआ और बोला—'मैं तुम्हें यह विद्या बताऊँगा, परन्तु तुमसे पहले, पूर्व काल मे, यह विद्या ब्राह्मणो को प्राप्त नही होती थी, समस्त लोको में इस पर

क्षत्रियो का ही अधिकार था।' यही कथा वृहदारण्यक उपनिपद् (६ . २) मे भी आती है। यहाँ प्रवाहण के शब्द ये है—'इससे पहले यह विद्या किसी ब्राह्मण के पास नही रही, यह तो तुम जानते ही हो। मैं तुम्हें वताऊँगा, जिस प्रकार तुम पूछ रहे हो, उसे देखकर कौन वताने से इनकार कर सकता है?'

दूसरी मञ्जिल में ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलकर इन विपयो पर विचार करने लगे। छान्दोग्य उपनिषद् (१ ८) मे दो ब्राह्मणो और एक क्षत्रिय के सवाद का ज़िक्र है।

तीसरी मञ्जिल मे, अन्य विद्याओ की तरह ब्रह्म-विद्या को भी ब्राह्मणो ने अपने अधिकार में ले लिया। कौषीतकी उपनिषद् (अध्याय ४) में कहा है कि एक ब्राह्मण गार्ग्य काशी के राजा अजातशत्रु के पास पहुँचा और उसे ब्रह्म की वावत वताना चाहा। जो कुछ कहना था, वह उसने कहा, परन्तु अजातशत्रु की तसल्ली न हुई, और स्वय गार्ग्य ने भी अनुभव किया कि उसकी स्थिति शिक्षक की नही, अपितु शिष्य की है। उसने शिष्य भाव से अजातशत्रु से ब्रह्म की वावत जानना चाहा। अजातशत्रु ने कहा—'क्षत्रिय का ब्राह्मण को शिक्षा देना अनुचित, अस्वाभाविक है, तो भी जो कुछ मैं जानता हूँ, तुम्हें वताऊँगा।'

अव हम दर्शन के प्रमुख विषयो की वावत उपनिपदो के विचारो को देखेंगे। अध्ययन का क्रम यह होगा—ब्रह्माण्ड विवेचन, ब्रह्म विवेचन, मानव विवेचन।

४ ब्रह्मांड विवेचन

हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ वाहर की ओर खुलती हैं, ये हमें वाहर और अन्दर मे भेद करने पर वाधित करती हैं। हम वाहर से शब्द सुनते हैं, वस्तुओ के रूप को देखते हैं। इन वस्तुओ को इनके गुणो के आधार पर एक दूसरी से अलग करते है। हर ओर क्रिया और इसके फल, परिवर्तन दीखते हैं। पशु भी देखते सुनते है, परन्तु उन्हें इस वोध से कोई आश्चर्य नही होता। आश्चर्य के भाव को विवेचन की माता कहा गया है। मनुष्य विश्व को देखता है और चकित होता है। यह जगत् क्या है? कहाँ से आया? कव और कैसे प्रकट हुआ? ऐसे प्रश्न उसे व्याकुल करते हैं। ऐसे प्रश्नो की वावत सोचना ही दार्शनिक विवेचन है।

उपनिपदो में ब्रह्माड के आरम्भ, उसकी वनावट, उसके समाधान की वावत कई पहलुओ से विचार किया गया है। हम यहाँ निम्न वातो पर कुछ कहेंगे—

(१) जगत् का निमित्त कारण, (२) जगत् का उपादान कारण,
(३) जगत् की वनावट, (४) क्रिया और दृष्ट घटना।

इन्हें इसी क्रम में लेते हैं।

१. जगत् का निमित्त कारण

श्वेताश्वतर उपनिषद् इसी प्रश्न के साथ आरम्भ होती है। पहले श्लोक में प्रश्न को प्रस्तुत किया है, दूसरे मे कुछ समाधानो की ओर सकेत किया है, और तीसरे में अपना मत बयान किया है।

पहले तीन श्लोक यह हैं—

"ब्रह्मवादी कहते हैं—'जगत् का कारण ब्रह्म क्या है? हम कहाँ से पैदा हुए है? किससे जीवित रहते है? किसमें स्थित है? और किसके नियमाधीन सुखो की व्यवस्था में बरतते है?' (१)

'काल, स्वभाव, नियति, योग (इत्तिफाक), भूत या पुरुष यह कारण है? इसकी बावत विचार करना चाहिये। पहले तत्त्व (काल से भूत तक) मिलकर कारण नही हो सकते, क्योकि इनसे आत्मा का समाधान नही होता। स्वय आत्मा भी कारण नही, क्योकि सुख-दुख उसके अधीन नही।' (२)

'ध्यानयोग में लीन होने पर, उन्होने अपने गुणो में छिपी हुई देव की शक्ति को देखा, जो अकेला काल से आत्मा तक कथित कारणो का अधिष्ठान है।' (३)"

प्रश्न में 'कारण ब्रह्म' की बाबत पूछा है। यहाँ ब्रह्म का अर्थ 'मूल', 'मुख्य' है।

विश्व की रचना के जो समाधान दूसरे श्लोक में बयान किये गये हैं, वह विचार के योग्य है।

हम हर ओर प्रकटनो को देखते है। प्रकटन का तत्त्व ही यह है कि यह भूत काल में न था, अब है, और भविष्य में नही रहेगा। काल इन्हें जन्म देता है, और काल ही खा भी जाता है। सारा विश्व भी एक प्रकटन है, और काल से उत्पन्न हुआ है। यह पहला समाधान है। दूसरा समाधान 'स्वभाव' को जगत् का कारण बताता है। स्वभाव किसी ऐसी वस्तु का होता है जिसका अस्तित्व हो। यहाँ तो प्रश्न ही यह है कि अस्तित्व कहाँ से आया। विकास और वर्तमान स्थिति की बाबत हम कह सकते हैं कि जो सामग्री विद्यमान थी, वह अपने स्वभाव के कारण वही कुछ बन सकती थी, जो बनी है। यहाँ प्रश्न उठता है कि किसी वस्तु के स्वभाव को हम कैसे जानते है? यदि उसकी प्रक्रिया को देखकर ही उसके स्वभाव का अनुभव करते हैं, तो यह कोई समाधान नही, केवल शब्दो की आड़ में समस्या की ओर से आँख बन्द करना है।

तीसरा समाधान पदार्थों के अन्दर नही देखता, उनके बाहर देखता है, और नियति (अनिवार्यता) को विश्व का कारण बताता है। किसी बाह्य शक्ति ने विश्व को प्रकट होने पर विवश कर दिया। प्रश्न तो यह है कि वह शक्ति क्या है। इसे अनिवार्यता कह देने से प्रश्न का हल नही हो जाता।

योग या इत्तिफाक को कारण वताने वाले कहते हैं कि कारण-कार्य सम्वन्ध हम देखते हैं, परन्तु हमारा अनुभव सीमित है। वहुतेरी घटनाएँ ऐसी भी होगी, जिनके लिए कोई पर्याप्त कारण नही। जगत् भूतो के सयोग का फल है। इस सयोग को कोई न कोई रूप तो ग्रहण करना ही था। जो रूप इसने ग्रहण किया है, वह भी एक सभावना थी।

प्रकृतिवाद कहता है कि विश्व भूतो से वना है। भूत अन्त में एक प्रकार के परमाणु हैं, या अनेक प्रकार के परमाणु हैं, यह विवाद का विषय है, परन्तु मौलिक सिद्धान्त यह है कि सारा विश्व भूतो का वना है।

उपनिषद्कार कहता है कि यह समाधान अमान्य हैं, क्योकि ये एक या दूसरे रूप में प्रकृति को चेतन आत्मा की जननी वताते हैं, और प्रकृति में यह क्षमता मौजूद नही। उपनिपद् के शब्दो में, 'इन तत्त्वो को मूल कारण मानें तो आत्मा वच रहता है, इसका समाधान नही होता।'

चेतना का अस्तित्व सन्देह का विषय ही नही। यदि अन्य तत्त्व आत्मा का समाधान नही कर सकते, तो आत्मा को ही क्यो समाधान स्वीकार न कर ले? यह अध्यात्मवाद की धारणा है। वाहर-अन्दर का भेद कल्पना मात्र है, वाहर तो कुछ है नही, जो कुछ है, आत्मा की रचना है। इस विचार के विरोध में उपनिपद् कहती है कि पुरुष तो अपने सुख-दुख के निश्चित करने में भी समर्थ नही, विश्व को उत्पन्न कैसे कर सकता है? विश्व का समाधान, कारण-ब्रह्म, एक चेतन शक्ति है, जो सवका अधिष्ठान करने की योग्यता रखती है। ध्यानयोग की सहायता से ब्रह्मवेत्ता इसी नतीजे पर पहुँचे। सारी उपनिपदें विश्व के आस्तिक समाधान का प्रतिपादन करती हैं।

उपनिषद् में कहा है कि ब्रह्मवेत्ताओ ने ध्यानयोग से जगत् के कारण-ब्रह्म को जाना। ब्रह्म दृश्य जगत् का भाग नही, इसलिए यह ज्ञानेन्द्रियो का विपय नही। ईशोपनिपद् में कहा है कि 'सत्य का मुख चमकीले पात्र से ढका हुआ है', और प्रार्थना की है कि परमात्मा इस ढक्कन को हटा दे, ताकि हम सत्य का दर्शन कर सकें। चमकीला पात्र यह दृष्ट जगत् है, हम इसी पर मोहित रहते हैं, और इसके नीचे और इससे परे देख नही सकते। ध्यान हमारी दृष्टि को वाहर से हटाकर अन्दर की ओर फेरता है, और आत्मा और परमात्मा को जानने की योग्यता देता है।

२ जगत् का उपादान कारण

विश्व के आस्तिक समाधान के साथ प्रश्न उठ खडा होता है कि परमात्मा निमित्त कारण तो है, परन्तु जगत् के उपादान कारण के सम्वन्ध में स्थिति क्या है। परमात्मा ने जगत् किस सामग्री से वनाया?

इस प्रश्न में कई उत्तर दिये गये है, इनमें तीन प्रमुख हैं—

(क) परमात्मा ने अभाव से जगत् को उत्पन्न किया। उसने कहा—'हो जा', और सृष्टि हो गयी।

(ख) परमात्मा ने अभाव से जगत् की उत्पत्ति नही की, अपितु अपने कुछ अश को अलग करके इसे बनाया। परमात्मा जगत् का निमित्त कारण ही नही, उपादान कारण भी है। इस विचार को स्पष्ट करने के लिए मकडी का उदाहरण दिया जाता है, मकडी अपने अन्दर से कुछ अश निकाल कर जाला बुनती है, और फिर उसे निगल भी जाती है।

(ग) सृष्टि निरपेक्ष उत्पत्ति नही, निर्माण है। सामग्री विद्यमान थी, उसे परमात्मा ने विशेष आकृति दी, और इस रूप मे वह सामग्री जगत् बन गयी। परमात्मा ने जगत् का आरम्भिक निर्माण ही नही किया, वह इसे धारण भी कर रहा है।

पहला समाधान भारत की विचारधारा के सर्वथा प्रतिकूल है। यहाँ यह स्वीकृत सिद्धान्त है कि अभाव से भाव नही होता। शेष दो समाधानो की बाबत मतभेद है, कुछ लोग उपनिषदो में दूसरा समाधान पढते हैं, कुछ तीसरा।

छान्दोग्य उपनिषद् (६ २) में, आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहता है—

'प्यारे! आरम्भ में सत् ही था, एक ही, अद्वितीय था। कुछ लोग कहते हैं कि पहले असत् ही अकेला, अद्वितीय था, और उस असत् (अभाव) से सत् (भाव) उत्पन्न हुआ।

परन्तु यह कैसे हो सकता है? अभाव से भाव कैसे उत्पन्न हो सकता है? तथ्य यही है कि आरम्भ में सत् ही अकेला, अद्वितीय था।'

मुडक उपनिषद् (१ १) में कहा है कि पराविद्या (तत्त्व-ज्ञान) का विषय 'अक्षर' (अविनाशी, नित्य) है। इस 'अक्षर' की बाबत कहा है—

'वह अक्षर देखा नही जा सकता, पकडा नही जा सकता, उसका रग-रूप नही, वह अजन्मा है, उसके आँख, कान, हाथ, पाँव नही, वह नित्य है और हर कही मौजूद है, अति सूक्ष्म है, निस्सीम है। धीर पुरुष उसे सब भूतो का मूल समझते है।

जिस तरह मकडी जाले को रचती और फिर निगल जाती है, जैसे पृथिवी से ओषधियाँ निकलती है, जैसे जीवित मनुष्य के सिर और शरीर से बाल निकलते है, उसी तरह सारा विश्व अक्षर से निकलता है।'

यहाँ अक्षर के जो लक्षण किये गये हैं, उन्हें ही पीछे साख्य दर्शन ने 'अव्यक्त प्रकृति' के लक्षण बयान किया।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में परमात्मा की वावत ज़िक्र करते हुए स्पष्ट शब्दो में कहा है—'एक वीज वहुधा य करोति।' (जो एक ही वीज मे अनेक रूप वाले जगत् को उत्पन्न करता है।)

३. विश्व की वनावट

जैसा हम देखेंगे, साख्य दर्शन ने सारी सत्ता को पुरुप और प्रकृति के रूप में देखा। प्रकृति का विकास पुरुप की दृष्टि में हुआ। पश्चिम में, नवीन दर्शन के जन्मदाता डेकार्ट ने भी पुरुप और प्रकृति को ही अन्तिम तत्त्व माना। पिछली शताव्दी मे, प्राण-विद्या का उत्थान हुआ, और दार्शनिको के लिए भी प्रश्न पैदा हुआ कि जीवन को कहाँ रखें। विकासवाद ने इसे प्रकृति का एक प्रकटन वताया, वर्गसाँ ने इसे स्वतन्त्र तत्त्व समझा, उपनिपदो में जीवन को स्वतन्त्र पद दिया है।

प्रश्न उपनिपद् में, पहला प्रश्न कात्यायन कवन्धी ने यही पूछा कि 'यह सारी प्रजा किससे उत्पन्न होती है?' पिप्पलाद ने कहा—'प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से तप तपा, और तप तपकर 'रयि' और 'प्राण' का जोडा पैदा किया—इस ख्याल से कि यह दोनो अनेक प्रकार की प्रजा उत्पन्न कर देंगे।' प्राण जीवन-शक्ति है, रयि अजीव सामग्री है। इन दोनो में प्राण प्रधान और अधिक प्रवल है, यह रयि पर शासन करता है। सूर्य प्राण है, चन्द्रमा रयि है, सूर्य ही हम सव के लिए प्रकाश और जीवन का दाता है। दिन प्राण है, रात रयि है। मनुष्यो में जितनी शक्ति किमी में होती है, उतना ही वह प्राण-रूप है, जितनी निर्वलता होती है, उतना ही वह रयि-रूप है।

इसी प्रकार का विचार प्राचीन यूनान में अरस्तू ने प्रकट किया था। उसने मैटर (सामग्री) और फार्म (आकृति) को दो अन्तिम तत्त्व वताया। आकृति सामग्री पर अपनी छाप लगाती है, तभी कोई वस्तु व्यक्तित्व प्राप्त करती है। दृष्ट जगत् में सारा नानात्व और भेद इसी क्रिया का परिणाम है।

सृष्टि मे हम देखते है कि जीवन-शक्ति अजीव प्रकृति (रयि) को सजीव वनाने में लगी है। खेत में कुछ वीज वोये जाते हैं। वे नीचे से निकलते है और वढने लगते हैं। कुछ समय के वाद वहाँ कई वृक्ष झूमने लगते है। यह कहाँ से आ गये? सजीव वीजो ने खेत में से उपयोगी अशो को खीच कर उन्हें भी सजीव वना लिया। समय वीतने पर वृक्ष फिर मिट्टी में मिल जाते हैं, क्योकि, उपनिपद् के शब्दो में, 'मृत्यु भूखी है, और इसकी भूख कभी मिटती नही।' जहाँ तक प्राण और रयि का सम्वन्ध है, यह स्पष्ट ही है कि प्राण शासक है, और रयि शासित है।

वृहदारण्यक उपनिषद् में रयि के लिए 'अन्न' शब्द का प्रयोग किया है, और कहा है कि 'सत्ता में यह दोनो अनिवार्य अश हैं।' अध्याय ५, ब्राह्मण १२ में कहा है—

"कुछ लोग कहते हैं—'अन्न ब्रह्म (मौलिक तत्त्व) है। यह ठीक नही, जीवन न रहे, तो अन्न सडने लगता है। कुछ और प्राण को ब्रह्म बताते हैं। यह भी ठीक नही, क्योकि अन्न के बिना जीवन सूखने लगता है। यह दोनो देव एक बनकर, आपस में मिलकर, परमपद को प्राप्त करते है।"

४ क्रिया और घटना

ससार में हम अनेक क्रियाएँ होती देखते हैं, आप भी कुछ-न-कुछ करते रहते है। जो कुछ जगत् में हो रहा है, उसे हम बाहर से देखते है, जो कुछ हम आप करते हैं, उसे अन्दर से भी देखते हैं। यह अन्दर से देखना केवल कर्त्ता के लिए ही सभव है। मैं लिख रहा हूँ। मेरे हाथ की हरकत दूसरो की तरह मेरे लिए भी एक बाहरी घटना है। यह लेख मेरे सकल्प का साकार रूप है। इस सकल्प का स्पष्ट ज्ञान स्वय मुझे ही हो सकता है। मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से तो मेरा सकल्प ही मेरी क्रिया है, उसके बाद शरीर में जो परिवर्तन होता है, वह न मेरे वश मे है, न मुझे उसका पूरा ज्ञान ही होता है। दर्शन के लिए क्रिया और घटना का भेद महत्त्व का भेद है। उपनिषदों में इस भेद की ओर विशेष ध्यान दिया है। हम कुदरत की शक्तियो की बाबत कहते रहते हैं। उपनिषदो के मतानुसार शक्ति वास्तव में चेतन आत्मा में ही होती है। प्राकृत जगत में जो कुछ होता है, वह सब परमात्मा की दी हुई शक्ति से होता है। बाह्य शक्तियो में अग्नि और वायु प्रसिद्ध हैं, सारी गति प्राय इनसे ही व्यक्त होती है। इन कथित शक्तियो की स्थिति वास्तव में क्या है?

केनोपनिषद् में इसे अलकार के रूप में वर्णन किया है—

'ब्रह्म देवो के लिए विजेता हुआ, ब्रह्म की विजय से देवताओं को गौरव प्राप्त हुआ।

देवताओ ने ख्याल किया कि यह विजय उनकी है, और महिमा भी उनकी ही है।

ब्रह्म ने देवों के अभिप्राय को जाना और उन पर प्रकट हुआ। देवो ने उसे न पहिचाना।

देवो ने अग्नि से कहा कि वह जाकर पता लगाये कि वह यक्ष कौन है। अग्नि यक्ष के पास पहुँचा, और यक्ष के पूछने पर उसे बताया कि वह अग्नि है। यक्ष ने पूछा—'तुम्हारी सामर्थ्य क्या है?' अग्नि ने कहा—'पृथिवी पर जो कुछ है, मैं उस सभी को जला सकता हूँ।'

यक्ष ने एक तिनका उसके सामने रखा और कहा—'इसे जलाओ।' अग्नि सारी सामर्थ्य से उसे जला नही सका, और वापस जाकर देवताओ को वताया। तव देवताओ ने वायु को यक्ष की वावत जानने के लिए भेजा। उसने दावा किया कि जो कुछ भी पृथिवी पर है, वह उसे उडा सकता है। यक्ष ने एक तिनका उसके सामने रखा और उसे उडाने को कहा। वायु तिनके को उडा नही सका और लौट गया।

तव इन्द्र यक्ष की ओर गया परन्तु यक्ष अप्रकट हो गया। उमा ने इन्द्र को वताया कि वह यक्ष ब्रह्म था, और जिस विजय को देवता अपनी विजय समझे थे, वह वास्तव में ब्रह्म की विजय थी।

उमा ब्रह्मविद्या है। अलकार का अर्थ यह है कि ससार में जो भी शक्ति विद्यमान दीखती है, वह वास्तव में ब्रह्म की शक्ति है।

यही ख्याल एक श्लोक में ज़ाहिर किया गया है, जो मुडक (२ २ १०), कठ (५ १५) और श्वेताश्वतर उपनिपदो में अभेद रूप में आता है—

'वहाँ न सूर्य चमकता है, न चन्द्र और तारे चमकते हैं, वहाँ विजली नही चमकती, यह अग्नि कहाँ चमकेगी? उसके प्रकाशित होने पर ही यह सव कुछ प्रकाशित होता है, उसके प्रकाश से ही यह सव कुछ प्रकाशित होता है।'

ब्रह्माड विवेचन के सम्वन्ध में, उपनिषदो में चार वातो पर विशेष वल दिया है—

(१) ब्रह्माड ब्रह्म की रचना है, जड प्रकृति में या अल्प आत्मा में इस रचना की योग्यता नही।

(२) अभाव से भाव की उत्पत्ति नही हो सकती। सृष्टि का वीज अव्यक्त प्रकृति (अक्षर) के रूप में विद्यमान था।

(३) सृष्टि की वनावट में दो भिन्न तत्त्व—प्राण और रयि—विद्यमान हैं। इन दोनो के योग से ही नाम-रूप की दुनिया (विशेष वस्तुओ की दुनिया) वनती है।

(४) क्रिया और निरी घटना में जातिभेद है। क्रिया चेतन कर्त्ता की ही होती है। प्राकृत जगत् में जो कुछ हो रहा है, वह वास्तव में ब्रह्म की शक्ति का ही प्रकाशन है।

५. ब्रह्म विवेचन

उपनिपदो के लिए 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। भारतीय दर्शनो में उत्तरमीमासा का प्रसिद्ध नाम 'वेदान्त दर्शन' है। इस दर्शन का विषय ब्रह्मजिज्ञासा है। उपनिषदो में ब्रह्मजिज्ञासा ही प्रमुख विषय है।

हैं कि वह जहाँ कही भी है, विश्व की ओर अब पूर्णतया उदासीन है। उपनिषदें इन विचारो को अमान्य बताती हैं। ईशोपनिषद् का आरम्भ ही इस बयान से होता है कि 'यह सारा जगत् ईश्वर से आच्छादित है', ईश्वर इसमें हर कही विद्यमान है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (६ . ११) में कहा है—

'वह एक देव सब भूतो में छिपा है, सर्वव्यापी है, और सब भूतो का अन्तरात्मा है, वह सब भूतो का निवास-स्थान है।' सब कुछ उसमें है और वह सब कुछ में है।

पश्चिम में स्पिनोज़ा ने ब्रह्म और ब्रह्माड को एक बताया और कहा कि जो कुछ हो रहा है, ब्रह्म की क्रिया ही है। उपनिषद ब्रह्म को ब्रह्माड तक सीमित नहीं करती। वह ब्रह्माड की प्रत्येक वस्तु का अन्तरात्मा है, परन्तु यह ब्रह्माड तो उसके एक पाद में आता है, उसके तीन पाद ब्रह्माड की सीमाओ से परे है।

(२) जो लोग ब्रह्म और ब्रह्माड को एक बताते है, वह ब्रह्म को चेतन सत्ता नही मानते। ब्रह्माड में चेतना मौजूद है, परन्तु वह चेतन अशो में पायी जाती है, समस्त ब्रह्माड चेतन नही। कुछ अध्यात्मवादी कहते हैं कि सारी सत्ता चेतनो से बनी है, और चेतनो का समूह ही ब्रह्म है। किसी सभा के २० सदस्य हो, तो यद्यपि हम उनके अतिरिक्त सभा का भी ज़िक्र करते हैं, तो भी यह नही समझते कि चेतनो की सख्या २१ है। सभा, सभा की स्थिति में, कोई अलग चेतन नही। इसी तरह, इन अध्यात्म-वादियो के विचारानुसार ब्रह्म भी चेतन नही, वह चेतनो का समुदाय है।

उपनिषदो में ब्रह्म को चेतन आत्मा बताया गया है, वह 'साक्षी है, चेता है।'

मुडक उपनिषद् (३ १ १) में कहा है कि 'एक ही वृक्ष (प्राकृत जगत्) पर दो पक्षी (जीव और परमात्मा) बैठे है, उनमें से एक वृक्ष के फल खाता है (भोग भोगता है), दूसरा खाता नही, केवल देखता है।' ब्रह्म को कर्मो का 'अध्यक्ष' भी कहा है। उपनिषदों में ब्रह्म की उपासना पर भी बल दिया है, वह चेतन न हो, तो उपास्य क्या होगा ? 'वह नित्यो में नित्य और चेतनो में चेतन है।'

(३) ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध भी विवाद का विषय है। कुछ लोग उपनिषदो मे एकवाद को देखते हैं, कुछ अनेकवाद को। इस अनिश्चितता का बडा कारण 'आत्मा' का प्रयोग है। कही यह जीवात्मा के लिए प्रयुक्त होता है, कही परमात्मा के लिए। अनेक स्थलो में आता है कि आत्मा 'हृदय की गुहा' में छिपा है, उसे वहाँ देखना चाहिए। देखने वाला आत्मा भी वहाँ है, और जिसे देखना है, वह भी वहाँ है। ब्रह्म तो वहाँ है ही, सुषुप्ति में, बाह्य जगत् से असम्बद्ध होकर, जीव भी वही स्थित होता है।

प्रकरण के देखने पर ही हम निश्चय कर सकते हैं कि आत्मा को जीवात्मा के अर्थ में लिया है, या परमात्मा के अर्थ में।

'तत्त्वमसि'

एकवाद की पुष्टि में जो उद्धरण दिये जाते हैं, उनमें सबसे विख्यात आरुणि का वह उपदेश है, जो उसने अपने पुत्र श्वेतकेतु को दिया। आरुणि ने कहा—

'सारी प्रजाएँ (जो कुछ दृष्ट जगत् में है) सत् पर आश्रित हैं और सत् में प्रतिष्ठित हैं। प्रथम सत् में तेज उत्पन्न हुआ, तेज से जल और जल से अन्न उत्पन्न हुआ।'

'मनुष्य में, मन अन्नमय है, प्राण जलमय है, और वाणी तेजोमय है।' यहाँ सत् को अव्यक्त प्रकृति के अर्थ मे लेने से कोई आपत्ति नही होती। अव्यक्त प्रकृति अपने विकास में पहले तेज (जलती गैस) के रूप में व्यक्त हुई, इसके बाद एकाग्रता के फलस्वरूप इसने तरल रूप ग्रहण किया, अन्त में यह ठोस बनी। सृष्टि-विकास के सम्बन्ध में नवीन विज्ञान का मत इससे बहुत भिन्न नही। मनुष्य की बनावट में, आरुणि के अनुसार, 'अन्न, जल और तेज तीन भागो में व्यक्त होते हैं। खाये हुए अन्न का स्थूल भाग मल बनता है, मध्यम भाग मास बनता है, सूक्ष्म भाग मन बनता है। इसी तरह जल के तीन भाग मूत्र, रक्त और प्राण बनते हैं, और तेज के भाग हड्डी, मज्जा और वाणी बनते हैं।'

'सारी नदियाँ हर ओर से समुद्र में जा मिलती हैं, वह समुद्र ही बन जाती है, और वहाँ उन्हें अपने पृथक्त्व का बोध नही रहता। इसी तरह सारी प्रजाएँ सत् से निकलती हैं, परन्तु नही जानती कि वे वहाँ से निकली हैं। वे शेर, चीता, कीट, पतग आदि जन्मो मे टिकी रहती हैं। जो अणु इस सबकी आत्मा है, वह सत् है, श्वेतकेतु! तू वह आत्मा है।

जब जीवन वृक्ष की किसी शाखा को त्याग देता है, तो वह सूख जाती है। जब समस्त वृक्ष को त्याग देता है, तो समस्त वृक्ष सूख जाता है। जीव के छोडने पर शरीर मर जाता है, जीव नही मर जाता। वह अणु जो शरीर में आत्मा है, सत् है, सर्वात्मा है। श्वेतकेतु! तू वह है।

वह जो यह अणु है, वह आत्मा है, यही वह सत् है। श्वेतकेतु! तू वह है।'

जल में नमक डालें तो वह उसमें घुल जाता है। जल को कही से लें तो पीने पर उसका स्वाद नमकीन होगा। नमक अब अलग दिखाई नही देता, परन्तु जल में हर जगह विद्यमान है। इसी तरह आत्मा सभी भूतो में रमा हुआ है, यद्यपि दिखाई नही देता।

इस विवरण में निम्न वातें कही गयी हैं—

(१) सारा जगत् एक ही सत् का प्रकाशन है।

(२) जगत् के जड भाग को तो कुछ बोध है ही नही, पशु, कीट, पतग आदि को बाह्य पदार्थों का वोध है, परन्तु इस बोध का वोध नही। वे अन्तर्ध्यान नही हो सकते, आत्म-ज्ञान की सभावना मनुष्य के लिए ही है।

(३) अन्तिम सत्ता को चेतन आत्मा के रूप में देखना चाहिये। सारी प्रज्ञाएँ चेतन आत्मा से उत्पन्न होती है, उसे हृदय-आकाश में ढूँढना चाहिये। अन्य शब्दो में, परमात्मा का जो धुँधला ज्ञान हमारे लिए सभव है, वह आत्मज्ञान पर आधारित होता है। ब्रह्म और जीव दोनो आत्मा हैं, सख्या के लिए वे पृथक् हैं, जाति के दृष्टि-कोण से देखें, तो दोनो एक हैं।

(४) आरुणि ने श्वेतकेतु से वार-बार यही कहा कि वह (श्वेतकेतु) अपने मौलिक स्वरूप में आत्मा है, वही सत् है, जो दृष्ट जगत् का मूल है। उसका शरीर अन्य वस्तुओ की तरह तेज, जल और अन्न से बना है, उसका मन, प्राण और वाणी भी इन्ही तीनो के सूक्ष्म तत्त्वो से बने हैं, परन्तु श्वेतकेतु आप तो इन सब से अलग, इनसे ऊपर है वह आत्मा है, उसकी जाति वही है, जो जगत् के अन्तरात्मा ब्रह्म की है।

आरुणि ने श्वेतकेतु को इस बात की याद नही दिलायी, परन्तु हम तो जानते हैं कि इस सवाद में एक कहने वाला था, और दूसरा सुनता था, एक अपने विचार को दूसरे पर प्रकट कर रहा था। इस प्रक्रिया में इन दोनो का अस्तित्व तो मानना ही पडता है। हम जो इस सवाद को पढते है, यह फर्ज़ नही कर सकते कि हमारा अस्तित्व नही, ऐसा फर्ज़ करना ही हमारे अस्तित्व को सिद्ध कर देता है।

आरुणि ने श्वेतकेतु से कहा—'तत्त्वमसि'—'वह तू है।'

इसका अभिप्राय यही हो सकता है—'तू भी वही (आत्मा) है।'

कुछ अन्य उपनिषदो में ब्रह्म और जीव के भेद को स्पष्ट शब्दो में बयान किया है। कठ उपनिषद् में कहा है—

'वह जो एक सब भूतो का अन्तरात्मा और सब को वश में रखनेवाला है, वह जो एक वस्तु को अनेक वना देता है, जो धीर पुरुष उसे अपने अन्दर देखते है, उन्हें ही अविनाशी सुख प्राप्त होता है, दूसरो को नही।'

'जो नित्यो में नित्य है, चेतनो में चेतन है, जो एक बहुतो की कामनाओ को पूरा करता है, उसे अपने आत्मा में देखने वाले धीर जनो को स्थायी शान्ति मिलती है, दूसरो को नही मिलती।' (कठ—५ १२-१३)

यह दोनो श्लोक श्वेताश्वतर उपनिषद् (६ १२-१३) में भी मिलते है। यहाँ तो ब्रह्म और जीव के भिन्न होने में कोई सन्देह ही नही हो सकता।

६ मानव विवेचन

वाह्य जगत् में हम घटनाओ को देखते हैं। जव दृष्टि अन्दर की ओर फेरते हैं, तो वहाँ भी एक प्रवाह देखते है, परन्तु इस प्रवाह के सवन्ध में हमारी स्थिति केवल द्रष्टा की नही होती। ऐसा प्रतीत होता है कि हम इस प्रवाह को वदल भी सकते हैं। यहाँ हमें स्वाधीनता का स्पष्ट वोध होता है। यह वोध अपने साथ उत्तरदायित्व का ख्याल भी ले आता है। यदि हम क्रिया करने में स्वाधीन हैं, तो प्रश्न उठता है कि हमें क्या करना चाहिये, और क्या नही करना चाहिये।

मनुष्य के अध्ययन में हम मनोवैज्ञानिक और नैतिक दो दृष्टिकोणो को अपना सकते हैं। हम पूछ सकते है कि—

मनुष्य का स्वरूप क्या है?

मनुष्य का कर्त्तव्य क्या है?

वहुत दिनो तक मनोविज्ञान तत्त्व-ज्ञान का भाग समझा जाता रहा, अब यह विज्ञान की शाखा वन रहा है। पहले आत्मा का स्वरूप विचार का विपय था, अव अनुभव का विश्लेपण इसका लक्ष्य है। उपनिपदो में दोनो पहलुओ से प्रश्न पर विचार हुआ है। हम यहाँ पहले मनोवैज्ञानिक अध्ययन को लेंगे, और फिर नीति की ओर ध्यान देंगे।

१. चेतना के विविध रूप

हमारी चेतना धारा के रूप में निरन्तर वहती रहती है। यह सदा आगे जाती है, कभी पीछे नही लौटती, अन्य शव्दो में जो कुछ हो चुका है, वह सदा के लिए हो चुका है। कोई अवस्था किसी वीती हुई अवस्था की पूरी नकल नही होती। कोई और भेद न हो तो भी इतना भेद तो होता ही है कि इनमें एक वर्तमान अनुभव है और दूसरी किसी वीते हुए अनुभव की स्मृति। वर्तमान में हम वाहरी पदार्थों के सम्पर्क में आते है, स्मृति में वह सम्पर्क विद्यमान नही होता। पहले प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है, दूसरे प्रकार के ज्ञान में उपलव्धो के चित्र या विम्व हमारे समुख आते हैं। जागरण में यह दोनो वोध मिले-जुले होते हैं. हम पदार्थों को देखते है, उन्हें छूते हैं, उनके शव्द को सुनते हैं, और इसके साथ ही अनेक अनुभवो को स्मरण भी करते रहते हैं। चित्र की अपेक्षा प्रत्यक्ष का प्रभाव अधिक तीव्र होता है। हमारे जीवन का अच्छा भाग निद्रा में गुजरता है। निद्राकाल में हम स्वप्न भी देखते हैं।

स्वप्न अवस्था मे बाह्य वस्तुओ से सम्पर्क तो टूट जाता है परन्तु चित्र विद्यमान रहते हैं। प्रत्यक्षीकरण के अभाव में, चित्रो को तीव्रतम रूप में प्रकट होने का अवसर मिलता है, हम चित्र और प्रत्यक्ष में भेद नही कर सकते, और स्वप्न-काल में चित्रो को प्रत्यक्ष ज्ञान ही स्वीकार करते हैं।

उपनिषदो में स्वप्न पर अनेक स्थानो में विचार हुआ है। इस सबध में निम्न प्रश्न विशेष ध्यान के योग्य हैं—

(१) निद्रा में कोई अश जागते भी रहते है, या सभी अश सो जाते है ?

(२) स्वप्न में मन की क्रिया कैसी होती है ?

(३) क्या जागरण और स्वप्न में ही हमारा सारा जीवन गुज़रता है, या इनके अतिरिक्त कोई अन्य अवस्था भी है ?

इन प्रश्नो को इसी क्रम में लें।

(१) कौन सोता है, कौन जागता है ?

प्रश्न उपनिषद् में गार्ग्य ने पिप्पलाद से पूछा—

'भगवन् ! इस पुरुष में कौन देव सो जाते हैं, कौन जागते हैं ?

कौन देव स्वप्नो को देखता है ? किसे सुख अनुभव होता है ? और किसमें ये सब प्रतिष्ठित हैं ?' (४ १)

पिप्पलाद ने उत्तर दिया—

'गार्ग्य ! जिस प्रकार सूर्य के अस्त होने पर सारी किरणें सूर्य में एकत्र हो जाती हैं, और उसके उदय होने पर फैल जाती हैं, उसी तरह (निद्रा में) सारी इन्द्रियाँ परमदेव मन में एकत्र हो जाती हैं। ऐसा होने पर आत्मा देखता, सुनता, सूंघता, चखता, छूता नही, न कर्मेंद्रियो का प्रयोग करता है।'

'प्राण अग्नियाँ इस पुर (शरीर) में जागती रहती हैं।'

'स्वप्न अवस्था मे यह देव अपनी महिमा को अनुभव करता है, जो कुछ देखा है, उसे फिर देखता है, जो सुना है, उसे फिर सुनता है, जो कुछ देशो और दिशाओं में अनुभव किया है,उसे फिर अनुभव करता है। दृष्ट के साथ अदृष्ट को भी देखता है, सुने हुए के अतिरिक्त जो नही सुना, उसे भी सुनता है, अनुभूत के साथ उसे भी अनुभव करता है, जिसका पहले अनुभव नही हुआ। सत् को देखता है, और असत् को भी देखता है।'

'जब मन प्रकाश से दब जाता है, तो स्वप्न नही देखता, उस समय इस शरीर मे यह सुख अनुभव होता है।'

'जिस प्रकार पक्षी घूमघाम कर वृक्ष पर आ पहुँचते हैं, उसी प्रकार वह सब उत्कृष्ट आत्मा में स्थित हो जाते है।'

मनुष्य जीवित प्राणी है। जब तक जीवन कायम रहता है, कुछ प्रक्रियाएँ निरन्तर होती रहती हैं। 'प्राण कभी नही सोते।' जागरण में इन्द्रियाँ बाह्य जगत् से हमारा सम्पर्क बनाये रखती हैं। इन्द्रियाँ मन के सयोग में ही काम करती हैं, परन्तु मन उनके सयोग के बिना भी काम कर सकता है। निद्रा में इन्द्रियाँ सो जाती हैं, मन नही सोता। प्रत्यक्षीकरण तो नही होता, परन्तु पिछले अनुभवो के चित्र स्वप्न में प्रस्तुत हो जाते हैं। स्वप्न में कभी स्मृति काम करती है, कभी रचनात्मक कल्पना काम करती है। मन सत् को भी देखता है, और असत् को भी देखता है।

एक प्रश्न पूछा जाता है कि स्वप्न में मन देखता है, या कुछ करता है। पिप्पलाद ने जिन शब्दो का प्रयोग किया है, उनका आशय यही प्रतीत होता है कि स्वप्न में क्रिया नही, अपितु ज्ञान प्रधान है। कुछ नवीन मनोवैज्ञानिको का भी यही मत है। जब मैं स्वप्न में सोने का पहाड या दूध की नदी देखता हूँ, तो मैं कुछ बनाता नही, केवल सभावनाओं की दुनिया में ऐसी वस्तुओ को देखता हूँ जिन्हें कुदरत ने वास्तविकता की दुनिया में प्रस्तुत नही किया।

स्वप्न में अविद्या का बडा अश होता है, हमारा बोध बहुधा अयथार्थ ज्ञान होता है। अनुभूति में सुख के साथ दुख भी मिला होता है। चेतना की तीसरी अवस्था में, जिसे सुषुप्ति कहते हैं, अज्ञान और दु ख दोनो का अभाव हो जाता है। पिप्पलाद के शब्दों में, मन प्रकाश में दब जाता है, अधेरा पूर्ण रूप में दूर हो जाता है, और अनुभूति सुख-रूप ही होती है। जो तनिक सबन्ध बाह्य पदार्थों के साथ चित्रो के रूप में था, वह भी कायम नही रहता, मन पक्षियो की तरह अपने निवास-स्थान में जा पहुँचता है, यह आत्मा में स्थित हो जाता है।

पश्चिम में सुषुप्ति को चेतना का अलग रूप नही माना है। ऐसी अवस्था होती भी है, या नही ?

कुछ लोग स्वप्न-रहित निद्रा के बाद कहते हैं—'खूब आनन्द से सोये।' उनके शब्दो से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें उस आनन्द की अवस्था का स्मरण है। परन्तु यह ठीक मालूम नही होता, वास्तव में वे इतना ही कहते है कि उन्हें उस समय की बाबत कुछ याद नही। इस प्रश्न का दार्शनिक पहलू भी है। चेतना मन या आत्मा का चिह्न है। जैसे कोई प्राकृतिक पदार्थ विस्तार-विहीन नही हो सकता, उसी तरह कोई मन चेतना-विहीन नहीं हो सकता। इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए कुछ विचारक कहते है कि हमारा सारा समय जागरण और स्वप्न में गुजरता है। निद्रा में हम निरन्तर स्वप्न देखते हैं, परन्तु यह स्वप्न अति अस्थिर होते हैं, और इनका अन्तिम भाग ही याद रहता है। उपनिषद का मत यह है कि स्वप्न-विहीन अवस्था

में मन की चेतना कायम रहती है, हाँ, वह चेतना बाह्य पदार्थों से असबद्ध होती है। सुषुप्ति के अस्तित्व का प्रश्न मनोविज्ञान से हल नही होता, दार्शनिक विवेचन इसकी बाबत कुछ बता सकता है। यहाँ तीन सभावनाएँ विचारणीय हैं—

(१) निद्रा में कुछ भाग ऐसा होता है जिसमे चेतना विद्यमान नही होती। यदि यह सत्य है तो इस अवस्था में मन का क्या बनता है? जो अनुभववादी मन को चेतना-अवस्थाओ की पक्ति ही समझते हैं, उनके लिए उस काल में मन का अभाव हो जाता है। पश्चिम में डेविड ह्यूम ने कहा कि यदि निद्रा में कोई स्वप्न-विहीन भाग है तो उसमें मन का अस्तित्व कायम नही रहता।

(२) निद्रा मे स्वप्न-अवस्था सदा बनी रहती है।

यह विचार मन को बचा लेता है, परन्तु यह सामान्य विश्वास के प्रतिकूल है।

यह जार्ज बर्कले का मत था।

(३) हमारा जीवन जागरण और स्वप्न में ही नही गुजरता, इनके अतिरिक्त एक तीसरी अवस्था (सुषुप्ति) भी है, जिसमे चेतना बनी रहती है, परन्तु बाह्य पदार्थों से किसी प्रकार का सबन्ध नही रहता।

इस विचार के अनुसार मन बच रहता है, और स्वप्न-रहित निद्रा की बाबत आम विश्वास को भी ठोकर नही लगती।

यह पिप्पलाद का मत है।

अन्य उपनिषदो में भी इस विषय पर विचार हुआ है। माडूक्य उपनिषद् में जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति का वर्णन करके कहा है—

'चौथी अवस्था की बाबत मानते है कि इसमें न आन्तरिक अवस्थाओ का ज्ञान होता है, न बाह्य वस्तुओ का, यह अवस्था सुषुप्ति की ज्ञानमय अवस्था भी नही। यह अलक्ष्य, अचिन्त्य, अद्वैत रूप है।'

तीनो अवस्थाओ के सबन्ध में एक और प्रश्न उनके काल-क्रम की बाबत उठता है। हम जागरण से स्वप्न में गिरते हैं, और वहाँ से सुषुप्ति में पहुँचते हैं, या सुषुप्ति दूसरी और स्वप्न तीसरी अवस्था है? और जब जागते है तो स्वप्न अवस्था की समाप्ति होती है, या सुषुप्ति की? प्रत्येक अपनी हालत को देख सकता है। उपनिषदों के अनुसार जागरित से गति स्वप्न में होती है, और स्वप्न से सुषुप्ति में। जिस मार्ग से मन बाहर जाता है, वही लौटने का मार्ग भी है।

२. आत्मा का स्वरूप

दार्शनिक विवेचन के तीन प्रमुख विषय है—प्रकृति, जीव और ब्रह्म। कुछ विचारको को यह सूची लबी मालूम होती है और वे इसे सक्षिप्त करना चाहते हैं।

इस यत्न में वे जीव को प्रकृति या ब्रह्म के एक प्रकटन के रूप में देखते हैं। प्रकृतिवाद के अनुसार प्रकृति के विकास में चेतना भी प्रकट हो जाती है, जीव चेतना के अतिरिक्त कुछ नही। उपनिषदो का मत इसके प्रतिकूल है—उनके अनुसार प्रकृति अपने विकास में चेतना को पैदा नही कर सकती, और चेतना चेतन द्रव्य का लक्षण ही होती है।

जैसा हम देख चुके हैं, श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार, काल, स्वभाव और भूत आदि प्राकृत जगत् का भले ही समाधान हो सकें, ये आत्मा का समाधान नही हो सकते—यह शेष रह जाता है। प्रकृति में जो कुछ भी होता है, वह इसके किसी अश का स्थान-परिवर्तन है। स्थान-परिवर्तन और चेतना में तनिक भी समानता नही, इनका भेद भेद की पराकाष्ठा है। जैसा एक लेखक ने कहा है, यदि कुछ वैज्ञानिक अपने यन्त्रो के साथ मेरे मेदे में घुस जायें, तो वे वहाँ अनेक प्रकार की गति को देखेंगे, परन्तु मेरी भूख-प्यास को देख नही सकेंगे।

क्या जीव ब्रह्म का प्रकटन है? जैसा हम देख चुके है, इसकी वावत मतभेद है। उपनिषदो का उद्देश्य मनुष्यो के जीवन को उन्नत करना है। यदि मनुष्य का कोई अस्तित्व ही नही, तो उन्नति और उन्नति के यत्न का जिक्र करना अर्थहीन है। उपनिषदो में व्यापक भावना यही है कि दुख और पाप की पर्याप्त मात्रा विद्यमान है, और इनसे छूटने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता है। ब्रह्म में तो कोई त्रुटि हो ही नही सकती, त्रुटि जीव में है।

आत्मा के स्वरूप के विषय में छान्दोग्य उपनिषद् (प्रपाठक ८ : खड ७-१२) में कहा है—

प्रजापति ने कहा—'आत्मा पाप रहित है, अजर है, अमर है, शोक, भूख-प्यास से विमुख है, सत्यकाम और सत्यसकल्प है। उस आत्मा की खोज करनी चाहिये।'

प्रजापति की सन्तान देवों और असुरो ने यह सुना और आत्मा की वावत जानने के लिए देवो में इन्द्र और असुरो में विरोचन प्रजापति के पास पहुँचे, और प्रजापति से आत्मा की वावत पूछा। प्रजापति ने कहा—'जो आँख की पुतली में दीखता है, जो शीशे और शान्त जल में दीखता है, वह आत्मा है।'

प्रजापति के कहने पर उन्होने पानी में देखा और उन्हें अपना चित्र दिखाई दिया। फिर उसके कहने पर, अच्छे वस्त्रो में और अलकृत होकर जल में देखा। उन्होने प्रजापति से कहा—'जैसा हमारा शरीर होता है, उसी का प्रतिविम्ब हमें जल में दीखता है।' प्रजापति ने कहा—'यही आत्मा है।'

यह सुनकर इन्द्र और विरोचन चले गये। विरोचन तो चला ही गया, इन्द्र रास्ते से ही लौट आया, और प्रजापति से कहा—'भगवन्! जल में जो दिखाई देता है, वह तो शरीर की अवस्था के साथ वदलता जाता है, शरीर पर अच्छे वस्त्र और भूपण हो तो प्रतिविम्व में भी वही दीखते हैं, शरीर मे कोई दोष हो तो प्रतिविम्व में भी वही दोप दीखता है, शरीर के विनष्ट होने पर वह भी विनष्ट हो जाता है। यह समाधान तो सतोपजनक नही।'

कुछ तपस्या करा कर, प्रजापति ने इन्द्र से कहा—

'यह जो स्वप्न में महीयमान, पूज्यमान होकर विचरता है, आत्मा है, यह अमर और अभय है, यह ब्रह्म है।'

इन्द्र यह सुनकर चला गया, और फिर रास्ते से ही लौट आया। उसे ख्याल आया कि स्वप्न में शरीर का अनुरूप नही दीखता, तो भी सुख के साथ दुख का भास होता तो है। उसने अपनी कठिनाई प्रजापति के सम्मुख रखी।

प्रजापति ने उसे और तपस्या करने को कहा। इसके पश्चात् उससे कहा—

'जिस अवस्था में पहुँचकर सुप्त पुरुष स्वप्न नही देखता, अपने स्वरूप में ही स्थित होता है, अपने आप में मग्न होता है, वह आत्मा है। यह अमर है, यह अभय है, यह ब्रह्म है।'

इन्द्र यह सुनकर चला गया, परन्तु फिर रास्ते से ही लौट आया। उसने प्रजापति से कहा—

'आत्मा को, जैसा आपने इसे वताया है, यह ज्ञान भी नही होता कि मैं यह हूँ, उसे ज्ञान-विपयों का वोध भी नही होता। प्रतीत तो ऐसा होता है कि इस काल के लिए आत्मा का अभाव ही हो जाता है। मुझे यह समाधान सतुष्ट नही करता।'

प्रजापति ने उससे थोडी देर और तपस्या कराने के वाद कहा—

'इन्द्र! यह शरीर मरणधर्मा है, मृत्यु के वश में है। इस पर भी यह अविनाशी, अशरीर आत्मा का निवासस्थान है। शरीर में रहते हुए, आत्मा प्रिय और अप्रिय पदार्थों से वँधा होता है, जव तक शरीर से सवन्ध वना है, प्रिय और अप्रिय से छुटकारा नही होता। जव शरीर से सवन्ध समाप्त हो जाता है, तो प्रिय-अप्रिय का स्पर्श भी नही रहता।'

प्रजापति के उपदेश का सार यह है—

असुरो के लिए आत्मा व्यक्ति का दृष्ट भाग (शरीर) ही है। वहुतेरे लोग जव 'मैं' का प्रयोग करते हैं, तो उनका ध्यान शरीर से परे नही जाता। उनके लिए आत्मा शरीर ही है।

परन्तु आत्मा शरीर से अलग है। इसकी स्वाधीनता की धुंधली-सी झलक स्वप्न में दिखाई देती है। इन्द्रियो के प्रयोग के विना भी मानसिक क्रिया जारी रहती है। सुपुप्ति में प्रकृति का प्रभाव समाप्त ही हो जाता है। शरीर आत्मा का निवास-स्थान है।

छान्दोग्य उपनिपद् (३ १७-६) में ही एक और महत्त्वपूर्ण वयान आत्मा के स्वरूप की वावत मिलता है।

"अगिरस के पुत्र घोर ने देवकी के पुत्र कृष्ण से कहा—

"जव किसी मनुष्य का मृत्युकाल निकट हो, तो वह अपने आत्मा को सवोवित करके कहे—'तू अखड है, तू अविनाशी है, तू जीवन का सार है।"

यह घोर कौन था? और देवकी पुत्र कृष्ण कौन था?

जगत् विख्यात देवकी पुत्र कृष्ण ने भी भगवद्गीता में विशेप वल इसी वात पर दिया कि आत्मा अखड और अविनाशी है।

यहाँ उपनिपदों के दृष्टिकोण और गौतम वुद्ध के दृष्टिकोण का भेद स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। वुद्ध कहते थे कि सत्ता में स्थिरता का अश नही, और आत्मा भी कोई नित्य द्रव्य नही। उपनिपदो के अनुसार आत्मा अजर और अमर है।

वृहदारण्यक उपनिपद् (४ ३) में जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा—'आत्मा कौन है?' याज्ञवल्क्य ने कहा—

'वह जो प्राणो में ज्ञानमय है, हृदय में अन्तर्ज्योति पुरुप है। वह एक है, पर दोनो लोको में घूमता है, वह चिन्तन करता है, इच्छा करता है, स्वप्नरूप होकर इस लोक को लाघ जाता है, और मृत्यु लोको को अतिक्रमण कर जाता है।'

३. नीति

नीति-विवेचन और नैतिक शिक्षा में भेद है। माता-पिता और पीछे शिक्षक वच्चे से कहते हैं—'यह करो', 'वह न करो।' समय गुजरने पर वह जानना चाहता है कि इन विधि निपेधो का आधार क्या है। क्यो सत्य वोलने का आदेश दिया जाता है, और झूठ वोलने से रोका जाता है? क्यो माता-पिता का मान करना अच्छा और अपमान करना वुरा है? इस प्रकार की खोज नीति-विवेचन का विपय है।

उपनिपदो में नैतिक उपदेशो की अधिकता है, परन्तु नीति-विवेचन की उपेक्षा नही हुई। नीति के मूल सिद्धान्तो के सवन्ध में भी निश्चित विचार मिलते हैं। ऐसे विचारो की नीव पर ही साकार नैतिक जीवन के नियमो को समझ सकते हैं।

पश्चिम में नीति-विवेचन सुकरात के समय में साफिस्ट विचारको ने आरभ किया। साफिस्ट सिद्धान्त में मूल सूत्र यह था—'मनुष्य सभी वस्तुओं का मापक है।' कौन मनुष्य? प्रत्येक मनुष्य। नीति में इस सूत्र का अर्थ यह है कि जो कुछ मुझे प्रिय है, वह मेरे लिए अच्छा है, जो मेरे साथी को प्रिय है, वह उसके लिए अच्छा है। सुकरात का सारा यत्न इस विचार का विरोध करने के लिए था। उसने कहा कि जो भद्र या अभद्र है, वह सव के लिए भद्र या अभद्र है। नैतिक नियम सामान्य नियम हैं, इस या उस व्यक्ति की पसन्द पर आधारित नही। सुकरात के समय से आजतक व्यक्ति की पसन्द और सामान्य नियम के दरमियान विवाद चला आया है। जो लोग भोग या सुख को उद्देश्य स्वीकार नही करते, उन्हें सोचना होता है कि यह उद्देश्य क्या है। इस उद्देश्य को 'श्रेय' कहते हैं।

कठ उपनिषद की पहली वल्ली एक तरह से विचार-विषय का वर्णन है। दूसरी वल्ली इन शब्दों के साथ आरभ होती है—

'श्रेय एक वस्तु है, प्रेय उससे भिन्न दूसरी वस्तु है। यह दोनो भिन्न-भिन्न उद्देश्यो को रखते हुए मनुष्य को वांधते हैं। इन दोनों में जो श्रेय को चुन लेता है, उसका कल्याण होता है, जो प्रेय को चुनता है, वह उद्देश्य से गिर जाता है।'

यहाँ स्पष्ट शब्दो में प्रेयवाद या भोगवाद को त्याज्य कहा है, और श्रेयवाद की प्रशसा की है।

जो पुरुष प्रेय के पीछे भागता है, वह अपने आपको विशेष महत्त्व देता है, और दूसरों को एकाई नही, अपितु एकाई के अल्पाश समझता है। यही नहीं, वह अपनी हालत में भी वर्तमान को जो महत्त्व देता है, वह जीवन के अन्य भागो को नही देता। नवीन काल में, जान स्टुअर्ट मिल ने यत्न किया कि भोगवाद को इन दोनो त्रुटियो से विमुक्त करे, परन्तु वह अपने यत्न में सफल नही हुआ। यदि हम भाव को जीवन का नियन्ता बनाये तो हमें मनुष्यों मे अपने सुख का और जीवन में वर्तमान क्षण का ध्यान रखना होता है। यदि जीवन का नेतृत्व बुद्धि के हाथ में हो, तभी हम जीवन के सभी भागो और समाज के सभी सदस्यो को एक स्तर पर रख सकते हैं।

श्रेय और प्रेय में भेद करना, और दोनों में श्रेय को उत्कृष्ट ठहराना, नैतिक दृष्टिकोण से बहुत महत्त्व रखता है।

भोगवादी की दृष्टि अनिवार्य रूप में सकुचित होती है, श्रेयवादी विस्तृत दृष्टि से देखता है। नैतिक दृष्टिकोण से मानव जाति की उन्नति का एक बडा चिह्न यह है कि मनुष्य सकुचित दृष्टिकोण को त्यागता जाता है। प्रत्येक अपनी क्रिया में, स्वार्थ

को पीछे रखता है, पदार्थ को आगे रखता है। जीवन ऐसी स्थिति में यज्ञरूप हो जाता है।

उपनिषदो में इस रहस्य को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् (१ : २) में कहा है—

'प्रजापति की सन्तान देवो और असुरो में झगडा हो पडा। देवो ने उद्गीथ इकट्ठा किया, इस ख्याल से कि उसकी सहायता से वे असुरो को पराजित कर लेंगे।

पहले नासिका ने उनके लिए उद्गीथ गाया। असुरो ने नासिका को पाप से बीध दिया, इसलिए नासिका से मनुष्य सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों को सूँघता है।

तब देवो ने वाणी से उद्गीथ-उपासना की। असुरो ने वाणी को पाप से बीध दिया, इसलिए वाणी से मनुष्य सत्य और असत्य दोनो बोलता है।

तब देवो ने आँख से उद्गीथ-उपासना की। असुरो ने आँख को पाप से बीध दिया, इसलिए आँख से मनुष्य अच्छे और बुरे दोनो प्रकार के दृश्य देखता है।

तब श्रोत्र से उद्गीथ-उपासना हुई। असुरो ने उसे पाप से बीध दिया; इसलिए मनुष्य उचित और अनुचित दोनो प्रकार के शब्द सुनता है।

तब देवों ने मन से उपासना की। असुरो ने मन को पाप से बीध दिया, इसलिए मनुष्य विचारने के योग्य और विचारने के अयोग्य विषयो की बावत सोचता है।

अन्त में देवो ने मुख्य-प्राण (जीवन-प्रक्रिया) से उद्गीथ-उपासना की। असुरों ने उस पर आक्रमण किया, परन्तु जैसे पत्थर से टकरा कर मिट्टी का ढेला चूर हो जाता है, वैसे ही असुर टूट गये।'

प्रजापति आत्मा है, देव और असुर मनुष्य की उत्कृष्ट और निकृष्ट वृत्तियाँ है। इनमें सग्राम होता ही रहता है। यह सग्राम ही व्यक्तियो और समूहो का इतिहास बनाता है। उद्गीथ गायन वेद मन्त्रो द्वारा उपासना करना है। हम कर्मों के करने में अपनी शक्तियो का प्रयोग करते हैं, परन्तु यह प्रयोग अच्छा भी होता है, और बुरा भी होता है। वाणी भाषा का आधार है, और भाषा का प्रयोग मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाने में प्रमुख साधन है। सामाजिक जीवन में आवश्यक है कि हम एक दूसरे को समझें। परन्तु स्वार्थवश वाणी कभी-कभी विचारो को प्रकट नही करती, उलटा उन्हें छिपाती है, हम सत्य नही, असत्य बोलते हैं। आँख और कान हमारी दो सौंदर्य-इन्द्रियाँ हैं, कला में चित्रकारी और सगीत का विशेष महत्त्व है। परन्तु कितने लोगो की हालत में आँख और कान उन्हें पतन के गढे में गिरा देते हैं? सिनेमा के दृश्य और राग ही उनकी आँखो के सामने फिरते और कानो में गूँजते रहते हैं। यही हाल मन का है। एक दार्शनिक ने कहा है—'पृथिवी पर कोई वस्तु इतनी

महान् नही, जितना मनुष्य है, और मनुष्य में कोई अश इतना महान् नही, जितना उसका मन है।' यह ठीक है, परन्तु मन की क्रिया भी सदा कल्याणकारी नही होती। केवल एक अश, मुख्य प्राण, ऐसा है, जिसे पाप वीध नही सकता। मुख्य-प्राण में स्वार्थ का अश नही, यह परार्थ का नमूना है। जो पुरुष श्रेय को अपना ध्येय बनाता है, उसे अपना काम निष्काम भाव से करना चाहिये।

यह नैतिक आचरण की नीव है। छान्दोग्य उपनिषद् (७ १३) में सनत्कुमार ने नारद से कहा—'सुख भूमा (समग्र) में है, अल्प में सुख नही।' नैतिक जीवन यज्ञ-रूप है, यह अपने आप को दूसरो में मिला देना है।'

अब हम साकार नैतिक जीवन की ओर देखें।

धर्म को वृक्ष से उपमा देते हुए, छान्दोग्य उपनिषद् (२ २३) में कहा है—

'धर्म में तीन स्कन्ध टहने हैं'—

यज्ञ, अध्ययन और दान पहला स्कन्ध है, तप दूसरा स्कन्ध है, ब्रह्मचारी का आचार्यकुल में वास करना, तीसरा स्कन्ध है, वेदादि धर्मपुस्तको का स्वाध्याय, यज्ञ और दान, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सब के सामान्य कर्त्तव्य कर्म है। इन तीनो को एक साथ धर्म का पहला स्कन्ध कहा है। स्वाध्याय एक प्रकार का तप ही है, यज्ञ और दान भी वही कर सकता है, जो कमाने की योग्यता रखता हो, और अपनी आवश्यकताओ को सीमित करके अपनी कमाई में से त्याग सकता हो। तप जीवन की सफलता के लिए आवश्यक है। शुद्ध आचार और आचरण जन्मजात नहीं, न हम इन्हें दूसरो से ले सकते हैं, प्रत्येक को इन्हें अपने प्रयत्न से प्राप्त करना होता है, और यह प्रयत्न चिरकाल के लिए करना पडता है। यह काल ब्रह्मचारी आचार्यकुल में गुजारता है, नैतिक आचार की बुनियाद यहाँ पडती है। शिक्षा-प्राप्ति धर्म का तीसरा स्कन्ध है।

ऊपर के विवरण में सामान्य धर्म की बावत कहा है। परन्तु धर्म व्यक्ति की स्थिति की ओर से उदासीन नही हो सकता। कहते हैं कि मृत्यु सब मनुष्यो को एक स्तर पर ले आती है, नैतिक नियम भी यही करता है कोई भी इसके आदेशो से ऊपर नही। इस पर भी नैतिक नियम की माग सब लोगों में एक ही नही। मनुष्यो में योग्यता और स्वभाव का भेद होता है, और उनके कर्त्तव्य इस भेद से प्रभावित होते हैं।

मानव के विकास में तीन प्रमुख मजिलें आती हैं। आरभ में वह उत्तेजनो का पुज होता है। प्रत्येक उत्तेजन अपने समय में शासन करता है। व्यक्ति के जीवन का केन्द्र वर्त्तमान क्षण होता है। जितनी शक्ति किसी उत्तेजन में होती है, उतना

ही उसका अधिकार होता है। दूसरी मजिल मे, व्यक्ति उत्तेजनाओ को सघटित करने का यत्न करता है, उसे क्षणिक तृप्ति की अपेक्षा समस्त जीवन के कल्याण का घ्यान अधिक होने लगता है। अव मूल्य के प्रत्यय का उत्थान होता है। क्षणिक तृप्ति तो गौण हो जाती है, परन्तु जीवन का केन्द्र स्वत्व ही होता है। तीसरी और अन्तिम मजिल में, वह नये अर्थ में 'अल्प' से 'भूमा' की ओर चलता है, उसे अपनी ही नही, दूसरो की भी चिन्ता होने लगती है। अव धर्मभाव या सामूहिक कल्याण प्रमुख पद प्राप्त करता है।

सिग्माड फ्रायड ने इन तीन अवस्थाओ के लिए 'इड' 'ईगो' और 'सुपर-ईगो' का प्रयोग किया है, हम इन्हें 'पूर्व-स्व', 'स्व' और 'अति-स्व' कह सकते है। साधारण अवस्था में प्रत्येक की यात्रा में तीन मजिलें होनी चाहिये, परन्तु कुछ लोग पहली मजिल पर अटक जाते हैं, और वहुतेरे दूसरी मजिल से आगे नही वढते।

उपनिषदो में इन श्रेणियो के लिए 'असुर', 'मनुष्य' और 'देव' का प्रयोग किया गया है। इनके भेद को दृष्टि में रखकर, वृहदारण्यक उपनिषद् (५ २) में कहा है—

"प्रजापति की सन्तान—देवो, मनुष्यो और असुरो ने प्रजापति के पास जाकर ब्रह्मचर्य का सेवन किया। इसके पश्चात् देवो ने प्रजापति से कहा—'हमें उपदेश दें।' प्रजापति ने कहा—'द', और पूछा—'तुमने समझ लिया?' देवो ने कहा—'समझ लिया है, आपने कहा है—दमन करो।' प्रजापति ने कहा—'तुमने ठीक समझा है।'

तव मनुष्यो ने उमसे कहा—'हमें उपदेश दें।' प्रजापति ने कहा—'द', और पूछा—'तुमने समझ लिया?' मनुष्यो ने कहा—'समझ लिया है, आपने कहा है—दान दो।' प्रजापति ने कहा—'तुमने ठीक समझा है।'

अन्त में असुरो ने उपदेश के लिए विनय की। प्रजापति ने फिर कहा—'द', और पूछा—'तुमने समझ लिया?' असुरो ने कहा—'समझ लिया है, आपने कहा है—'दया करो।' प्रजापति ने कहा—'तुमने ठीक समझा है।'

मनुष्यो की अधिक सख्या मध्य में होती है, कुछ पशुस्तर से ऊपर नही उठते, और कुछ आगे देवत्व की ओर वढ जाते है। देव आप चमकते हैं और अपना प्रकाश दूसरो को देते हैं। जो कुछ वे दूसरो को दे सकते है, उसमें उनके कथन की अपेक्षा उनके आचरण का भाग अधिक मूल्यवान होता है। प्रजापति का उपदेश देवो के लिए यही है—'अपने आपको सयम में रखो।'

साधारण मनुष्यो के लिए वडा खतरा यही है कि वे अपने 'स्व' में पूर्णतया विलीन

हो जायें। दान व्यक्ति को अपने से परे देखने की प्रेरणा करता है। मनुष्यो के लिए प्रजापति का उपदेश है—'दान दो।'

असुरों के जीवन में वर्तमान का उत्तेजन प्रमुख है। उनके लिए सब से बडा खतरा यह है कि वह अपनी शक्ति का दुरुपयोग करे। इससे बचाने के लिए प्रजापति ने उन्हें कहा—'दयावान् बनो।' असुरो की शक्ति बुरी नही, इसका आसुरी प्रयोग बुरा है।

साधारण मनुष्यो की हालत में यह तीनो अश मिले होते हैं, इनकी शक्ति एक समान नही होती। उपनिषद् में कहा है—'जब बिजली कडकती है, तो उसकी कडक में 'द', 'द', 'द' की ध्वनि सुनाई देती है। यह ध्वनि हम सब के लिए प्रजापति का उपदेश है—'दमन करो', 'दान दो', 'दया करो'।

७. ज्ञान और कर्म

वेद मे ज्ञान और कर्म दोनो के सबन्ध में शिक्षा मिलती है। पीछे कर्म-सबन्धी शिक्षा का विस्तार ब्राह्मण ग्रन्थो में और ज्ञान-सबन्धी शिक्षा का व्याख्यान उपनिषदों में हुआ। ज्ञान और कर्म जीवन मे एक साथ चलते है, प्रत्येक चेतनावस्था में यह दोनो पक्ष विद्यमान होते हैं। इस पर भी दोनो में स्पष्ट भेद भी है। उपनिपदो में कर्म का महत्त्व स्वीकार किया है, परन्तु इसे ज्ञान का पद नही दिया। कर्म और ज्ञान का फल बयान करते हुए, ज्ञान के फल को कर्मफल की अपेक्षा उत्कृष्ट कहा है, और इस बात पर भी बल दिया है कि कर्म का फल अस्थायी होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म के तीन स्कन्धो का वर्णन करने के बाद कहा है—'जो लोग इन कर्त्तव्यो का पालन करते है, वे पुण्यलोक को प्राप्त करते है, ब्रह्म में विलीन होने वाले अमरत्व को पाते हैं।'

कठ उपनिपद् मे, नचिकेता ने यम से तीन वर मागे। पहला वर यह था कि उसका पिता उस पर क्रुद्ध न रहे। यम ने यह वर उसे तुरन्त दे दिया। दूसरे वर में, नचिकेता ने ऐसे यज्ञ की वावत जानना चाहा जो उसे स्वर्ग में पहुँचने का भागी बना दे। यम ने उसे ऐसे यज्ञ की विधि बतायी और यज्ञ को 'नाचिकेत यज्ञ' का नाम दिया। तीसरे वर में नचिकेता ने आत्मा के अमरत्व की वावत जानना चाहा। यम बहुत आग्रह होने पर यह ज्ञान देने के लिए तैयार हुआ। यहाँ भी उपनिपद्कार यह कहना चाहता है कि कर्मकाड की अपेक्षा ज्ञान का पद बहुत ऊँचा है।

बृहदारण्यक उपनिपद् (१ ५ १६) में कहा है कि तीन ही लोक हैं—मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक। मनुष्यलोक सन्तान से जीता जाता है,

पितृलोक कर्म से जीता जाता है, और देवलोक ज्ञान से जीता जाता है। 'इन लोको में देवलोक श्रेष्ठ है, इसलिए विद्या की प्रशसा करते हैं।'

यह उपनिपदो का आम दृष्टिकोण है और हम इसे समझ सकते हैं। परन्तु उपनिषदो में कही-कही ऐसे अश भी मिलते है, जो इससे वहुत आगे जाते है। जो लोग कर्म का सहारा लेते हैं, उनके लिए मुडक उपनिषद् में प्रमूढ (महामूर्ख) का प्रयोग किया है। यह कट्टरपन की भाषा है और मानसिक सतुलन की सूचक नही। कुछ अश तो ऐसे भी हैं, जिनकी वावत सन्देह होता है कि वे वाहर की मिलावट हैं। छान्दोग्य (१ १२) में याज्ञिकों के गायन की कुत्तो के भौंकने से उपमा दी गयी है।

ज्ञान और कर्म के सवन्ध में, ईश उपनिषद् के तीन मन्त्र वहुत महत्त्व के है। इन दोनो के लिए यहा 'विद्या' और 'अविद्या' का प्रयोग हुआ है। अविद्या से अभिप्राय 'विद्या से उलट' का नही, अपितु 'विद्या के अतिरिक्त' 'विद्या से अन्य' का है। इस अर्थ में कर्म के लिए अविद्या शव्द का प्रयोग होता है। मत्र ये हैं—

'जो लोग अविद्या (कर्म) की उपासना करते है, वे घोर अन्वकार में प्रवेश करते हैं, जो लोग विद्या की उपासना करते है, वे उससे भी घोर अन्वकार में जाते हैं।'

'विद्या का फल एक है, और अविद्या का फल उससे भिन्न है। ऐसा हमने उन ज्ञानी पुरुषो से सुना है, जिन्होने इस रहस्य की वावत हमें वताया है।'

'जो मनुष्य विद्या और अविद्या (ज्ञान और कर्म) को एक साथ जानता है, वह कर्म की महायता से मृत्यु को तर जाता है, और विद्या की सहायता से अमृत को प्राप्त करता है।'

(९-११)

ज्ञान और कर्म एक साथ चलें तो ज्ञान का फल अधिक उत्तम है, यदि इनमें मेल न हो तो निरा ज्ञान निरे कर्म से अविक हानिकारक होता है। अन्वे और लूले में, लूले की दशा अधिक अवम और अभाग्यपूर्ण होती है।

साख्य दर्शन

१. प्राक्कथन

१. सांख्य का विषय

जर्मनी के दार्शनिक इम्मैनुयल काट ने कहा है कि दर्शनशास्त्र का उद्देश्य तीन निम्न प्रश्नो का उत्तर ढूँढना है—

(१) मै क्या जान सकता हूँ ?

(२) मुझे क्या करना चाहिये ?

(३) मै किस भाग्य की आशा कर सकता हू ?

पहले प्रश्न के साथ मिला हुआ यह प्रश्न भी है कि ज्ञान-प्राप्ति के साधन क्या हैं ? सत्य और असत्य में भेद करने की कसौटी क्या है ?

पश्चिम में चिरकाल तक अन्तिम सत्ता को समझने का यत्न होता रहा। नवीन काल में विचारको को ध्यान आया कि इस प्रश्न के पूर्व एक अन्य प्रश्न का पूछना आवश्यक है—'हमारे ज्ञान की पहुँच कहाँ तक है ?' यह जानकर ही हम निश्चय कर सकते हैं कि हमारी खोज के सफल होने की सम्भावना भी है या नही। भारत में ज्ञान-मीमासा को सदा ध्यान में रखा गया है।

काट ने जिन तीन प्रश्नो का वर्णन किया है, उनमें पहला प्रश्न बौद्धिक विवेचन का केन्द्रीय विषय है, दूसरा व्यावहारिक विवेचन मे प्रमुख विषय है। साख्य प्राय बौद्धिक विवेचन है, योग व्यावहारिक पहलू पर बल देता है। जीवन में ज्ञान और क्रिया सयुक्त मिलते हैं, इसलिए साख्य में भी दूसरे प्रश्न की उपेक्षा नही हुई। सत्य-ज्ञान के प्रकाश में अच्छे से अच्छा काम जो हम कर सकते हैं, वह किसी प्रयोजन से किया जाता है। इस प्रयोजन का स्पष्ट ज्ञान बहुत महत्त्व की चीज़ है, परन्तु हम यह भी जानना चाहते हैं कि जिस फल को हम परम-पुरुषार्थ बनाते हैं, उसकी प्राप्ति की सभावना भी है, या नही। हम ब्रह्माड के तुच्छ अश हैं, प्राकृत जगत् की शक्तियो की अपेक्षा हमारी शक्ति बहुत अल्प है। बाह्य शक्तियों का झुकाव कैसा दीखता है ? क्या भूमडल में हम स्नेही वातावरण में विचरते हैं ? क्या यह वातावरण पग-पग पर हमारे आदर्शों का बाधक है ? क्या यह अपने काम में लगा है, और हमारे प्रयत्न

इसके ध्यान को आकर्षित ही नही करते? अन्य शब्दो में हमें जानना होता है कि सृष्टि में हमारा स्थान क्या है?

साख्य उन तीनो प्रश्नो पर विचार करता है जिन्हें काट ने दर्शनशास्त्र के प्रमुख विषय बयान किया है।

२. सांख्य-साहित्य

यो तो साख्य पर अनेक ग्रथ मिलते हैं, परन्तु तीन पुस्तकें विशेष रूप से प्रतिष्ठित मानी जाती हैं। इनमें सब से विख्यात 'साख्यसूत्र' है। पुस्तक में छ अध्याय हैं और उनकी सूत्र सख्या इस प्रकार है—

१	१४६
२	४७
३	८४
४	३२
५	१२९
६	७०
	५२६

इन सूत्रों की रचना के समय की बाबत निश्चय से कह नही सकते, परन्तु आम ख्याल यही है कि यह बहुत पुराने नही।

साख्य सिद्धान्त में दूसरी प्रतिष्ठित पुस्तक 'साख्य-कारिका' या 'साख्य-सप्तति' है। जैसा इसके नाम से ही पता लगता है, पुस्तक कविता में है और इसमें ७० कारिकाएँ हैं। रूपभेद के अतिरिक्त, 'सप्तति' सूत्रो से दो बातो में भिन्न है—

(१) इसमें सूत्रो की आख्यायिकाएँ मौजूद नही,

(२) इसमें अन्य मतो का खडन नही।

अन्तिम दो कारिकाओ में कहा है कि इस शास्त्र का रहस्य परमऋषि (कपिल) ने बतलाया है, और इसमें 'सब भूतो की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय का विचार है।' कपिल ने यह ज्ञान आसुरि को दिया, और आसुरि ने पचशिख को दिया। 'सप्तति' ईश्वर कृष्ण की रचना है। बहुतेरे लेखक अब इसे साख्य सिद्धात की प्रामाणिक व्याख्या समझते हैं।

साख्य सिद्धात पर तीसरी प्रतिष्ठित पुस्तक 'तत्त्व-समास' है। कुछ विचारको की सम्मति में यह बहुत पुरानी पुस्तक है, और साख्य सिद्धान्त को अपने मौलिक रूप में बताती है। यह स्वय कपिल की रचना समझी जाती है। पिछली शताब्दी में

इसका मिलना भी कठिन था। कोलब्रुक को यह प्राप्त न हो सकी, परन्तु जो कुछ उसने इसकी बावत पढा, उसके आधार पर उसने इसे साख्य-साहित्य में प्रमुख स्थान दिया। पीछे मैक्समूलर को यह प्राप्त हुई और उसने साख्य सिद्धान्त की व्याख्या के लिए इसी को आधार बनाया।

वास्तव में 'तत्त्व-समास' कोई पुस्तक है ही नही, यह केवल विषय-सूची है। विषयो को कुछ निश्चित करने के लिए, यह सख्या का विशेष प्रयोग करती है। प्राक्कथन के अन्त में 'तत्त्व-समास' सारे का सारा दिया गया है। हम भी इसे विषय-सूची के रूप में बरतेंगे, और व्याख्या के लिए सूत्रो और 'कारिका' से सहायता लेंगे।

३ परम पुरुषार्थ और उसकी सिद्धि

'तत्त्व-समास' में हम तुरन्त विषय में प्रविष्ट हो जाते हैं। 'कारिका' और 'सूत्र' दोनो सिद्धान्त-अध्ययन की उपयोगिता से आरभ करते हैं, दोनो बताना चाहते हैं कि इस अध्ययन का लाभ क्या है। जीवन का प्रमुख काम जीवन को कायम रखना, और इसे अच्छी तरह व्यतीत करना है। विचारो में विवाद का बडा कारण यह है कि हम सब अच्छे जीवन का एक ही चित्र नही बनाते।

'सप्तति' की पहली दो कारिकाएँ यह हैं—

'तीन प्रकार का दु ख चोट लगाता है, इसलिए उसे नाश करने वाले कारण की जिज्ञासा होती है। (यदि कहा जाय कि) दृष्ट कारण के होते हुए ऐसी जिज्ञासा व्यर्थ है, तो यह ठीक नही, क्योकि दृष्ट कारण से दु ख का नाश न तो अवश्यमेव होता है और न स्थायी ही होता है।'

'दृश्य के समान ही श्रौत (सुना गया, श्रुति विहित) कर्म है, क्योकि यह अशुद्धि, क्षय और अतिशय से युक्त होता है। इसके विपरीत व्यक्त, अव्यक्त और चेतन के ज्ञान से जो फल मिलता है, वह अधिक अच्छा है।'

सूत्रो में भी तीन प्रकार के दु खो की निवृत्ति को परम-पुरुषार्थ बताया गया है और इसके लिए, दृष्ट और श्रौत साधनो की अपेक्षा, विवेक को अधिक सफल साधन बताया है।

दु ख तीन प्रकार का होता है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। पहले प्रकार के दु ख का कारण स्वय हमारे अन्दर होता है। वृद्धावस्था में शरीर के अग ढीले पड जाते हैं, बुढापे के रोगो में प्रमुख रोग तो बुढापा ही है। आध्यात्मिक दु ख का एक और रूप असन्तोष होता है। ५०० विद्यार्थियो की परीक्षा में एक विद्यार्थी ४९८ विद्यार्थियो से आगे निकल जाता है, परन्तु एक से पीछे रह जाता है। वह

इसी बात से दुखी होता है कि वह प्रथम पद पर नही पहुँचा। आधिभौतिक दु ख अन्य प्राणियो से पहुँचते हैं। ज्यो-ज्यो जीवन-सग्राम तीव्र होता जाता है, ऐसे दु खो की मात्रा बढती जाती है। आधिदैविक दु खो का कारण यह होता है कि हमारी स्थिति और वातावरण में अनुकूलता नही होती।

इन दुखो से वचने के लिए हम ऐसे सावनो का प्रयोग करते है जिन्हें हमने लाभदायक पाया है। ऐसे साधनो के सवन्ध में दो त्रुटियाँ दीखती हैं—

(१) यह साधन सदा अचूक नही होते,

(२) दु ख की निवृत्ति अस्थायी होती है।

शास्त्र कहते है कि दु खो से छूटने के लिए यज्ञ आदि कर्म करने चाहिये। ऐसे कर्मों का फल भी अस्थायी होता है, इनमें शुभ के साथ अशुभ का अश भी मिला होता है, और यह कर्म वहुतेरे लोगो की सामर्थ्य में नही होते। इन साधनो से अधिक उपयोगी साधन विवेक है। अपनी अल्प शक्तियो के साथ हम प्राकृत जगत् और अन्य प्राणियो के प्रहार से पूर्ण तौर पर वच नही सकते, परन्तु इस प्रहार को सहने की योग्यता तो वढा ही सकते हैं। दुखो से बचने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि जीवन-व्यवहार में ठीक दृष्टिकोण को अपनायें। इसी को 'कारिका' और सूत्रो ने उपयोगी उपाय वताया है।

साख्य-लक्ष्य के विरुद्ध दो आपत्तियाँ की जाती हैं—

(१) कुछ लोग कहते है कि दुखो की निवृत्ति समव ही नही, ये हमारी प्रकृति का अश हैं।

(२) जीवन का लक्ष्य भावात्मक होना चाहिये, साख्य का ध्येय निषेधात्मक है।

पहली आपत्ति के सवन्ध में साख्य का मत यह है कि पुरुप अपने स्वरूप में निर्लेप है। पुरुप और प्रकृति के ससर्ग से सृष्टि होती है, और सृष्टि के विकास में दुख और सुख भी व्यक्त हो जाते है। जव पुरुप अपने आपको प्रकृति से भिन्न समझ लेता है, तो प्रकृति के विकारो से अशान्त नही होता। जो भ्रान्ति उसे दु खी करती है, वह विवेक से दूर हो जाती है, और इसके साथ ही दुख भी दूर हो जाता है।

दूसरे आक्षेप की वावत हम कह सकते हैं कि दुख की निवृत्ति को स्पष्ट शब्दो मे अन्तिम उद्देश्य नही कहा, इतना ही कहा है कि तीन प्रकार का दुख चोट लगाता है, और इससे वचने का जो उपाय हो सकता है, उसकी जिज्ञासा स्वाभाविक है। पश्चिम में भोगवादियो ने जीवन का अन्तिम उद्देश्य सुख की अनुभूति में देखा। यह विचार भाव को चेतना में सर्वश्रेष्ठ अश मान लेता है। साख्य में भाव को यह पद नही दिया,

इसका मिलना भी कठिन था। कोलब्रुक को यह प्राप्त न हो सकी, परन्तु जो कुछ उसने इसकी बाबत पढा, उसके आधार पर उसने इसे साख्य-साहित्य में प्रमुख स्थान दिया। पीछे मैक्समूलर को यह प्राप्त हुई और उसने साख्य सिद्धान्त की व्याख्या के लिए इसी को आधार बनाया।

वास्तव में 'तत्त्व-समास' कोई पुस्तक है ही नही, यह केवल विषय-सूची है। विषयो को कुछ निश्चित करने के लिए, यह सख्या का विशेष प्रयोग करती है। प्राक्कथन के अन्त में 'तत्त्व-समास' सारे का सारा दिया गया है। हम भी इसे विषय-सूची के रूप में बरतेंगे, और व्याख्या के लिए सूत्रो और 'कारिका' से सहायता लेंगे।

३. परम पुरुषार्थ और उसकी सिद्धि

'तत्त्व-समास' में हम तुरन्त विषय में प्रविष्ट हो जाते हैं। 'कारिका' और 'सूत्र' दोनों सिद्धान्त-अध्ययन की उपयोगिता से आरभ करते है, दोनों बताना चाहते हैं कि इस अध्ययन का लाभ क्या है। जीवन का प्रमुख काम जीवन को कायम रखना, और इसे अच्छी तरह व्यतीत करना है। विचारों में विवाद का बडा कारण यह है कि हम सब अच्छे जीवन का एक ही चित्र नही बनाते।

'सप्तति' की पहली दो कारिकाएँ यह हैं—

'तीन प्रकार का दु ख चोट लगाता है, इसलिए उसे नाश करने वाले कारण की जिज्ञासा होती है। (यदि कहा जाय कि) दृष्ट कारण के होते हुए ऐसी जिज्ञासा व्यर्थ है, तो यह ठीक नही, क्योकि दृष्ट कारण से दु ख का नाश न तो अवश्यमेव होता है और न स्थायी ही होता है।'

'दृश्य के समान ही श्रौत (सुना गया, श्रुति विहित) कर्म है, क्योकि यह अशुद्धि, क्षय और अतिशय से युक्त होता है। इसके विपरीत व्यक्त, अव्यक्त और चेतन के ज्ञान से जो फल मिलता है, वह अधिक अच्छा है।'

सूत्रो में भी तीन प्रकार के दु खो की निवृत्ति को परम-पुरुषार्थ बताया गया है और इसके लिए, दृष्ट और श्रौत साधनो की अपेक्षा, विवेक को अधिक सफल साधन बताया है।

दु ख तीन प्रकार का होता है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। पहले प्रकार के दु ख का कारण स्वय हमारे अन्दर होता है। वृद्धावस्था में शरीर के अग ढीले पड जाते हैं, बुढापे के रोगो में प्रमुख रोग तो बुढापा ही है। आध्यात्मिक दु ख का एक और रूप असन्तोष होता है। ५०० विद्यार्थियो की परीक्षा में एक विद्यार्थी ४९८ विद्यार्थियो से आगे निकल जाता है, परन्तु एक से पीछे रह जाता है। वह

इसी बात से दुखी होता है कि वह प्रथम पद पर नही पहुँचा। आधिभौतिक दु ख अन्य प्राणियो से पहुँचते हैं। ज्यो-ज्यो जीवन-सग्राम तीव्र होता जाता है, ऐसे दु खो की मात्रा बढती जाती है। आधिदैविक दु खो का कारण यह होता है कि हमारी स्थिति और वातावरण में अनुकूलता नही होती।

इन दुखो से बचने के लिए हम ऐसे साधनो का प्रयोग करते हैं जिन्हें हमने लाभदायक पाया है। ऐसे साधनो के सबन्ध में दो त्रुटियाँ दीखती हैं—

(१) यह साधन सदा अचूक नही होते,

(२) दु ख की निवृत्ति अस्थायी होती है।

शास्त्र कहते हैं कि दु खो से छूटने के लिए यज्ञ आदि कर्म करने चाहिये। ऐसे कर्मों का फल भी अस्थायी होता है, इनमें शुभ के साथ अशुभ का अश भी मिला होता है, और यह कर्म बहुतेरे लोगो की सामर्थ्य मे नही होते। इन साधनो से अधिक उपयोगी साधन विवेक है। अपनी अल्प शक्तियो के साथ हम प्राकृत जगत् और अन्य प्राणियो के प्रहार से पूर्ण तौर पर बच नही सकते, परन्तु इस प्रहार को सहने की योग्यता तो बढा ही सकते हैं। दुखो से बचने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि जीवन-व्यवहार में ठीक दृष्टिकोण को अपनायें। इसी को 'कारिका' और सूत्रो ने उपयोगी उपाय बताया है।

साख्य-लक्ष्य के विरुद्ध दो आपत्तियाँ की जाती हैं—

(१) कुछ लोग कहते है कि दुखो की निवृत्ति सभव ही नही, ये हमारी प्रकृति का अश हैं।

(२) जीवन का लक्ष्य भावात्मक होना चाहिये, साख्य का ध्येय निषेधात्मक है।

पहली आपत्ति के सबन्ध में साख्य का मत यह है कि पुरुष अपने स्वरूप में निर्लेप है। पुरुष और प्रकृति के ससर्ग से सृष्टि होती है, और सृष्टि के विकास में दुख और सुख भी व्यक्त हो जाते हैं। जब पुरुष अपने आपको प्रकृति से भिन्न समझ लेता है, तो प्रकृति के विकारो से अशान्त नही होता। जो भ्रान्ति उसे दु खी करती है, वह विवेक से दूर हो जाती है, और इसके साथ ही दुख भी दूर हो जाता है।

दूसरे आक्षेप की बाबत हम कह सकते हैं कि दुख की निवृत्ति को स्पष्ट शब्दो में अन्तिम उद्देश्य नही कहा, इतना ही कहा है कि तीन प्रकार का दुख चोट लगाता है, और इससे बचने का जो उपाय हो सकता है, उसकी जिज्ञासा स्वाभाविक है। पश्चिम में भोगवादियो ने जीवन का अन्तिम उद्देश्य सुख की अनुभूति में देखा। यह विचार भाव को चेतना में सर्वश्रेष्ठ अश मान लेता है। साख्य में भाव को यह पद नही दिया,

हाँ, इतना माना है कि दुख आत्म-सिद्धि मे बाधक होता है और इसे मार्ग से हटाना चाहिये। पश्चिम में भी विचारकों ने इस बात की विशेष ध्यान से देखा है कि भारत के दार्शनिक सुख के पीछे नही भागते, केवल दुख मे बचना चाहते है।

२ तत्त्व-समास

(१) अब इसलिये तत्त्वो का सक्षेप
(२) आठ प्रकृतियाँ
(३) सोलह विकार
(४) पुरुष
(५) तीन गुणो वाला होना
(६) सृष्टि और प्रलय
(७) अध्यात्म, अभिभूत और अधिदैव
(८) पाँच अभिवुद्धियाँ
(९) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ
(१०) पाँच वायु
(११) पाँच कर्म-शक्तियाँ
(१२) पाँच प्रकार की अविद्या
(१३) अढाई प्रकार की अशक्ति
(१४) नौ प्रकार की तुष्टि
(१५) आठ प्रकार की सिद्धि
(१६) दस मौलिक अर्थ
(१७) कल्याणकारी सृष्टि
(१८) चौदह प्रकार का प्राणी जगत्
(१९) तीन प्रकार का बन्ध
(२०) तीन प्रकार का मोक्ष
(२१) तीन प्रकार का प्रमाण
(२२) 'इस ज्ञान को ठीक-ठीक जानकर मनुष्य सफल मनोरथ, कृतकार्य हो जाता है। वह फिर तीन प्रकार के दुखो से पीडित और पराजित नही होता।'

३. साख्य के तत्त्व

'तत्त्व-समास' के पहले तीन विषय ये हैं—

(१) आठ प्रकृतिया

(२) सोलह विकार (विकृतियाँ)

(३) पुरुष

'कारिका' में २५ तत्त्वो का वर्णन इस प्रकार किया है—'मूल प्रकृति विकृति नही है, महत्तत्त्व आदि प्रकृति-विकृति हैं, १६ विकृतियाँ ही हैं, पुरुष न प्रकृति है, न विकृति है।' (३)

'कारिका' ने २५ तत्त्वो को ४ श्रेणियो में बाँटा है—

(१) मूल प्रकृति केवल प्रकृति है, विकृति नही। अन्य वस्तुएँ इससे बनती है, यह आप किसी कारण का कार्य नही।

(२) महत (बुद्धि), अहकार और पाँच तन्मात्र प्रकृति और विकृति दोनो हैं। यह मूल प्रकृति से बनते हैं, और आप अन्य तत्त्वो के कारण भी है।

(३) १० इन्द्रियाँ, मन और ५ महाभूत केवल विकृति हैं यह कार्य ही हैं, किसी अन्य तत्त्व के कारण नही।

(४) पुरुष न किसी तत्त्व से बनता है, न कुछ इससे बनता है।

पुरुष के अतिरिक्त, २४ तत्त्वो में हम मूल प्रकृति और इसके विकारो को देखते हैं। इस तरह, साख्य में अध्ययन के तीन प्रमुख विषय हैं—

(१) दृष्ट जगत् या व्यक्त,

(२) मूल प्रकृति या अव्यक्त,

(३) पुरुष।

इन तीनो में भी मूलतत्त्व पुरुष और प्रकृति ही हैं, दृष्ट जगत् इनके सयोग का फल है।

अब इन तीनो की बाबत कुछ विचार करें।

१. व्यक्त या दृष्ट जगत्

कारिका १० में व्यक्त के चिह्न यो बयान किये गये हैं—

'व्यक्त कारण वाला, अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, अनेक, आश्रित, चिह्न, सावयव और परतन्त्र हैं।'

जब हम बाह्य जगत् की ओर देखते है, तो पदार्थों का नानात्व और निरन्तर परिवर्तन विशेष रूप से हमारा ध्यान अपनी ओर खीचते हैं। जगत् तो अनेक पदार्थों

का समूह है ही, प्रत्येक पदार्थ भी मिश्रित (अवयवी) है। प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओ से सीमित है, यदि यहाँ है, तो वहाँ नही, वहाँ है, तो यहा नही। यह सब कुछ तो स्पष्ट ही है, साख्य इसके साथ यह भी कहता है कि दृष्ट जगत् की सत्ता स्वतन्त्र नही। यह कार्य है, परतन्त्र है, अपने कारण (अव्यक्त) पर आश्रित है, और उसका चिह्न है। कार्य होने से यह अनित्य भी है। यहाँ हम दृष्ट के क्षेत्र से परे अदृष्ट में पहुँचते हैं। विज्ञान दृष्ट के क्षेत्र में ही रहता है, दर्शनशास्त्र का प्रमुख अनुराग अदृष्ट के अध्ययन में है।

पश्चिम में भी व्यक्त जगत् का स्वरूप दार्शनिक विवेचन का एक प्रमुख विषय रहा है। डेकार्ट ने, जिसे आधुनिक दर्शन का पिता कहा जाता है, जगत् में पुरुष और प्रकृति के भेद पर बल दिया, और 'विस्तार' को प्रकृति का मौलिक गुण बताया। पीछे लाइबनिज ने कहा कि क्रिया सारी सत्ता का तत्त्व है। साख्य के अनुसार, विस्तार और क्रिया दोनो प्रकृति (व्यक्त) में विद्यमान है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी व्यक्त जगत् को अनित्य, आश्रित और परतन्त्र देखा। विकासवाद की मौलिक धारणा यही है कि जिस रूप में जगत् अब विद्यमान है, उसी रूप में सदा नही रहा है, इसमें निरन्तर परिवर्तन होता आया है। स्पेन्सर का काम विकास-क्रम की व्याख्या करना था। जैसा हम देखेंगे, उसका सिद्धान्त साख्य सिद्धात से बहुत मिलता है।

२ अव्यक्त या मूल प्रकृति

दृष्ट जगत् की बाबत यह पूछना स्वाभाविक ही है कि यह कहाँ से आया और कब आया?

इस प्रश्न के सबन्ध में तीन विचार प्रस्तुत किये गये हैं—

(१) जिस रूप में दृष्ट जगत् अब विद्यमान है, उसी रूप में सदा रहा है। इसके सबन्ध में कही से आने का प्रश्न उठता ही नही।

(२) कुछ समय हुआ जब ईश्वर ने इसे उत्पन्न किया। जिस रूप में इसे उत्पन्न किया गया था, लगभग उसी रूप में यह चलता आया है।

(३) जगत् की रचना निरपेक्ष उत्पत्ति नही, केवल विद्यमान सामग्री का विशेष आकार धारण करना है। यह आकार निरन्तर बदलता रहा है। बड़े-बड़े भेद जो अब दिखाई देते है, अगणित नन्हें-नन्हें भेदो का सचय हैं।

पहला विचार साधारण मनुष्य का विचार है। विज्ञान ने इसे बिलकुल अमान्य बना दिया है। दूसरे विचार के अनुसार सृष्टि की आयु, कुछ सहस्र वर्ष है, और इसकी रचना छ दिनो में हुई। यह विचार अब अमान्य ही हो गया है। विज्ञान के

लिए निरपेक्ष उत्पत्ति और विनाश कल्पना मात्र है। विज्ञान यह भी बताता है कि सृष्टि की आयु काफी बडी है सर जेम्स जीन्स के विचार में पृथिवी को बने लगभग दो अरब वर्ष हो चुके हैं। तीसरा विचार विकासवाद की धारणा है। पिछली शताब्दी में, पश्चिम में चार्ल्स डार्विन और हर्बर्ट स्पेन्सर ने इसका प्रसार किया। साख्य के अनुसार, दृष्ट जगत् अव्यक्त या मूल प्रकृति का विकास है।

कारिका १० में, जहाँ व्यक्त के चिह्नो का वर्णन किया है, साथ ही यह भी कहा है कि यह चिह्न अव्यक्त में पाये नही जाते। अन्य शब्दो में, मूल-प्रकृति किसी कारण का कार्य नही, यह निराश्रय है, यह अभेद है, और नित्य है। यह क्रिया-विहीन है, पुरुष की दृष्टि पडने पर जब इसका सामजस्य भग होता है, तो क्रिया का आरभ होता है, अन्त में सामजस्य फिर स्थापित होने पर क्रिया भी समाप्त हो जाती है।

३ पुरुष

(१) द्वैतवाद

साख्य में २५ तत्त्वो का वर्णन है। इनमें मूल-प्रकृति और पुरुष दो मूल-तत्त्व हैं। कुछ विचारको को दो की सख्या भी अधिक प्रतीत होती है और वे चाहते है कि हो सके तो दो के स्थान में एक ही अन्तिम तत्त्व स्वीकार किया जाय। साख्य के अनुसार पुरुष और प्रकृति में जाति-भेद है और हम इसे मिटा नही सकते। प्रकृति-वाद के अनुसार, प्रकृति अपने विकास में जीवन को और पीछे चेतना को जन्म देती है, अध्यात्मवाद के अनुसार, जिन वस्तुओ को हम वाह्य जगत् में देखते हैं, वे वास्तव में हमारी चेतना—अवस्थाएँ ही हैं, एक और विचार के अनुसार, चेतना और विस्तार एक तटस्थ द्रव्य के गुण हैं, और सभी जीव और प्राकृतिक पदार्थ इन दो गुणो के आकार-मात्र हैं। साख्य अद्वैतवाद को किसी रूप में स्वीकार नही करता। इसके अनुसार, पुरुष न प्रकृति है, न विकृति है, न यह प्राकृत पदार्थो का उत्पादक है, न प्रकृति से उत्पन्न होता है। इसके अनुसार पुरुष और प्रकृति दोनो स्वतन्त्र द्रव्य हैं, और इनमें जाति-भेद है।

(२) पुरुष के अस्तित्व में हेतु

कारिका १७ में कहा है—

'सघात के परार्थ होने से, त्रिगुणादि से विपरीत होने से, अधिष्ठान से, भोक्ताभाव से, और मोक्ष की ओर प्रवृत्ति होने से पुरुष (का अस्तित्व सिद्ध) है।'

दर्शन शास्त्र का काम अनुभव का समाधान करना है। हमारा अनुभव दो प्रकार का होता है—वाह्य और आन्तरिक। अनुभव के अस्तित्व में सदेह करना तो सभव

ही नही यह सदेह आप ही अनुभव है। नवीन काल में फ्रान्स के दार्शनिक डेकार्ट ने अपने विवेचन को इस असदिग्ध तथ्य से आरभ किया। उसने अनुभव के अस्तित्व में अनुभवी को विद्यमान देखा। उसने कहा—'मैं चिन्तन करता हूँ, अर्थात् मैं हूँ।' कुछ लोगो का विचार है कि अनुभव से अनुभवी तक पहुँचने में डेकार्ट ने तर्क से काम नही लिया, एक प्रचलित विश्वास को यों ही मान लिया। डेविड ह्यूम ने प्रकृति और पुरुष दोनो को द्रव्य की स्थिति में अस्वीकार किया और कहा कि सारी सत्ता प्रकटनो या अनुभवो की ही है। वर्तमान विचार का विषय यही है कि अनुभव के साथ हम अनुभवी को मानने के लिए बाध्य है, या अनुभव का मानना ही पर्याप्त है। साख्य मत यह है कि चेतना के साथ चेतन का मानना भी आवश्यक है, अनुभव के कुछ चिह्न अनुभवी के अस्तित्व का प्रमाण हैं। मह चिह्न क्या है ?

कारिका ऐसे पाँच चिह्नो का वर्णन करती है।

पहला चिह्न यह है कि जगत् निरा बहुत्त्व नही, सघात है, इसके भाग असबद्ध अश नही, अपितु एक समग्र के भाग है। विज्ञान नियम या व्यवस्था से आरभ करता है, इस व्यवस्था को समझना इसका प्रमुख काम है। व्यवस्था का अर्थ ही यह है कि अनेक अशो मे सबन्ध है। व्यवस्था प्रयोजन को व्यक्त करती है। यह प्रयोजन जड प्रकृति का नही हो सकता, प्रयोजन चेतन का होता है। मेरी कलम के कई सबद्ध भाग हैं, इसमे स्याही भर जाती है, और फिर निश्चित क्रम में निकलती है। इस सारी व्यवस्था में कलम का अपना कोई प्रयोजन नहीं, प्रयोजन तो लेखक की सुविधा है। इसी तरह घडी समय की गति का ज्ञान देती है। घडी के पुर्जों को तो इसमें कोई दिलचस्पी नही कि अब ४ बजे है, या ५ बजे हैं। घडी मुझे इस योग्य बनाती है कि मैं सभा में नियत समय पर पहुँच सकूँ। सारा जगत् भी सघात है। साख्य के अनुसार, जगत्-रूपी सघात अपने अर्थ में नही, अपितु चेतन पुरुष के अर्थ में है—'परार्थ है।' साख्य प्रयोजनवाद का समर्थक है। जगत् मे प्रयोजन चेतन के अस्तित्व की ओर सकेत करता है।

जगत् सत्त्व, रजस और तमस—तीन गुणो का खेल है। क्या यह सभव नही कि जिसे हम चेतन कहते हैं, वह भी इन गुणो में से किसी की क्रिया हो? साख्य इस सुझाव को स्वीकार नही करता—चेतन क्रिया है ही नही। यह गुणो से विपरीत है। गुणो की सारी क्रिया घटना मात्र है। चेतन की क्रिया भी बाहर से घटना मात्र है, परन्तु यह अन्दर से भी देखी जा सकती है। इसे अन्दर से देखें तो इसका एक विशेष चिह्न दीखता है। प्राकृत घटनाओ में नियम का शासन है, जो कुछ होता है, उसे होना पडता है। मनुष्य अपनी क्रिया में इस प्रकार की अनिवार्यता नही देखता,

वह मोड पर खडा हुआ, एक से अधिक मार्गों में चुन सकता है। वह निर्णय कर सकता है कि उसकी शक्ति किस रूप में व्यय हो। जव इजिनियर नहर वनाता है, तो वह जल को यह आदेश नही देता कि वह आकर्पण-नियम का उल्लघन करे, वह केवल यही चाहता है कि जल आकर्पण-नियम के अवीन एक विशेप दिशा में चले और भूमि को सीचता जाय। यह निश्चय चेतन की क्रिया है, और उसके अस्तित्व को सिद्ध करता है।

इस विवेचन में एक महत्त्वपूर्ण वात स्वय अनुभव का स्वरूप है। अभी तक हमने कहा है कि अनुभव में अनुभवी निहित है। क्या हम इससे आगे नही जा सकते ? अनुभव का वास्तविक रूप क्या है ? मैं देखता, सुनता हूँ, मैं सुख-दुख को अनुभव करता हूँ, मैं निश्चय करता हूँ, कि आघ घटा और लिखता जाऊँ। ह्यूम कहता है कि स्पप्ट तथ्य तो यही है कि रूप, शब्द का वोघ होता है, सुख-दुख की अनुभूति होती है, सकल्प होता है, मैं 'मैं' को वीच में विना अधिकार के खीच लाता हूँ। मै खीच लाता हूँ, या यह आप खिचा आता है ? कारिका का आशय ऐसा प्रतीत होता है कि मौलिक अनुभव यह नही कि ज्ञान है, अपितु यह कि किसी ज्ञाता को ज्ञान है, यह नही कि दुख है, अपितु यह कि कोई चेतन दुखी है। हरएक भोग (अनुभवी) मे भोक्ता-भाव विद्यमान है, हम चेतन की सत्ता का अनुमान नही कहते, हरएक चेतना स्पष्ट चेतन की चेतना दीखती है।

हमारी क्रिया का वडा भाग प्राकृतिक नियम के अवीन होता है। हमारी कुछ आकाक्षाएँ हमें पशु स्तर से ऊपर उठाती हैं। पशु-पक्षी वर्तमान में जीते हैं, मनुष्य भविष्य मे जीता है। अन्य शब्दो में, मनुष्य आदर्शों का चिन्तन करता है और उनके अनुकूल काम करना चाहता है। सवसे ऊँचा आदर्श कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति है। यह आदर्श सिद्ध हो सकता है या नही, और हो सकता है, तो कैसे हो सकता है, ये प्रश्न महत्त्व के प्रश्न हैं, परन्तु इस समय तो हम अनुभव की परीक्षा कर रहे हैं। वर्तमान विचार में महत्त्व की वात यह है कि कैवल्य-प्रवृत्ति मौजूद है। वर्तमान से ऊपर उठने, प्रकृति के शासन से विमुक्त होने की चेप्टा मनुप्य को अन्य सभी वस्तुओ से पृथक् करती है, और उसे एक अलग श्रेणी में रखती है। कारिका में पुरुप के अस्तित्व में अन्तिम हेतु जो दिया है, वह कैवल्य की प्रवृत्ति है। प्रकृति के परिवर्तनो में ऐसी आकाक्षाओ के लिए कोई स्थान नही। एक कवि ने कहा है—

"जव कुदरत मनुप्य की आकाक्षाओ को देखती है, तो उससे कहती है—'पुत्र ! तूने इन्हें कहाँ से प्राप्त किया है ? मेरी देन तो ये हैं नही।'"

(३) अनेकवाद

पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध मे प्रमुख प्रश्न द्वैत और अद्वैत का विवाद है। जब हम केवल पुरुष पर विचार करते हैं तो एक नया प्रश्न उठ खडा होता है—'पुरुष एक ही है, या अनेक पुरुष हैं ?' मैं अपनी बावत तो सन्देह कर ही नही सकता, यह सन्देह ही इस सन्देह को मिटा देता है। मेरे लिए प्रश्न यही है कि क्या मेरे बिना कोई अन्य पुरुष भी है, या नही।

हमारे जीवन का सारा व्यवहार अनेकवाद को स्वीकार करता है। वर्तमान लेख को लिखने के लिए मैंने सामग्री अन्य पुरुषो से प्राप्त की है, लेख के विषय पर अन्य पुरुषो से सीखा है, लिखता इस ख्याल से हूँ कि कुछ अन्य पुरुप इसे पढेंगे। साख्य इस सामाजिक अनुभव की नीव पर अनेकवाद का पक्ष लेता है। जीवन को यात्रा से उपमा दी जाती है। सारे मनुष्यो की यात्रा न एक साथ आरम्भ होती है, न एक साथ समाप्त होती है। उनकी क्रियाएँ भी भिन्न होती हैं, क्रिया के साधन भिन्न होते है, उनके चरित्र और स्वभाव भी भिन्न होते है। कोई जीवन किसी अन्य जीवन की पूर्ण नकल नही होता।

कारिका १९ में कहा है—

'जन्म-मरण और करणो (साधनो) के अलग-अलग नियम से, सब लोगो के एक साथ किसी काम को न करने से, तीनो गुणो के भेद से (चरित्र और स्वभाव के भेद से) पुरुषो का अनेक होना सिद्ध है।'

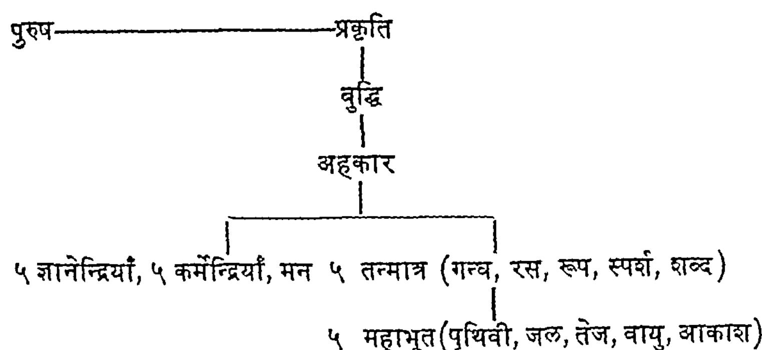
यहाँ पुरुष को जीवात्मा के अर्थ मे लिया है, विशुद्ध पुरुष की हालत में तो जन्म-मरण आदि का जिक्र ही नही हो सकता।

४. तत्त्वों का आपसी सम्बन्ध

कारिका ३ में २५ तत्त्वो की ४ श्रेणियों का वर्णन है, कारिका २४ में प्रकृति के २३ विकारो के विकास-क्रम की बावत कहा है—

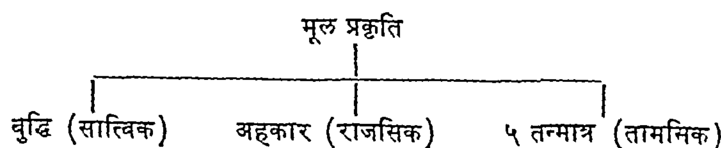
'प्रकृति से महत्, उससे अहकार, उससे १६ का समूह। इन १६ में से पाँच तन्मात्र पाँच भूतो को उत्पन्न करते है।'

यहाँ महत् (बोध) और अहकार के बिना किसी विकार का नाम नही लिया, परन्तु यह नाम विख्यात है। इन दोनो कारिकाओ को ध्यान मे रखते हुए, हम २५ तत्त्वो को निम्न रूप में देख सकते हैं—



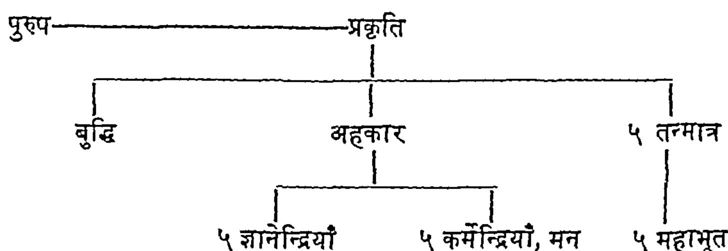
कारिका में सात प्रकृति-विकृतियो में तीन पीढियो का वर्णन किया है प्रकृति से वुद्धि उत्पन्न होती है, वुद्धि से अहकार उत्पन्न होता है, और अहकार से पाँच तन्मात्र। इसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि प्रकृति के विकास में सव से पहले वोव व्यक्त हुआ। जो तत्त्व व्यक्ति की हालत में वुद्धि का रूप ग्रहण करता है, वह आरम्भ में विश्व के वोध के रूप में प्रकट हुआ। यह विकार ही सवसे वडा विकार था, इसे महत् या महत्तत्त्व कहते हैं। इसके पीछे अहभाव का आविर्भाव हुआ। व्यक्ति की हालत में यह स्वत्व का वोघ या अभिमान है। यहाँ तक तो वात सरल ही है। आगे कहा है कि अहकार से पाँच तन्मात्र (रूप, शव्द, रस आदि) उत्पन्न हुए। तन्मात्रों से पाँच भूत उत्पन्न हुए। तन्मात्र को प्रकृति की सन्तान की सन्तान की सन्तान क्यो वताया है?

तत्त्व-समास में आठ प्रकृतियो को एक साथ रखा है। इसका अर्थ यही है कि मूल प्रकृति की तरह, महत्, अहकार और पाँच तन्मात्र भी आगे उत्पन्न होते हैं। क्या यह समव नही कि यह सातो एक ही पीढी में हो? मूल प्रकृति मे सत्व, रजस् और तमस् का सामजस्य होता है। पुरुष की दृष्टि पडने पर यह सामजस्य टूटता है, और विकास का आरम्भ होता है। सत्व की प्रधानता वुद्धि को जन्म देती है, रजस् की प्रधानता अहकार को जन्म देती है, और तमस् की प्रधानता जड भूतो के उत्पादक तन्मात्र को जन्म देती है। इस विचार को अपनायें तो विकास में पहला पग निम्न रूप में होगा—



इन्द्रियों और मन को अहंकार की सन्तान समझ सकते हैं। दस इन्द्रियाँ बाह्य करण हैं, मन अन्त करण है। अहकार ही अपने करण बनाता है।

इस दृष्टिकोण के अनुसार, सांख्य के २५ तत्त्व इस तरह क्रमबद्ध होंगे—



४ ब्रह्माड विवेचन

जैसा हम देख चुके हैं, सांख्य में अव्यक्त और व्यक्त, मूल प्रकृति और दृष्ट जगत्, का भेद एक मौलिक सिद्धान्त है। जिस रूप-रग मे हम आज दृष्ट जगत् को देखते है, वह सदा इस रूप-रग में नही रहा। विकास का तत्त्व यह है कि छोटे-छोटे भेद, बहुत समय बीतने पर, बडे भेद बन जाते हैं। यहाँ हमारे लिए कुछ प्रश्न प्रस्तुत हो जाते हैं—

(१) अनुभव बताता है कि जगत् में परिवर्तन हो रहा है, और होता रहा है। अव्यक्त मे परिवर्तन आरम्भ कैसे हुआ? विज्ञान कहता है कि किसी प्राकृतिक पदार्थ की अवस्था बदल नही सकती, जब तक बाहर से कोई शक्ति इसमे परिवर्तन न करे। जो वस्तु स्थिर है, उसमें बाहरी प्रभाव के बिना गति नहीं हो सकती, जो गति मे है, वह ऐसे दबाव के बिना गति-विहीन नही हो सकती। अव्यक्त के बाहर तो कोई प्राकृतिक पदार्थ था ही नही, इसकी विश्राम-अवस्था कैसे समाप्त हो गयी?

(२) अव्यक्त ने विकास मे जो मार्ग चुना, क्या वह केवल सयोग या इत्तिफाक का फल है, या इसके लिए आरम्भ में ही हेतु मौजूद था?

इस प्रश्न को पूछते हुए, हम दृष्ट जगत् की प्रत्येक घटना को नही, अपितु विकास के प्रमुख चिह्नों को ही ध्यान में रखेंगे।

(३) विकास मे, प्रकृति मे विशिष्ट परिवर्तन क्या हुआ? जो कुछ व्यक्त हुआ, वह सब पहले से ही अव्यक्त मे मौजूद था, या कुछ चिन्ह ऐसे भी हैं, जिनकी बाबत कोई अनुमान नही हो सकता था, और जो नूतन चिह्न कहलाने के योग्य है।

१. विकासारम्भ का कारण

पहले प्रश्न में जिस कठिनाई की ओर सकेत किया गया है, उसने पश्चिम के विचारको को भी परेशान किया। परमाणुवादियो के सामने भी प्रश्न था कि आरम्भ में गति का आविर्भाव कैसे हुआ? उन्होने कहा कि सारे परमाणु भारी होने के कारण नीचे की ओर गिरते है, परन्तु वोझ में भेद होने के कारण, भारी परमाणु अविक वेग से गिरते है और हलके परमाणुओ को आ पकडते हैं। इन ठोकरो से स्थिति वदल जाती है और विकास होने लगता है। प्राचीन परमाणुवादियो को भी किसी तरह पता लग गया कि शून्य मे भारी और हलके पदार्थ एक ही वेग से नीचे गिरते हैं। कठिनाई से वचने के लिए, उन्होने कहा कि परमाणु नीचे गिरने में अपना मार्ग वदल भी सकते हैं, और इस तरह एक दूसरे को ठोकर लगा कर अनेक प्रकार की क्रिया को जन्म देते हैं। नवीन विज्ञान भी परमाणुओ को इस प्रकार की क्षमता देता है।

स्वाधीनता चेतना से युक्त है। यह चेतना कहाँ से आती है? साख्य के अनुसार प्रकृति अचेतन है, परन्तु चेतन पुरुष की दृष्टि में इसमें परिवर्तन होने लगता है। विकास के लिए आवश्यक है कि जड प्रकृति के अतिरिक्त चेतन पुरुप भी मूल तत्त्व की स्थिति मे मौजूद हो। प्रकृति का विकास पुरुप की दृष्टि मे ही हो सकता है।

यह साख्य में अव्यात्मवाद का अश है।

२. विकास-मार्ग

पुरुष की दृष्टि विकासारम्भ के लिए आवश्यक है, परन्तु जो मार्ग विकास ने चुना, उसके निश्चय में पुरुप का हाथ न था, इसका कारण स्वय प्रकृति की वनावट में मौजूद था। मूल प्रकृति की वनावट को समझने के लिए हम यही कर सकते है कि व्यक्त जगत् की स्थिति को ममझें। यह क्यो? इसलिए कि कार्य में जो गुण हैं, वह कारण में निहित होते हैं। साख्य के अनुसार, असत् से सत् की उत्पत्ति नही हो सकती और सत् का विनाश नही हो सकता। 'तत्त्व-समास' (७) मे कहा है कि दृष्ट जगत् तीन भागों में विभक्त है—अध्यात्म, अधिभूत और अविदैव। हम स्वभावत अपने आपसे आरम्भ करते है, प्रत्येक मनुष्य विश्व को दो भागो में वाँटता है—'मैं' और 'शेप जगत्'। इस विभाजन में जो रेखा प्रत्येक 'मैं' के गिर्द खीचती है, वह अन्य ऐसी रेखाओ से भिन्न होती है। 'शेप' में भी दो भाग किये जाते हैं—एक भाग में जीवित पदार्थ और चेतन प्राणी आते हैं, दूसरे मे जड जगत् आता है। इस तरह, दृष्ट जगत् में हम तीन भिन्न वस्तुऐं देखते हैं—चेतना, जीवन और जडत्व। ऊपर कहा गया है कि कार्य कारण में निहित होता है। इस नियम का प्रयोग करें तो कहना चाहिये

कि चेतना, जीवन और जडत्व का आधार मूल प्रकृति की बनावट में विद्यमान है। यह साख्य मत है। मूल-प्रकृति में तीन गुण हैं, जिनके कारण यह इन तीन अवस्थाओ में व्यक्त होती है। इस विषय मे साख्य-सिद्धान्त भारतीय विचार का अश ही बन गया है।

तीन गुण

गुण शब्द एक से अधिक अर्थों में लिया जाता है। इन सब में, गौण या अप्रधान होने का ख्याल पाया जाता है। जो वस्तु प्रथम पद नही रखती, वह गौण है। वृक्षो के पत्ते हरे, पीले, लाल होते हैं। कुछ पदार्थों में ये रग नही होते, जिनमें होते है, उनमें भी बदलते रहते है। कोई रग अपनी स्वतन्त्र सत्ता नही रखता, यह किसी वस्तु का रग होता है। वस्तु की अपेक्षा रग गौण है, इसलिए इसे गुण कहते हैं। यही अन्य विशेषणो की बाबत भी कह सकते हैं। इस भेद की नीव पर, हम द्रव्य और गुण में भेद करते हैं। पदार्थों की क्रिया भी गौण स्थिति रखती है। घोडा दौडता है, कुत्ता दौडता है, परन्तु दौडने का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही। क्रिया को भी द्रव्य का गुण कहते है। कुछ विचारक समग्र के भाग को भी समग्र का गुण कहते है, क्योकि भाग समग्र से गौण है। एक मनुष्य आँख फूटने पर भी मनुष्य ही रहता है, परन्तु जो आँख शरीर से निकाल दी जाय, उसका महत्त्व क्या रह जाता है?

साख्य में मूल-प्रकृति के तीन गुण बताये हैं—सत्त्व, रजस्, तमस्। आम विचार के अनुसार, प्रकृति के गुण इसके विशेषण हैं, जैसे रग फूल का विशेषण है। तथ्य यह है कि साख्य ने गुणो को विशेषणो के रूप में नही, अपितु अलग न हो सकने वाले भागो के रूप में देखा है। एक रस्सी की कल्पना करें, जो तीन भाजो का सयोग हो, और वह भाजें अलग न हो सकती हो। ऐसी रस्सी मूल-प्रकृति के लिए अच्छी उपमा है। प्रकृति की भाजें इसके तीन गुण हैं। यह रहते सदा एक साथ है, परन्तु इनका प्रभाव बढता घटता रहता है। जड पदार्थ मे तमस् की प्रधानता है, जीवित पदार्थों में रजस् प्रधान है, चेतनो में सत्त्व प्रधान है। मनुष्यो के स्वभाव और उनकी रुचियो में भी गुणो का भेद पाया जाता है।

साख्य सूत्र (६ ३८) में कहा है—

'सत्त्वादि गुण, प्रकृति स्वरूप होने से, प्रकृति के धर्म नही।' गुणो के स्वरूप, उनकी प्रक्रियाओ और उनके आपसी सम्बन्ध की बाबत 'कारिका' में कहा है—

'गुण प्रीति, अप्रीति और मोह स्वरूप हैं, प्रकाश, प्रवृत्ति और रोकने वाले है, एक दूसरे को दबाने, सहारा देने, प्रकट करने और एक दूसरे के साथ रहने वाले हैं।'

'सत्त्व हलका और प्रकाशक है, रजस् उत्तेजक और चल है, तम भारी और रोकने वाला है। दीपक के समान एक उद्देश्य से इनका काम है।'

(१२, १३)

गुणो के स्वरूप को समझने के लिए हम सघटन के प्रत्यय से सहायता ले सकते है। जड़ प्रकृति के स्तर पर एक उदाहरण लें। मिट्टी का एक ढेर पडा है। इसकी मात्रा है, परन्तु आकृति गौण चिह्न है। मिट्टी की ईंटें वनायी जाती हैं। प्रत्येक ईट का व्यक्तित्व है, इसकी सामग्री की मात्रा और आकृति दोनो निश्चित हैं। कुछ समय पहले हमारे वश मे था कि हम मिट्टी के ढेर से घडे वनायें, ईटें वनायें या कुछ और वनायें। अव जवकि ईटें पक चुकी हैं, यह चुनाव हमारे वश में नही रहा। प्रत्येक ईट अन्य ईंटो से भिन्न, एक स्वतन्त्र इकाई है। ईंटो का भवन वनायें। अव ईंटो का व्यक्तित्व ममाप्त हो गया है, वे एक दूसरी से गठित होकर एक समग्र का भाग वन गयी है। भवन में ईटो की स्थिति प्रीति का प्रकटन है, भवन में गठित होने से पहले उनमें अप्रीति थी। मिट्टी के ढेर में प्रीति और अप्रीति दोनो का अभाव था, न भवन का सघटन था, न ईटो का व्यक्तित्व था। इस अवस्था को मोह कह सकते हैं।

अव गुणो की प्रक्रिया की ओर देखें।

स्वत्व चेतन पदार्थों में प्रवान है, इनका चिह्न प्रकाश है। रजस् प्रवृत्ति को जन्म देता है प्राणधारी सभी गतिशील हैं, जीवन में स्थिरता कही नही। तमस् गति का वावक है, जड पदार्थों में कोई परिवर्तन नही होता, जव तक कि वाहर से कोई कारण इसे पैदा न करे।

गुणो के सम्वन्धो को समझने के लिए हम मन की प्रकियाओ को देख सकते हैं। ज्ञान, क्रिया और भाव, तीनो प्रत्येक चेतना-अवस्था में विद्यमान है वे एक साथ रहते हैं। किसी एक पक्ष की तीव्रता दूसरो को दवा देती है। गहरे विचार में, शरीर के अग अचल हो जाते हैं, और भाव भी पीछे हट जाता है। उद्वेग में चिन्तन नही हो सकता, जो क्रिया इसके प्रभाव में होती है, उसे 'कर्म' का पद नही दिया जाता। योद्धा रणभूमि में गभीर चिन्तन के अयोग्य होता है, उसे उस समय अपने घावो की पीडा भी अनुभूत नही होती। जहाँ तीव्र अवस्था में गुण एक दूसरे को दवाते है, वहा सीमाओ में होने पर एक दूसरे को सहारा देते और प्रकट करते हैं। हमारा ज्ञान और कर्म दोनो रुचि पर आवारित होते है, और यह दोनो रुचि को सवल वनाते हैं।

दृष्ट जगत् को सामूहिक रूप मे देखें, तो भी इन तीनो गुणो की प्रक्रिया दिखाई देती है। विज्ञान अपने अनुसन्वान में इस विश्वास से चलता है कि पदार्थो का स्थायी स्वभाव है—'प्रत्येक वस्तु वही है, जो वह है।' यह तमस् का प्रकाशन है। ऐसी स्थिरता

के अभाव में वस्तुओ को समझने का प्रयत्न ही निरर्थक है। प्रत्येक वस्तु अपने व्यक्तित्व को कायम रखने का यत्न करती है। बच्चे का जन्म इस बात की घोषणा है कि ससार की कोई शक्ति उसके आगमन को रोक नही सकी। पृथिवी के जिस स्थान को वह व्याप्त करता है, उसमें कोई पदार्थ प्रवेश नही कर सकता। यह रजस् का प्रकटन है।

ससार में अनेक पदार्थ विद्यमान हैं, परन्तु अनेकता के साथ एकता भी मौजूद है। अनेकता और एकता का सयोग ही व्यवस्था है, यह व्यवस्था ही विश्व को एक विश्व बनाती है। व्यवस्था सत्त्व का प्रकटन है। पदार्थों का निश्चित स्वभाव व्यक्तित्व कायम रखने की प्रवृत्ति, और व्यवस्था विश्व में क्रमश तमस्, रजस् और सत्त्व के चमत्कार हैं।

कारिका १३ में कहा है कि 'दीपक के समान, एक उद्देश्य से इन गुणो का काम है।' दीपक की सामग्री अचेतन मिट्टी है, तेल और बत्ती जलते हैं। तीनो के सहयोग से दीपक का अर्थ (उद्देश्य) पूरा होता है। यही हाल तीनो गुणो का है। उनका काम, जैसा आगे देखेंगे, विवेक रूपी प्रकाश का देना है।

३ विकास और नूतनता

जब तक प्रकृति अव्यक्त अवस्था में होती है, तीनो अश पूर्ण सामजस्य में होते हैं। इस सामजस्य के टूटने पर विकास का आरम्भ होता है। तीनो गुण रहते एक साथ हैं, परन्तु एक दूसरे की अपेक्षा उनका बल बढता घटता रहता है। इसके फलस्वरूप, एकता के स्थान में अनेकता व्यक्त हो जाती है। स्पेन्सर के अनुसार जीवन और चेतना आरम्भ से ही अव्यक्त प्रकृति में विद्यमान थे, उपयोगी समय पर व्यक्त हो गये। प्रश्न उठता है कि यदि यह आरम्भ से ही प्रकृति में निहित थे, तो इतनी देर अव्यक्त क्यो रहे ? फ्रास का दार्शनिक हेनरी बर्गसाँ कहता है कि विकास में यही नही होता कि जो कुछ गुप्त था, वह प्रकट हो जाय, अपितु कुछ नये चिह्न भी प्रकट होते है। विकास में नूतनता का भी स्थान है। इस ख्याल से बर्गसाँ ने अपने सिद्धान्त को 'उत्पादक विकास' का नाम दिया। यहाँ भी प्रश्न उठता है कि नूतन चिह्नो में जीवन और चेतना का ही क्यो आविर्भाव हुआ ? इसका कोई उत्तर नही मिलता। बर्गसाँ यह भी कहता है कि जीवन ही सत्ता का तत्त्व है। चेतना हर कही इसके साथ विद्यमान है, और प्रकृति की स्थिति ऐसे कोयले की है, जो कभी जलता था, परन्तु अब भस्म हो गया है। यहाँ नूतनता का सिद्धान्त छोड दिया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ये कठिनाइयाँ कपिल के ध्यान में थी। साख्य जीवन और

चेतना का अकारण आविर्भाव स्वीकार नहीं करता, न ही जड़, सजीव और चेतन को अभेद समझता है। साख्य के अनुसार जडत्व, जीवन और चेतना का आधार मूल प्रकृति के तीन गुणो (तम, रज और सत्त्व) में विद्यमान था। मूल प्रकृति भेद-रहित इकाई नही, अपितु तीन गुणो का सामजस्य है। जीवन और चेतना अकारण प्रकट नही होते, ये रजस् और सत्त्व के प्रकटन हैं।

४. मानव-विवेचन

विश्व-विवेचन के वाद हम मानव-विवेचन की ओर ध्यान देते है।

प्रत्येक प्राणी के लिए प्राकृतिक जगत् का एक अल्प, अतिअल्प, भाग विशेष महत्त्व का है। यह उसका शरीर है। जहाँ कही वह जाता है, उसका शरीर उसके साथ जाता है, उसके सुख-दुख विशेष रूप में उसके शरीर मे सम्बद्ध होते हैं, और वाह्य जगत् के साथ उसका सम्पर्क इस शरीर पर निर्भर होता है। शरीर का एक भाग अन्य प्राकृतिक पदार्थों की तरह हर किसी को दीखता है, कुछ भाग उसकी खाल में वन्द होते हैं और वहाँ अपना काम करते जाते हैं। इन भागो और इनके काम को दूसरे विशेष साधनो के प्रयोग से देख सकते है। अपने जिस भाग को वह विशेष अर्थों में 'मैं' कहता है, उसका स्पष्ट दर्शन केवल उसे ही हो सकता है। जैसा एक वैज्ञानिक ने कहा है, यदि कुछ वैज्ञानिक अपने यन्त्रों के साथ मेरे मेदे में घुस जाय, तो वह वहाँ मेदे की प्राकृतिक प्रक्रियाओ को तो देख सकेंगे, परन्तु मेरी भूख-प्यास का वोध उन्हें नही हो सकता। यह वोध केवल मुझे ही हो सकता है।

मानव-विवेचन में साख्य दर्शन ने तीन वातो को विचार का विषय वनाया है—

(१) चेतना-धारा, जिसका साक्षात् वोध केवल व्यक्ति को ही होता है,

(२) आन्तरिक प्रक्रियाएँ, जो व्यक्ति के जीवन को कायम रखती हैं,

(३) वह करण और प्रक्रियाएँ जिनसे व्यक्ति वाह्य जगत् के सम्पर्क में आता है।

इन तीनो को क्रमश ५ अभिवुद्धियाँ, ५ वायु या प्राण, और १० इन्द्रियाँ कहते हैं। २५ तत्त्वो की सूची में वुद्धि और १० इन्द्रियो का ज़िक्र है। यहाँ वुद्धि को वोध या चेतना के अर्थों में लेकर, उसके पाँच रूपो का वर्णन किया है। अव हम अभि-वुद्धियो, प्राणो और इन्द्रियो की वावत साख्य मत को देखेंगे।

(१) पांच अभिवुद्धिया

जव हम अन्दर की ओर देखते हैं, तो एक धारा या प्रवाह को देखते हैं। वाह्य जगत् से नये वोधो का आगमन होता रहता है—मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, स्पर्श करता हूँ। इस वोध को 'व्यवसाय' का नाम दिया गया है। कुछ विचारक वोध को क्रिया

के अधीन करते हैं और कहते हैं कि प्रत्येक बोध स्थिति-परिवर्तन की घोषणा करता है और माग करता है कि हम अपने आपको इसके अनुकूल बनायें। मैं कुर्सी पर बैठा लिख रहा हूँ। अचानक एक वस्तु मेरे दर्शन-क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाती है। वह एक बिल्ली हो तो मैं उसे देखता हूँ, और अपना काम जारी रखता हूँ। यदि वह सर्प हो, तो मैं उदासीन नही रह सकता, मुझे नयी स्थिति में उपयोगी क्रिया करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसका अर्थ यह है कि जब कोई बोध आता है, तो मै अपने लिए उसका महत्त्व समझना चाहता हूँ, मैं उसे उसकी विशुद्ध स्थिति में नही देखता, अपितु अपने सम्बन्ध मे देखता हूं। यह चेतना में दूसरा पक्ष है, इसे 'अभिमान' या 'अहकार' कहते हैं। ऐसे बोध के साथ ही चेतना में एक नया अश व्यक्त हो जाता है। यह भाव है। मैं वर्तमान स्थिति से असतुष्ट होकर चाहता हूँ कि यह बदल जाय। यह 'इच्छा' अपने आप में स्थिति को बदलने के लिए पर्याप्त नही। इसके लिए कुछ करना होता है। मै निश्चय करता हूँ कि उपयोगी उपाय का प्रयोग करूँ, साप को कुचल दूँ, या उससे परे हो जाऊँ। यह निश्चय उपयोगी क्रिया में परिणत होता है। चेतना के अन्तिम अगों को 'कर्त्तव्यता' और 'क्रिया' का नाम दिया जाता है।

इस तरह पाँच अभिवुद्धियाँ—चेतना के प्रकाशन—ये हैं—'व्यवसाय', 'अभिमान', 'इच्छा', 'कर्त्तव्यता', 'क्रिया'।

कुछ भाष्यकारो ने अभिवुद्धि को 'वृत्ति' के अर्थ में लिया है, और योग-दर्शन की ५ वृत्तियो—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति को ५ अभिवुद्धियाँ बताया है।

बुद्धि अव्यक्त का पहला विकार है। इसमे सत्व, रज और तम तीनो गुण मौजूद हैं, परन्तु तम नाममात्र है। सत्व पहली दो अभिवुद्धियो—व्यवसाय और अभिमान—मे प्रमुख है, रज चौथी और पाचवी में प्रमुख है, इच्छा मे दोनो सम्मिलित हैं इच्छा करने वाला जानता है कि वह क्या चाहता है, और इष्ट पदार्थ की ओर झुकता है।

(२) दस इन्द्रियां

ज्ञानेन्द्रियाँ—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य जगत् के बोध का स्रोत है। ज्ञानेन्द्रियाँ हमें विविध प्रकार का ज्ञान देती हैं, और यद्यपि उन सबकी कीमत एक नही, तो भी सभी मूल्यवान् हैं। घ्राण और रसना मेदे के लिए चौकीदार का काम करती हैं—ये बताती हैं कि जो कुछ हम खाने लगे हैं, वह खाने के योग्य भी है या नही। कान हमें दूर से ही बता देता है कि हमारा वातावरण क्या है। प्रकाश के अभाव में यह अपना काम करता जाता है। आँख प्रकाश मे ही देखती है, परन्तु जब काम करती है तो

वहुत हितकर सिद्ध होती है। हम करोडो मील दूर सूर्य को और उससे भी परे के तारो को देखते हैं। आँख की प्रमुख विशेषता यह है कि यह, दृष्ट का विश्लेषण करके, उसके विविध भागो को एक साथ अलग-अलग दिखा सकती है। हम वाग में जाते हैं। वहाँ अनेक प्रकार के फूल है। उन सब की महँक मिलकर एक महँक के रूप में अनुभूत होती है। रेडियो पर सगीत सुनते हुए हम यह नही कह सकते कि कितने गायक एक साथ गा रहे है। आँख समूह में प्रत्येक को दूसरो से अलग देख सकती है। भेद को जानने के लिए भी आँख अन्य इन्द्रियो की अपेक्षा अग्रसर है, यह प्रकाश में १% भेद को देख सकती है, अन्य इन्द्रियाँ इतने थोडे भेद को पहिचान नही सकती। निश्चितता की दृष्टि से, स्पर्श प्रमुख है। जहा सन्देह होता है कि जो कुछ हम देखते है, वह पानी है या रेत है, स्पर्श तुरन्त सन्देह को दूर कर देता है। 'देखना तो विश्वास करना है, स्पर्श वास्तविकता है।'

कर्मेन्द्रियाँ—कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं। यह मनुष्य के प्रमुख करण है। अन्य अनेक करण जो मनुष्य ने वनाये हैं, कर्मेन्द्रियो की रचना हैं, और उनका प्रयोग भी कर्मेन्द्रियो के प्रयोग का फल होता है। कर्मेन्द्रियो में हाथ प्रमुख है। हाथ की अगुलियाँ और अँगूठा हमें वस्तुओं को पकडने के योग्य वनाते हैं। इस भेद ने मनुष्य और पशुओ में इतना वडा अन्तर कर दिया है। पाँव हमें एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचा देते हैं, और इस तरह स्पर्श के लिए हमारी भुजाओ को वहुत लवा वना देते हैं।

जीवन के निर्वाह के लिए हाथ और पाँव वहुत हितकर हैं। हम काम हाथो से करते हैं, और पाव हमें काम के स्थान तक ले जाते हैं। हमारे काम का प्रमुख उद्देश्य जीवन का कायम रखना है। इसके लिए आवश्यक है कि हम पर्याप्त मात्रा में खायें-पियें। जो खुराक हमारे अन्दर जाती है, वह सारी हमारे शरीर का अग नही वन जाती। इसके नाकाम भाग को वाहर फेंकना भी आवश्यक होता है। यह काम मल-मूत्र का त्याग करने वाली दो इन्द्रियाँ करती हैं। इनमें एक मनुष्य जाति को जारी रखने का साधन भी है।

यहाँ तक हमने व्यक्ति के जीवन को देखा है, परन्तु मनुष्य सामाजिक प्राणी है। पशु-पक्षी एक दूसरे के साथ रहते हैं, उनमें कुछ एक दूसरे के साथ मिलकर काम भी कर सकते हैं, और करते है, परन्तु वे मिलकर विचार नही कर सकते। यह योग्यता केवल मनुष्य में ही है। इस योग्यता का आधार वाणी है। प्राण-धारियो में केवल मनुष्य ही सवाद कर सकते हैं। सामाजिक व्यवहार में मनुष्य की प्रमुख कर्मेन्द्रिय जिह्वा है। यही इन्द्रिय ज्ञान और कर्म दोनो का करण है।

४

के अधीन करते हैं और कहते हैं कि प्रत्येक बोध स्थिति-परिवर्तन की घोषणा करता है और माग करता है कि हम अपने आपको इसके अनुकूल बनाये। मैं कुर्सी पर बैठा लिख रहा हूँ। अचानक एक वस्तु मेरे दर्शन-क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाती है। वह एक बिल्ली हो तो मैं उसे देखता हूँ, और अपना काम जारी रखता हूँ। यदि वह सर्प हो, तो मैं उदासीन नही रह सकता, मुझे नयी स्थिति में उपयोगी क्रिया करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसका अर्थ यह है कि जब कोई बोध आता है, तो मैं अपने लिए उसका महत्त्व समझना चाहता हूँ, मैं उसे उसकी विशुद्ध स्थिति में नही देखता, अपितु अपने सम्बन्ध में देखता हूं। यह चेतना में दूसरा पक्ष है, इसे 'अभिमान' या 'अहकार' कहते है। ऐसे बोध के साथ ही चेतना में एक नया अश व्यक्त हो जाता है। यह भाव है। मैं वर्तमान स्थिति से असतुष्ट होकर चाहता हूँ कि यह बदल जाय। यह 'इच्छा' अपने आप में स्थिति को बदलने के लिए पर्याप्त नही। इसके लिए कुछ करना होता है। मैं निश्चय करता हूँ कि उपयोगी उपाय का प्रयोग करूँ, साप को कुचल दूं, या उससे परे हो जाऊँ। यह निश्चय उपयोगी क्रिया में परिणत होता है। चेतना के अन्तिम अशो को 'कर्त्तव्यता' और 'क्रिया' का नाम दिया जाता है।

इस तरह पाँच अभिबुद्धियाँ—चेतना के प्रकाशन—ये है—'व्यवसाय', 'अभिमान', 'इच्छा', 'कर्त्तव्यता', 'क्रिया'।

कुछ भाष्यकारो ने अभिबुद्धि को 'वृत्ति' के अर्थ में लिया है, और योग-दर्शन की ५ वृत्तियो—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति को ५ अभिबुद्धियाँ बताया है।

बुद्धि अव्यक्त का पहला विकार है। इसमें सत्व, रज और तम तीनो गुण मौजूद है, परन्तु तम नाममात्र है। सत्व पहली दो अभिबुद्धियो—व्यवसाय और अभिमान—में प्रमुख है, रज चौथी और पाचवीं मे प्रमुख है, इच्छा में दोनो सम्मिलित है. इच्छा करने वाला जानता है कि वह क्या चाहता है, और इष्ट पदार्थ की ओर झुकता है।

(२) दस इन्द्रिया

ज्ञानेन्द्रियाँ—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य जगत् के बोध का स्रोत है। ज्ञानेन्द्रियाँ हमें विविध प्रकार का ज्ञान देती है, और यद्यपि उन सबकी कीमत एक नही, तो भी सभी मूल्यवान् है। घ्राण और रसना मेदे के लिए चौकीदार का काम करती हैं—ये बताती हैं कि जो कुछ हम खाने लगे हैं, वह खाने के योग्य भी है या नही। कान हमें दूर से ही बता देता है कि हमारा वातावरण क्या है। प्रकाश के अभाव में यह अपना काम करता जाता है। आँख प्रकाश मे ही देखती है, परन्तु जब काम करती है तो

वहुत हितकर सिद्ध होती है। हम करोडो मील दूर सूर्य को और उससे भी परे के तारो को देखते हैं। आँख की प्रमुख विशेषता यह है कि यह, दृष्ट का विश्लेषण करके, उसके विविध भागो को एक साथ अलग-अलग दिखा सकती है। हम वाग में जाते है। वहाँ अनेक प्रकार के फूल हैं। उन सब की महँक मिलकर एक महँक के रूप में अनुभूत होती है। रेडियो पर सगीत सुनते हुए हम यह नही कह सकते कि कितने गायक एक साथ गा रहे हैं। आँख समूह में प्रत्येक को दूसरो से अलग देख सकती है। भेद को जानने के लिए भी आँख अन्य इन्द्रियो की अपेक्षा अग्रसर है, यह प्रकाश में १% भेद को देख सकती है, अन्य इन्द्रियाँ इतने थोडे भेद को पहिचान नही सकती। निश्चितता की दृष्टि से, स्पर्श प्रमुख है। जहा सन्देह होता है कि जो कुछ हम देखते हैं, वह पानी है या रेत है, स्पर्श तुरन्त सन्देह को दूर कर देता है। 'देखना तो विश्वास करना है, स्पर्श वास्तविकता है।'

कर्मेन्द्रियाँ—कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं। यह मनुष्य के प्रमुख करण हैं। अन्य अनेक करण जो मनुष्य ने वनाये हैं, कर्मेन्द्रियो की रचना है, और उनका प्रयोग भी कर्मेन्द्रियो के प्रयोग का फल होता है। कर्मेन्द्रियो में हाथ प्रमुख है। हाथ की अगुलियाँ और अँगूठा हमें वस्तुओ को पकडने के योग्य वनाते हैं। इस भेद ने मनुष्य और पशुओ में इतना वडा अन्तर कर दिया है। पाँव हमें एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचा देते है, और इस तरह स्पर्श के लिए हमारी भुजाओ को वहुत लवा वना देते है।

जीवन के निर्वाह के लिए हाथ और पाँव वहुत हितकर हैं। हम काम हाथो से करते है, और पाव हमें काम के स्थान तक ले जाते है। हमारे काम का प्रमुख उद्देश्य जीवन का कायम रखना है। इसके लिए आवश्यक है कि हम पर्याप्त मात्रा में खायें-पियें। जो खुराक हमारे अन्दर जाती है, वह सारी हमारे शरीर का अग नही वन जाती। इसके नाकाम भाग को वाहर फेंकना भी आवश्यक होता है। यह काम मल-मूत्र का त्याग करने वाली दो इन्द्रियाँ करती है। इनमें एक मनुष्य जाति को जारी रखने का साधन भी है।

यहाँ तक हमने व्यक्ति के जीवन को देखा है, परन्तु मनुष्य सामाजिक प्राणी है। पशु-पक्षी एक दूसरे के साथ रहते हैं, उनमें कुछ एक दूसरे के साथ मिलकर काम भी कर सकते हैं, और करते है, परन्तु वे मिलकर विचार नही कर सकते। यह योग्यता केवल मनुष्य में ही है। इस योग्यता का आधार वाणी है। प्राण-धारियो में केवल मनुष्य ही सवाद कर सकते हैं। सामाजिक व्यवहार में मनुष्य की प्रमुख कर्मेन्द्रिय जिह्वा है। यही इन्द्रिय ज्ञान और कर्म दोनो का करण है।

(३) पाच प्राण

दोनो प्रकार की इन्द्रियाँ शरीर के विशेष अग हैं और जीवन कायम रखने के लिए अपनी क्रिया करती हैं। जीवन की मौलिक क्रिया शरीर के अन्य भाग करते हैं। यह भाग अकेले अग नही, परन्तु मडल हैं। प्रत्येक मडल की अपनी विशेष प्रक्रिया है, उनके सहयोग का नाम ही जीवन है। इन प्रक्रियाओ को ही प्राण या वायु कहते हैं।

जो कुछ कर्मेन्द्रियाँ करती हैं, उसका हमें ज्ञान होता है। जो क्रिया सकल्प का परिणाम होती है, उसके साथ तो ज्ञान मिला होता ही है। मडलो की प्रक्रियाओ की स्थिति भिन्न है, और इसका एक कारण है। भोजन करते समय मैं खाद्य पदार्थ को मुँह मे डालता हूँ। यह क्रिया सकल्प का फल है, और मैं जानता हूँ कि मैं यह कर रहा हूँ। खाद्य पदार्थ का चबाना और चबाने के बाद इसका निगलना भी ऐसी क्रियाएँ हैं, जिनका मुझे बोध होता है। यह मेरे वश मे है कि मैं खुराक मुँह में डालूँ या न डालूँ, मेरे वश में हैं कि इसे चबाऊँ या न चबाऊँ, इसके बाद इसे निगलना या न निगलना भी मेरे वश में है। परन्तु जब खुराक मेदे में चली जाती है तो यह मेरे वश में नही कि वह वहाँ पचे या न पचे। जो कुछ वहाँ होता है, वह मेरे सकल्प पर निर्भर नही। मेरा सकल्प प्रभाव डालने में असमर्थ है, इसलिए मेरा ज्ञान भी महत्त्व नही रखता। मैं सोते हुए खाना खा नही सकता, परन्तु निद्रा में मेदा और अन्दर के अन्य भाग अपना काम करते हैं। इन मडलों का काम इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसे व्यक्ति के सकल्प और उसके ज्ञान से स्वतन्त्र कर दिया गया है।

वायु पाँच हैं—'प्राण', 'अपान', 'समान', 'व्यान', 'उदान'। प्राणायाम के सम्बन्ध में, प्राण अन्दर जाने वाला श्वास है, अपान बाहर निकलने वाला श्वास है। साख्य में इन्हें शक्तियो या प्रक्रियाओ के अर्थ में लिया है, परन्तु अन्दर ले जाने और बाहर फेंकने के भेद को सामने रखा है। प्राण का सम्बन्ध शरीर के ऊपर के भाग मुख और नासिका से है, अपान का सम्बन्ध त्याग-इन्द्रियो से है। ग्रहण-मडल और त्याग-मडल प्राण और अपान के करण हैं। जो कुछ हम खाते हैं, उसका प्रयोजन यह होता है कि उसमें से काम का अश अलग करके, उसे शरीर के प्रत्येक भाग को पहुँचा दिया जाय। मैं आम खाता हूँ, चावल खाता हूँ। यह आम और चावल तो मेरी अगुलियों के सिरो तक पहुँच कर मुझे लिखने की योग्यता नही देते। शरीर में पहुँच कर आम आम नही रहता, चावल चावल नही रहते। विविध पदार्थों को जिन्हें हम खाते हैं, अभेद बनाना और शरीराश बनने के लिए तैयार करना आवश्यक है। यह 'समान' का काम है, पाचक-मडल इसका करण है। जो कुछ भी हम

खाते हैं, वह पिस कर इतना पतला वनता है कि अतड़ियो की दीवारो से गुजर कर रक्त-धारा में जा पहुँचे। ऐसी स्थिति हो जाने पर, ऐसे मडल का काम आरम्भ होता है, जो इस सामग्री को शरीर के हरएक भाग में पहुँचा दे। यह सचार मडल है। इस मडल की प्रक्रिया को 'व्यान' का नाम दिया है। यह नाम वहुत उपयोगी है। रक्त शरीर के सभी भागो में पहुँचता है, सारे शरीर में व्यापक है। यह शरीर के असख्य घटको को खुराक पहुँचा कर उन्हें जीवित रखता है।

पाँचवाँ वायु 'उदान' है। उदान में मौलिक प्रत्यय 'ऊपर उठना' है। जीवन का एक प्रमुख चिह्न ऊपर उठना या वृद्धि है। रज और वीर्य्य के सयोग से गर्भ में एक घटक वनता है, उससे दो वनते हैं, दो से चार, और यह क्रम जारी रहता है। इसके फलस्वरूप वच्चे का शरीर जन्म के समय असख्य घटको का समूह होता है।

इस विपय में तत्त्व-समास में यही कहा है—'पाँच वायु'। 'कारिका' मे भी इतना ही कहा है—'वायु पाँच हैं।' व्याख्या तो अलग रही, वायुओ के नाम तक नही दिये।

५. अविद्या और अशक्ति

पाँच प्राणो का काम हमें जीवित रखना है, इन्द्रियो का काम जीवन को सफल वनाना है। जीवन व्यक्ति और उसके वातावरण में अनुकूलता का दूसरा नाम ही है। इस अनुकूलता के लिए आवश्यक है कि हम वातावरण को समझें। ज्ञानेन्द्रियाँ इसका प्रमुख साधन हैं। वातावरण को समझने के वाद दूसरी आवश्यकता यह है कि हम अपने हित के लिए उसका प्रयोग कर सकें। इसमें कर्मेन्द्रियाँ सहायक होती हैं। मुझे नदी के पार जाना है, और इसमें वाढ आ गयी है। मैं यह जानता हूँ कि मनुष्य का शरीर जल से भारी है और लकडी उससे हलकी है। यह ज्ञान मुझे तभी सहायता दे सकता है, जव मैं नाव वनाकर उसका प्रयोग कर सकूँ। वातावरण का ज्ञान और उसके प्रयोग की योग्यता दोनो ही मूल्यवान वस्तुएँ हैं। जीवन में पग-पग पर हमें असफलता का सामना करना पडता है। इस असफलता के दो प्रमुख कारण अविद्या और अशक्ति हैं। अव इनकी वावत कुछ विचार करें।

१. अविद्या

तत्त्व समास १२ में कहा है—'पाँच प्रकार की अविद्या'।

'कारिका' में और सूत्रों में अविद्या के लिए 'विपर्य्यय' शब्द का प्रयोग किया है। इस जरा से भेद से हमें सांख्य का आशय समझने में सहायता मिलती है।

भाष्यकार प्राय अविद्या के पाँच रूपो को 'अविद्या', 'अस्मिता', 'राग', 'द्वेष', 'अभिनिवेश' बताते है। योगदर्शन में इन्हें पाँच क्लेश कहा है। अविद्या तो स्वय इस सूची मे विद्यमान है, अविद्या को अविद्या का एक रूप कहने का क्या अर्थ है? 'कारिका' और सूत्रों मे अविद्या के स्थान में विपर्य्यय शब्द का प्रयोग किया है। विपर्य्यय योग की पाँच वृत्तियो मे दूसरी वृत्ति है। यह पहली वृत्ति (प्रमाण = प्रत्यक्ष) के प्रतिकूल है। विपर्य्यय सत्य-ज्ञान नही, न ज्ञान का अभाव है, यह मिथ्या-ज्ञान है। इन्द्रिय-जनित ज्ञान यथार्थ ज्ञान है, जब यह किसी वस्तु को उसके असली रूप में दिखाता है, यह मिथ्या-ज्ञान है, जब यह उसे किसी अन्य रूप मे दिखाता है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय हमें धोखा दे सकती है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच प्रकार के विपर्य्यय को जन्म देती हैं। हम रस्सी को सर्प देखते है, अधेरे में सुनी वायु की ध्वनि को चोर के पाँव की आहट समझते है, ज्वर में मीठी वस्तु को कड़वा पाते हैं, भय के प्रभाव में सुथरे कमरे में दुर्गंध की शका करते है, स्पर्श से ताप का उलटा अन्दाजा करते है। पाँच प्रकार की अविद्या इन्द्रियजनित मिथ्या-ज्ञान के पाँच रूप है। हर हालत में कारण इन्द्रिय-दोष या निराधार अनुमान होता है।

२ अशक्ति

फ्रैन्सिस वेकन के कथनो में सबसे प्रसिद्ध कथन यह है—'ज्ञान शक्ति है।' इसी को दूसरी ओर से देखें, तो कहेंगे कि 'अविद्या अशक्ति है।' साख्य दर्शन मे २८ प्रकार की अशक्ति का वर्णन किया है। प्रथम स्थान ज्ञानेन्द्रियो, कर्मेन्द्रियो और मन के विकार को दिया है। अधा सडक पर कहता है—'बावा आँखे वडी नियामत हैं।' मै उससे पूछता हूँ—'तुम्हे कैसे पता है? तुम तो देख ही नही सकते।' वह कहता है—'इसीलिए तो मैं जानता हूँ, तुम तो जान ही नही सकते।' वहरे, लूले, गूँगे जानते है कि इन्द्रियो का विकार कितनी बडी अशक्ति है। इन्द्रियाँ काम करे, और मन में विकार हो, तो अवस्था और भी बुरी हो जाती है। ज्ञान के साथ भाव और क्रिया भी चेतना के पक्ष हैं। हम जीवन की सफलता को प्राय एक या दूसरे प्रकार की सिद्धि में देखते हैं। तुष्टि सिद्धि का चिह्न होता है, हर प्रकार की सफलता तुष्टि में व्यक्त होती है। इन्द्रियो और मन के विकारो से ११ प्रकार की अशक्ति पैदा होती है, शेप १७ अशक्तियो में साख्य ९ अतुष्टियो और ८ असिद्धियो का वर्णन करता है। अभी हम तुष्टियो और सिद्धियो का जिक्र करेंगे। उसके वाद पाठक अतुष्टियो और असिद्धियो की वावत सहज ही चिन्तन कर सकेंगे।

६. तुष्टि और सिद्धि

१. नव प्रकार की तुष्टि

जीवन आन्तरिक स्थिति और वाहरी स्थिति की अनुकूलता पर निर्भर है। अनेक हालतो में यह अनुकूलता अपूर्ण होती है और हम त्रुटि को दूर करना चाहते हैं। जव अपने यत्न में सफल हो जाते हैं तो फिर अपने आपको सुरक्षित अवस्था में पाते हैं। इच्छा-पूर्ति ही तुष्टि है।

असतोप के दो कारण हैं—एक वाह्य, दूसरा आन्तरिक। तृप्ति के लिए हम तृप्ति के साधनो को प्राप्त करना चाहते हैं। यदि इच्छा करने पर ही यह सावन हमारे पास पहुँच जायें, तो स्थिति वहुत सुखद हो, परन्तु स्थिति इससे भिन्न है। हमें सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए यत्न करना पडता है,और यह यत्न दु खद होता है। प्राप्त करने के वाद, मम्पत्ति को सुरक्षित रखना भी एक वडी समस्या है। सम्पत्ति के व्यय होने पर हम दुखी होते हैं। तृप्ति के साथ अतृप्ति सम्मिलित होती है, एक प्राणी की तृप्ति किसी अन्य प्राणी की हानि के साथ वँधी होती है। तुष्टि के लिए दो वातो में से एक का होना आवश्यक है—या तो हम अपनी कामनाओं को पूरा करने में समर्थ हो, या अपनी स्थिति को घ्यान में रखते हुए अपनी मागो को सीमित करें। भारत में दूसरा उपाय अपनाया गया है। इस मनोवृत्ति को 'उपरति' या 'उदासीनता' कहते हैं। सम्पत्ति को प्राप्त करने, उसे सुरक्षित रखने, उसके घाटे को पूरा करने में दुख होता है, भोग में आन्तरिक त्रुटि और अन्य प्राणियो की हानि भी दुख का कारण है। इन पाँचो दुखो का ध्यान करके अपने आपको मिकोडना पाँच प्रकार की वाहरी तुप्टि है।

इस तरह हम प्रकृति के शासन से एक सीमा तक अपने को स्वाधीन वना सकते हैं। यह स्वाधीनता आत्म-उन्नति में सहायक होती है। कुछ लोग उदासीनता को साधन नही, साध्य वना लेते हैं। वह आत्मिक उन्नति के मवन्ध में भी सकोच को घ्येय वनाते हैं, परन्तु यहाँ तो मिकुडने का कोई काम नही, फैलने की आवश्यकता है। इस क्षेत्र में 'दैवी असतुप्टि' काम आती है। यहाँ तुप्टि प्रमाद का दूसरा नाम है।

यह तुप्टि चार प्रकार की है—'प्रकृति तुप्टि', 'उपादान तुप्टि', 'काल तुप्टि' और 'भाग्यतुप्टि'। इम सूची में उन कारणो की ओर सकेत किया है, जिनके प्रभाव में व्यक्ति विपयो से विरक्त होने पर, तत्त्व-ज्ञान की ओर से भी उदासीन हो जाता है। यह कारण क्या है?

पहला कारण यह विश्वास है कि प्रकृति का विकास आत्मा के कल्याण के लिए ही होता है, यह कल्याण होकर ही रहेगा। हम इसके लिए यत्न करें या न करें, इससे परिणाम में कुछ भेद नही पडता। ससार की शक्तियाँ सम्पूर्णता की ओर चल रही हैं। ऐसा आरभ में स्पेन्सर का विचार था।

ऐसी उदासीनता का दूसरा कारण सन्यास है। सन्यास का अर्थ सर्वत्याग है। सन्यासी समझने लगता है कि सन्यास में इच्छा और कर्म का त्याग भी सम्मिलित है, तत्त्व-ज्ञान की लालसा भी छोड देनी चाहिये। इस तुष्टि को उपादान-तुष्टि का नाम दिया गया है।

कुछ लोग यह तो नही कहते कि प्रकृति का विकास आप ही सब कुछ कर लेगा, न यह समझते है कि सन्यास ने उन्हें हर प्रकार के उत्तरदायित्व से विमुक्त कर दिया है, परन्तु ख्याल करते हैं कि दौडने की आवश्यकता नही, साधारण चाल ही पर्याप्त है। ईरान के कवि हाफिज़ ने कहा था—'वह कौन-सा मार्ग है, जो कभी समाप्त नही होता ?' यह लोग काल पर भरोसा करते हैं, इनकी तुष्टि को काल-तुष्टि का नाम दिया गया है।

चौथी श्रेणी में वह लोग आते हैं जो मनुष्य के यत्न में विश्वास नही करते और कहते हैं कि मोक्ष भाग्य से प्राप्त होता है किसे मिलेगा, किसे नही मिलेगा—यह दाता जानता है, भिखारी नही जान सकते। इस तुष्टि को भाग्य-तुष्टि कहते हैं।

आत्मोन्नति मे नियम यह है—'कही टिको नही, निरन्तर आगे बढते जाओ।'

तुष्टियो मे पहली पाँच सहायक हैं, शेष चार बाधा बनती हैं।

२. आठ प्रकार की सिद्धि

सिद्धियो के सबन्ध में फल और उपाय, साध्य और साधन, का भेद किया जाता है। साख्य के अनुसार तत्त्व-ज्ञान का उद्देश्य तीन प्रकार के दुखो की निवृत्ति है। फल की दृष्टि से तीन सिद्धियाँ ये हैं—

(१) आध्यात्मिक दुखहान,
(२) आधिदैविक दुखहान,
(३) आधिभौतिक दुखहान।

शेष पाँच सिद्धियाँ साधन रूप हैं। तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के निम्न उपाय बताये गये हैं—

१. ऊह

ऊह तर्क की अपूर्व जन्मजात योग्यता है। जिन लोगो में यह योग्यता होती है, उनका वोध प्राय आन्तरिक प्रकाश होता है।

२. शब्द

शब्द से अभिप्राय गुरु की औपचारिक शिक्षा है।

३. अध्ययन

हम मौखिक शिक्षा एक गुरु या कुछ गुरुओ से लेते है, परन्तु हमारे ज्ञान का वडा भाग पुस्तको के पाठ से प्राप्त होता है। इस समय अध्ययन हमें भूत काल के साख्य आचार्यो के सम्पर्क में ला रहा है।

४. सुहृत्प्राप्ति

सुहृत् या सुहृद् का अर्थ है—'अच्छे हृदय वाला, सखा।'

कभी हमे अकस्मात् किसी विद्वान से मिलने का अवसर मिलता है, और हम उससे ज्ञान प्राप्त करते है। सुहृत् को सखा के अर्थ में लें तो यह स्पष्ट ही है कि तत्त्व-ज्ञान भी, ज्ञान की अन्य शाखाओ की तरह, सहपाठियो के सवाद से वढता है।

५. दान

दानशील पुरुप को विद्वानो के सम्पर्क के अविक अवसर मिलते है। जो कोई उसका आतिथ्य स्वीकार करता है, वह उमे कुछ दे ही जाता है।

७ मौलिक अर्थ

'तत्त्व-समास' के आरभ में ही २५ तत्त्वो की वावत कहा है। इनमें मूलतत्त्व पुरुप और प्रकृति हैं। प्रकृति अव्यक्त से व्यक्त का रूप ग्रहण करती है। पिछले पृष्ठो में हमने इन तीनो की वावत साख्य मत सरसरी दृष्टि से देखा है। पश्चाद्दर्शन के रूप में, पुरुप और प्रकृति के गुणो या धर्मों की ओर सकेत किया गया है। यह धर्म या 'मौलिक-अर्थ' दस हैं। इनमें चार पुरुप और प्रकृति दोनो में पाये जाते हैं, तीन-तीन पुरुप और प्रकृति के विशेषण हैं।

सव के सामान्य वर्मो या अर्थो में पहला यह है कि अव्यक्त और पुरुप दोनो का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। प्रकृतिवाद चेतना को प्रकृति का एक विकार वताता है, अध्यात्मवाद प्रकृति को मानसिक चित्र समझता है। साख्य सिद्धात अद्वैत को

इसके दोनो रूपो में अस्वीकार करता है और पुरुष और प्रकृति दोनो को स्वाधीन अस्तित्व देता है।

पुरुष और प्रकृति दो स्वाधीन सत्ताएँ हैं, परन्तु इनमें सयोग की क्षमता है। इस सयोग के फलस्वरूप ही प्रकृति के गुणो का सामजस्य टूटता है, और विकास का आरभ होता है। यह सयोग अनित्य होता है, विकास के पीछे अतिविकास होता है, और यह क्रम जारी रहता है। सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि होती है। इसे सचार और प्रतिसचार का नाम दिया गया है। प्रतिसचार में भी पुरुष और प्रकृति का अस्तित्व बना रहता है, यद्यपि उनका सयोग टूट जाता है। सयोग और वियोग दोनो हालतो में पुरुष और प्रकृति की सत्ता बनी रहती है—दोनो नित्य तत्त्व हैं।

इस तरह अस्तित्व, योग, वियोग और नित्यत्व पुरुष और प्रकृति के सामान्य धर्म या अर्थ हैं।

विकास में भेद प्रकट होते हैं। अव्यक्त प्रकृति भेदरहित होती है। विकसित प्रकृति में हम हर ओर प्रयोजन के चिह्न पाते हैं। प्रकृति आप तो जड है और इसका अपना कोई प्रयोजन नही। यह जो कुछ करती है, दूसरे के अर्थ या हित में करती है। एकरूप होना, अर्थवत् होना, और दूसरे (पुरुष) के हित में काम करना अव्यक्त के विशेषण हैं।

पुरुष प्रकृति से भिन्न है।

अपने विशुद्ध स्वरूप में यह अकर्त्ता है। जो कुछ ससार में होता है, प्रकृति के गुणो का खेल है, यद्यपि इस खेल का आरभ पुरुष की दृष्टि में ही हो सकता है। पुरुष खेल खेलता नही, खेल देखता है।

प्रकृति एक है, विकास में यह अनेक रूप धारण कर लेती है। पुरुष अनेक हैं। लोहे की सलाख के दो टुकडे हो सकते हैं, दो सलाखो को पिघला कर एक सलाख बना सकते हैं, परन्तु पुरुष की हालत में ऐसा परिवर्तन सभव नही। जैसा विलियम जेम्स ने कहा, 'पुरुषो के जगत् में 'निरपेक्ष बहुत्व' नियम है।'

पुरुष के तीन विशेषण ये हैं—

यह प्रकृति से भिन्न है, अपने आप में अकर्त्ता है, और अनेकसख्य है।

८. प्रयोजन, बन्ध और मोक्ष

१. विकास-प्रयोजन

जैसा हमने देखा है, प्रकृति का विकास पुरुष की दृष्टि में होता है। इस सयोग

का असर पुरुष पर भी पडता है, वह भ्रम में समझने लगता है कि जो कुछ हो रहा है, वह वाहर नही उसके अन्दर हो रहा है। वह प्रकृति में इतना विलीन हो जाता है कि अपने आपको उससे अलग देख ही नही सकता। यह अविवेक ही उसका वन्धन है, इससे छूटना ही मोक्ष है। प्रकृति की क्रिया पुरुष को वन्धन से मुक्त करने के लिए है, 'कारिका' में प्रकृति की इस क्रिया को नाटक की अभिनेत्री के काम से उपमा दी गयी है। जो लोग नाटक देखने जाते है, वे कुछ समय के लिए अपने आपको भूल ही जाते हैं। नटो और नटियो के साथ अपने आपको सयुक्त करते है, और उनके साथ हँसते और रोते है। पीछे जव अनुभव करते हैं कि नट और नटियाँ तो निर्वाह के लिए काम करते थे, और उनका हर्ष-शोक निरा दिखलावा था, तो उन्हें अपना हर्ष-शोक भी निरर्थक दीखने लगता है। इस परिवर्तन का कारण यह है कि दर्शक नटो और नटियो को उनके वास्तविक रूप में देखने लगता है। जगत् के सवन्ध मे ऐसा ज्ञान ही विवेक है।

२. वन्ध और मोक्ष

वन्ध और मोक्ष की वावत 'तत्त्व-समास' में केवल इतना ही कहा है कि दोनो तीन प्रकार के है, उनके स्वरूप की वावत कुछ नही कहा। कारिका ४४ मे कहा है—'ज्ञान से मोक्ष और इसके उलट, अज्ञान, से वन्ध माना गया है।'

सूत्रो में भी कहा है—

'ज्ञान से मुक्ति होती है।'

'अविवेक (अज्ञान) से वन्ध होता है।' (३ १३-१४)

यहाँ दो प्रश्न विचार के योग्य हैं—

(१) मोक्ष का एक मात्र उपाय ज्ञान को कहकर, कर्म की उपेक्षा क्यो की गयी है?

(२) ज्ञान में भी एक विशेष भाग, तत्त्व-ज्ञान को इतना ऊँचा पद क्यो दिया है?

पहले प्रश्न के सवन्ध में, सांख्य का मत यह है कि कर्म वेकार नही, परन्तु इसका फल सीमित है। कारिका ४४ में ही कहा है कि 'धर्म से ऊपर की ओर, और अधर्म से नीचे की ओर गति होती है।' मनुष्य-जीवन से उत्तम आठ सर्गों का वर्णन किया गया है, इन्हें 'दैव-सर्ग' कहते है। अधम गतियो में पशु, पक्षी, रेंगने वाले जन्तु, कीट और स्थावर पदार्थों का जिक्र है। मनुष्य को मिलाकर, १४ सर्ग या अवस्थाएँ है।

इसके दोनो रूपो में अस्वीकार करता है और पुरुष और प्रकृति दोनो को स्वाधीन अस्तित्व देता है।

पुरुष और प्रकृति दो स्वाधीन सत्ताएँ हैं, परन्तु इनमें सयोग की क्षमता है। इस सयोग के फलस्वरूप ही प्रकृति के गुणो का सामजस्य टूटता है, और विकास का आरभ होता है। यह सयोग अनित्य होता है, विकास के पीछे अतिविकास होता है, और यह क्रम जारी रहता है। सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि होती है। इसे सचार और प्रतिसचार का नाम दिया गया है। प्रतिसचार में भी पुरुष और प्रकृति का अस्तित्व बना रहता है, यद्यपि उनका सयोग टूट जाता है। सयोग और वियोग दोनो हालतो में पुरुष और प्रकृति की सत्ता बनी रहती है—दोनो नित्य तत्त्व हैं।

इस तरह अस्तित्व, योग, वियोग और नित्यत्व पुरुष और प्रकृति के सामान्य धर्म या अर्थ हैं।

विकास में भेद प्रकट होते हैं। अव्यक्त प्रकृति भेदरहित होती है। विकसित प्रकृति में हम हर ओर प्रयोजन के चिह्न पाते हैं। प्रकृति आप तो जड है और इसका अपना कोई प्रयोजन नही। यह जो कुछ करती है, दूसरे के अर्थ या हित में करती है। एकरूप होना, अर्थवत् होना, और दूसरे (पुरुष) के हित में काम करना अव्यक्त के विशेषण हैं।

पुरुष प्रकृति से भिन्न है।

अपने विशुद्ध स्वरूप में यह अकर्त्ता है। जो कुछ ससार में होता है, प्रकृति के गुणो का खेल है, यद्यपि इस खेल का आरभ पुरुष की दृष्टि में ही हो सकता है। पुरुष खेल खेलता नही, खेल देखता है।

प्रकृति एक है, विकास में यह अनेक रूप धारण कर लेती है। पुरुष अनेक हैं। लोहे की सलाख के दो टुकडे हो सकते हैं, दो सलाखो को पिघला कर एक सलाख बना सकते हैं, परन्तु पुरुष की हालत में ऐसा परिवर्तन सभव नही। जैसा विलियम जेम्स ने कहा, 'पुरुषो के जगत् में 'निरपेक्ष बहुत्व' नियम हैं।'

पुरुष के तीन विशेषण ये हैं—

यह प्रकृति से भिन्न है, अपने आप में अकर्त्ता है, और अनेकसख्य है।

८ प्रयोजन, बन्ध और मोक्ष

१. विकास-प्रयोजन

जैसा हमने देखा है, प्रकृति का विकास पुरुष की दृष्टि में होता है। इस सयोग

का असर पुरुष पर भी पडता है, वह भ्रम में समझने लगता है कि जो कुछ हो रहा है, वह वाहर नही उसके अन्दर हो रहा है। वह प्रकृति में इतना विलीन हो जाता है कि अपने आपको उससे अलग देख ही नही सकता। यह अविवेक ही उसका वन्धन है, इससे छूटना ही मोक्ष है। प्रकृति की क्रिया पुरुष को वन्धन से मुक्त करने के लिए है, 'कारिका' में प्रकृति की इस क्रिया को नाटक की अभिनेत्री के काम से उपमा दी गयी है। जो लोग नाटक देखने जाते हैं, वे कुछ समय के लिए अपने आपको भूल ही जाते हैं। नटो और नटियो के साथ अपने आपको सयुक्त करते हैं, और उनके साथ हँसते और रोते हैं। पीछे जव अनुभव करते है कि नट और नटियाँ तो निर्वाह के लिए काम करते थे, और उनका हर्ष-शोक निरा दिख-लावा था, तो उन्हें अपना हर्ष-शोक भी निरर्थक दीखने लगता है। इस परिवर्तन का कारण यह है कि दर्शक नटो और नटियो को उनके वास्तविक रूप मे देखने लगता है। जगत् के सवन्ध में ऐसा ज्ञान ही विवेक है।

२. वन्ध और मोक्ष

वन्ध और मोक्ष की वावत 'तत्त्व-समास' में केवल इतना ही कहा है कि दोनो तीन प्रकार के है, उनके स्वरूप की वावत कुछ नही कहा। कारिका ४४ में कहा है—'ज्ञान से मोक्ष और इसके उलट, अज्ञान, से वन्ध माना गया है।'

सूत्रो में भी कहा है—

'ज्ञान से मुक्ति होती है।'

'अविवेक (अज्ञान) से वन्ध होता है।' (३ १३-१४)

यहाँ दो प्रश्न विचार के योग्य हैं—

(१) मोक्ष का एक मात्र उपाय ज्ञान को कहकर, कर्म की उपेक्षा क्यो की गयी है ?

(२) ज्ञान में भी एक विशेष भाग, तत्त्व-ज्ञान को इतना ऊँचा पद क्यो दिया है ?

पहले प्रश्न के सवन्ध में, साख्य का मत यह है कि कर्म वेकार नही, परन्तु इस-का फल सीमित है। कारिका ४४ में ही कहा है कि 'धर्म से ऊपर की ओर, और अधर्म से नीचे की ओर गति होती है।' मनुष्य-जीवन से उत्तम आठ सर्गों का वर्णन किया गया है, इन्हें 'दैव-सर्ग' कहते है। अधम गतियो में पशु, पक्षी, रेंगने वाले जन्तु, कीट और स्थावर पदार्थों का जिक्र है। मनुष्य को मिलाकर, १४ सर्ग या अवस्थाएँ हैं।

दूसरे प्रश्न के सवन्ध में कहा है कि अन्य ज्ञान कुछ भी हो, यह पुरुष को प्रकृति में विलीन करता है, और इसलिए वन्धन ही है।

सूत्र मे कहा है—'अज्ञान से वन्ध होता है।' यह अज्ञान तीन प्रकार का है। निचले स्तर पर हम १६ विकारो की दुनिया में ही फँसे रहते हैं, हमारा अनुराग इन्द्रियो के भोगो तक सीमित रहता है। हमारा प्रयत्न भोग-सामग्री का सग्रह करना होता है।

दूसरे स्तर पर हम शारीरिक स्तर से ऊपर उठते है, परन्तु रहते प्रकृति की दुनिया मे ही है। शरीर के स्थान में वुद्धि का अधिकार हो जाता है, १६ विकारो के स्थान में हम आठ प्रकृतियो में विलीन रहते है। भोग का रूप वदल गया है, परन्तु अपवर्ग से तो हम अभी दूर ही है। साधारण मनुष्य अच्छा खाने, अच्छा पहनने, अच्छे मकान में रहने और अन्य शारीरिक भोगो को तुष्टि की चरम सीमा समझते है। कुछ इन भोगो में इतने विलीन हो जाते हैं कि पशु-स्तर पर ही आ पहुँचते है। दूसरी श्रेणी के लोग शारीरिक भोग की अपेक्षा मानसिक तुष्टि को अधिक महत्त्व देते हैं। यहा विज्ञान और कला का विशेष महत्त्व है। वैज्ञानिक अपने काम में इतना मस्त हो जाता है कि उसे शरीर की आवश्यकताओ का ध्यान भी नही रहता। कहते हैं, न्यूटन किमी प्रयोग में लगा था। नौकर उसे कच्चा अडा देकर चाय लेने गया। न्यूटन दो मिनट अडे को उवलते पानी में रखता था। नौकर चाय लेकर आया तो देखा कि घडी उवलते पानी में पडी है, और न्यूटन अडे पर दृष्टि जमाये समय देख रहा है। वैज्ञानिक के लिए खतरा रहता है कि वह जीवन-सतुलन को खो दे। यह खतरा शक्ति के उपासक के लिए इससे भी अधिक होता है। राजनीति प्राय अहकार-पूजा है।

कलाकार का अनुराग पाँच तन्मात्र में होता है। आँख और कान दो प्रमुख सौंदर्य ग्राही इन्द्रियाँ है। चित्रकार और रागी। सत्ता को सौंदर्य में ही देखता है, और अपने आपको कला मे विलीन कर देता है। जर्मनी के दार्शनिक नीत्शे ने इस स्थिति को एक अलकार में प्रकट किया है। जरतुश्त ने नदी के पुल पर खडे हुए दूर एक पदार्थ को देखा, जो कान-सा दिखाई दिया। यह कान वहुत वडा कान था। ध्यान करने पर कान से युक्त एक नन्हा सा मानव शरीर दिखाई दिया। जरतुश्त वहुत हैरान हुआ, और यह जानना चाहा कि वह क्या वस्तु है। उसे वताया गया कि वह एक मनुप्य था, मनुप्य ही नही, विशिष्ट शक्ति का मनुप्य था—वह सगीत शास्त्री था। नीत्शे का भाव यह है कि रागी एक वडा कान होता है, जिसके साथ अन्य अल्प अग जुडे होते हैं, चित्रकार एक वडी आँख होता है, जिसके साथ अन्य

अल्प अग युक्त होते है। कलाकारो का जीवन भी अनेक हालतों में व्यसन का जीवन होता है। कुछ लोग तो समझने लगे हैं कि कला को नीति से विमुक्त होना चाहिये।

इन दोनो वन्धनो को 'वैकारिक' और 'प्राकृतिक' वन्धन कहते है। तीसरे वन्धन को 'दाक्षिणक' वन्धन का नाम दिया गया है।

दक्षिणा विशेप अवसरो पर ब्राह्मणो को दी जाती है। प्राय यह अवसर यज्ञ आदि शुभ कर्म होते हैं। ऊपर कहा गया है कि यह कर्म मनुष्य को उत्तम गति का पात्र बनाते हैं। यह गति अस्थायी होती है। जब कर्मफल भुक्त हो चुकता है, तो भोक्ता को फिर मानव-स्थिति में लौट आना पडता है। फल की अवधि सीमित होने के कारण यह कर्म भी वन्धन ही हैं।

कुछ लोगो का ख्याल है कि दाक्षिणक वन्धन का वर्णन करके साख्य ने कर्म-काड की ओर अपनी अभिन्नता प्रकट की है।

सभव है साख्य आचार्यों के ध्यान में दक्षिणा का दुरुपयोग ही हो। कुछ लोग समझने लगते है कि धर्मभाव और पुण्य खरीदने-बेचने की चीज़ है। ब्राह्मण को दक्षिणा दी, उसने यज्ञ और जाप किया, और उनका फल दक्षिणा देने वाले के हिसाब में जमा हो गया। रोम के पोप की ओर से क्षमापत्र बेचे जाते थे, खरीदने वाले समझते थे कि यह क्षमा-पत्र उन्हें परलोक में पाप-दड से बचा देंगे। इस प्रकार का विश्वास दाक्षिणक वन्धन ही है।

'तत्त्व-समास' और सूत्र में कहा है कि मोक्ष भी तीन प्रकार का है। इसका अभि-प्राय क्या है?

इस प्रश्न का सीधा-सादा उत्तर तो यह है कि तीन वन्धनो का टूटना तीन प्रकार का मोक्ष है। जो पुरुप १६ विकारो के शासन में नही, वह वैकारिक वन्धन से विमुक्त हो गया है, जो पुरुप विज्ञान, राजनीति और कला को जीवन का सार नहीं समझता, वह प्राकृत वन्धन से छूट गया है, जो पुरुप कर्म-काड के फल को सीमित समझकर, इसी में विलीन नही होता, वह दाक्षिणक अज्ञान से विमुक्त है।

कुछ लोग तीन प्रकार के मोक्ष को तीन प्रकार के दु:खो की अत्यन्त निवृत्ति के अर्थ में लेते हैं। आधिदैविक दु खो से छूटने का प्रमुख उपाय विज्ञान है। प्रकृति के नियमो को जानकर ही हम आधिदैविक दु खो से बच सकते हैं। प्रकृति अपने नियमो को हमारे लिए स्थगित नही करेगी, हम प्रकृति के नियमो का पालन करके ही, प्रकृति पर शासन कर सकते है। आधिभौतिक दु:ख अन्य प्राणियो से आते है, इन प्राणियो में स्वय मनुष्य ही मनुष्य का सब से बडा वैरी है। यदि कोई मनुष्य अपने स्वभाव में राग-द्वेप से प्रभाव को मिटा दे, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान को एक समान समझे,

दूसरे प्रश्न के सबन्ध में कहा है कि अन्य ज्ञान कुछ भी हो, यह पुरुष को प्रकृति में विलीन करता है, और इसलिए बन्धन ही है।

सूत्र मे कहा है—'अज्ञान से बन्ध होता है।' यह अज्ञान तीन प्रकार का है। निचले स्तर पर हम १६ विकारो की दुनिया मे ही फँसे रहते हैं, हमारा अनुराग इन्द्रियो के भोगो तक सीमित रहता है। हमारा प्रयत्न भोग-सामग्री का सग्रह करना होता है।

दूसरे स्तर पर हम शारीरिक स्तर से ऊपर उठते है, परन्तु रहते प्रकृति की दुनिया में ही हैं। शरीर के स्थान मे बुद्धि का अधिकार हो जाता है, १६ विकारो के स्थान मे हम आठ प्रकृतियो मे विलीन रहते हैं। भोग का रूप बदल गया है, परन्तु अपवर्ग से तो हम अभी दूर ही हैं। साधारण मनुष्य अच्छा खाने, अच्छा पहनने, अच्छे मकान मे रहने और अन्य शारीरिक भोगो को तुष्टि की चरम सीमा समझते हैं। कुछ इन भोगो मे इतने विलीन हो जाते हैं कि पशु-स्तर पर ही आ पहुँचते हैं। दूसरी श्रेणी के लोग शारीरिक भोग की अपेक्षा मानसिक तुष्टि को अधिक महत्त्व देते हैं। यहा विज्ञान और कला का विशेष महत्त्व है। वैज्ञानिक अपने काम में इतना मस्त हो जाता है कि उसे शरीर की आवश्यकताओं का ध्यान भी नही रहता। कहते हैं, न्यूटन किसी प्रयोग में लगा था। नौकर उसे कच्चा अडा देकर चाय लेने गया। न्यूटन दो मिनट अडे को उबलते पानी में रखता था। नौकर चाय लेकर आया तो देखा कि घडी उबलते पानी में पडी है, और न्यूटन अडे पर दृष्टि जमाये समय देख रहा है। वैज्ञानिक के लिए खतरा रहता है कि वह जीवन-सतुलन को खो दे। यह खतरा शक्ति के उपासक के लिए इससे भी अधिक होता है। राजनीति प्राय अह-कार-पूजा है।

कलाकार का अनुराग पाँच तन्मात्र में होता है। आँख और कान दो प्रमुख सौंदर्य ग्राही इन्द्रियाँ हैं। चित्रकार और रागी[1] सत्ता को सौंदर्य में ही देखता है, और अपने आपको कला में विलीन कर देता है। जर्मनी के दार्शनिक नीत्शे ने इस स्थिति को एक अलकार में प्रकट किया है। जरतुश्त ने नदी के पुल पर खडे हुए दूर एक पदार्थ को देखा, जो कान-सा दिखाई दिया। यह कान बहुत बडा कान था। ध्यान करने पर कान से युक्त एक नन्हा सा मानव शरीर दिखाई दिया। जर-तुश्त बहुत हैरान हुआ, और यह जानना चाहा कि वह क्या वस्तु है। उसे बताया गया कि वह एक मनुष्य था, मनुष्य ही नही, विशिष्ट शक्ति का मनुष्य था—वह सगीत शास्त्री था। नीत्शे का भाव यह है कि रागी एक बडा कान होता है, जिसके साथ अन्य अल्प अग जुडे होते हैं, चित्रकार एक बडी आँख होता है, जिसके साथ अन्य

अल्प अग युक्त होते हैं। कलाकारों का जीवन भी अनेक हालतों में [illegible] होता है। कुछ लोग तो समझने लगे हैं कि कला को नीति में विमुक्त होना चाहिये।

इन दोनों बन्धनों को 'वैकारिक' और 'प्राकृतिक' बन्धन कहते हैं। तीसरे बन्धन को 'दाक्षिणक' बन्धन का नाम दिया गया है।

दक्षिणा विशेष अवसरों पर ब्राह्मणों को दी जाती है। प्राय यह [illegible] आदि शुभ कर्म होते हैं। ऊपर कहा गया है कि यह कर्म मनुष्य को उत्तम गति का पात्र बनाते हैं। यह गति अस्थायी होती है। जब कर्मफल भुक्त हो चुकता है, तो भोक्ता को फिर मानव-स्थिति में लौट आना पडता है। फल की अवधि सीमित होने के कारण यह कर्म भी बन्धन ही हैं।

कुछ लोगो का ख्याल है कि दाक्षिणक बन्धन का वर्णन करके [illegible] ने कर्म-काड की ओर अपनी अभिज्ञता प्रकट की है।

सभव है साख्य आचार्यों के ध्यान में दक्षिणा का [illegible] ही हो। [illegible] समझने लगते हैं कि धर्मभाव और पुण्य [illegible] दक्षिणा दी, उसने यज्ञ और दान किया और [illegible] में जमा हो गया। [illegible] समझते थे कि यह [illegible] विचार दाक्षिणक बन्धन ही है।

[illegible] क्या है?

इस प्रश्न का सीधा-सादा उत्तर तो यह है कि [illegible] का मोक्ष है। जो पुरुष १६ विकारों के [illegible] हो गया है, जो पुरुष विज्ञान, राजनीति और [illegible] वह प्राकृत बन्धन से छूट गया है, जो पुरुष कर्मकाड के [illegible] इसी में विलीन नहीं होता, वह दाक्षिणक बन्धन से विमुक्त है।

कुछ लोग तीन प्रकार के मोक्ष को तीन प्रकार के दुखों से [illegible] अर्थ में लेते हैं। आधिदैविक दुखो से छूटने का प्रमुख उपाय [illegible] नियमों को जानकर ही हम आधिदैविक दुखो से बच सकते हैं। [illegible] को हमारे लिए स्थगित नही करेगी, हम प्रकृति के नियमों का पालन [illegible] पर शासन कर सकते हैं। आधिभौतिक दुख अन्य प्राणियों से आते हैं। [illegible] में स्वय मनुष्य ही मनुष्य का सब से बडा वैरी है। यदि कोई मनुष्य अपने [illegible] में राग-द्वेष के प्रभाव को मिटा दे, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान को एक [illegible]

तो वह बडी हद तक अपने आपको आधिभौतिक दु खो से बचा लेता है। आत्म-ज्ञान और स्वाधीनता का गहरा सबन्ध है। आध्यात्मिक दु ख का कारण पुरुप और प्रकृति में भेद न करना है। जिस मनुष्य को अपने कैवल्य का बोध हो गया है, उसके सभी सशय दूर हो जाते हैं, हृदय की सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। एक पुरानी पुस्तक में कहा है कि जब किसी वाकिफ से मिलें, तो उससे उसकी स्थिति को ध्यान में रखकर कुशल की बावत पूछना चाहिये। शूद्र से पूछना चाहिये—'स्वास्थ्य कैसा है?', वैश्य से पूछना चाहिये—'काम-काज कैसा चल रहा है?', क्षत्रिय से उसके यश की बाबत पूछना चाहिये, और ब्राह्मण से ज्ञान और आत्म-उन्नति की बावत पूछना चाहिये। निश्रेयस की प्राप्ति तो विवेक पर ही निर्भर है।

९. ज्ञान-मीमासा

आजकल दर्शन के दो प्रमुख भाग समझे जाते हैं—'तत्त्व-ज्ञान' और 'ज्ञान-तत्त्व' या 'ज्ञान-मीमासा।' मनोविज्ञान, नीति, न्याय, सौंदर्यशास्त्र आदि की स्थिति गौण है। तत्त्व-ज्ञान का लक्ष्य सत्ता को उसके विशुद्ध रूप में जानना है। ऐसे ज्ञान की लालसा मानव-प्रकृति का अश ही है। पश्चिम में शतियो तक तत्त्व-ज्ञान ही दर्शन का विषय बना रहा। नवीन काल में ज्ञान-मीमासा ने विचारको का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। इग्लैंड में जान लॉक ने ज्ञान-मीमासा को अपनी खोज का विषय बनाया। लॉक के वाद जार्ज बर्कले और डेविड ह्यूम भी उसी मार्ग पर चले। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक काट के काम ने इस मीमासा को दर्शन में प्रमुख विपय बना दिया है। भारत के दर्शन की एक विशेषता यह है कि इसने ज्ञान-मीमासा को विवेचन में प्रमुख स्थान दिया है। दर्शन की कोई शाखा इसकी ओर से उदासीन नही रही।

हमारी साधारण अवस्था विश्वास की अवस्था है। विश्वास क्रिया का आधार है। मैं लिखने बैठता हूँ तो इस विश्वास के साथ कि मै लिख सकूँगा, और जो कुछ लिखना है, चेतना में प्रस्तुत हो जायगा। अनुभव बताता है कि कभी-कभी हमारा विश्वास निराधार होता है। ऐसे विश्वास के आधार पर हम जो क्रिया करते है, वह सफल नही होती। हम इस विश्वास के स्थान में किसी नये विश्वास को स्थापित करना चाहते है, जो सफल क्रिया का आधार बन सके। निराधार विश्वास से साधार विश्वास की ओर चलना ही चिन्तन करना है। चिन्तन की सफलता के लिए आवश्यक है कि हम साधार और निराधार विश्वास में भेद कर सकें। सत्य और असत्य में भेद करने की कसौटी को प्रमाण कहते है। प्रमाण मापक है। प्रत्येक धारणा सत्य होने का दावा करती है, प्रमाण इस दावे की जाँच करता है, और जाँच के बाद

इसे स्वीकार या अस्वीकार करता है। 'तत्त्व-समास' विवेचन के विषयो की सूची है। इसका अन्तिम विषय है—'तीन प्रकार का प्रमाण।' 'कारिका' में तत्त्वो का वर्णन करते ही, चौथी और पांचवी कारिका में 'प्रमाण' को ले लिया है। सूत्रो मे भी पहले अध्याय में ही इस विषय पर विचार किया है।

'कारिका' में कहा है—

'अन्य प्रमाणों के (इन तीनो के) अन्तर्गत होने से दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान और आप्त-वचन—यह तीन प्रमाण मान्य हैं।

प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से होती है।'

'अलग-अलग विषय का निश्चय दृष्ट है, अनुमान तीन प्रकार का है, वह लिंग-लिंगी के ज्ञान से होता है, आप्त श्रुति आप्त-वचन है।'

(४, ५)

अव हम तीनो प्रमाणों की वावत विचार करेंगे।

१. दृष्ट या प्रत्यक्ष

'कारिका' में कहा है—

'अलग-अलग विपय का निश्चय करना दृष्ट है।'

सूत्र १ ८९ में प्रत्यक्ष के दो चिह्नो का वर्णन किया है—

(१) प्रत्यक्ष इन्द्रिय और विषय के सवन्ध का परिणाम होता है।

(२) प्रत्यक्ष विषय के आकार को धारण करने वाला ज्ञान है।

'कारिका' में मानसिक क्रिया की ओर विशेप ध्यान दिया है, सूत्र में विपय को प्रमुख रखा है। दोनो दृष्टिकोण ही महत्त्वपूर्ण हैं। पहले 'कारिका' को लें।

प्रत्यक्षीकरण अपने अनिवार्य रूप में विश्लेपण है। मै अपने आपको अनेक वस्तुओ से घिरा पाता हूँ, इन्हें देखता हूँ, इन्हें छूता हूँ, इनका शव्द सुनता हूँ, इनकी गन्ध लेता हूँ, और जिस किसी वस्तु को मुंह में डालता हूँ, उसका रस लेता हूँ। परन्तु सब वस्तुओ को एक साथ देख छू नही सकत , न अनेक शब्दो को एक साथ सुनता हूँ। जब मै किसी वृक्ष को देखता हूँ, तो इसे अन्य वस्तुओ से अलग करके चेतना-केन्द्र में ले आता हूँ। ऐसा करने में, मै अन्य वस्तुओ को देखने के अयोग्य हो जाता हूँ। प्रत्यक्षीकरण दृष्ट-समूह को क, ख, ग विविध पदार्थों में विभक्त करना, और एक समय में किसी विशेप वस्तु को देखना है।

प्रत्यक्ष का दूसरा चिह्न जिसकी ओर 'कारिका' में सकेत किया है, प्रत्यक्ष-ज्ञान की निश्चितता है। कभी हमें सन्देह होता है कि जो कुछ हम देखते है, मनुष्य है या

सूखे वृक्ष का तना है। ऐसी अवस्था में हमारा ध्यान एक से दूसरे विषय की ओर, फिर दूसरे से पहले की ओर झुलाता है, हम मनुष्य को देखते हैं, या तने को, मनुष्य के भाग और तने के भाग को मिलाकर कोई नया पदार्थ नही देखते। मनुष्य और तने की सीमाएँ आपस मे मिल नही जाती, जो कुछ दीखता है, निश्चित आकार का दीखता है।

अब सूत्र के वर्णित चिह्नो की ओर देखें।

इन्द्रिय और विषय का सम्पर्क प्रत्यक्ष का तत्त्व है। स्वप्न मे यह सम्बन्ध नही होता। न आँख खुली होती है, न वह पदार्थ जो दिखाई देते हैं, विद्यमान हैं। मतिभ्रम में हमारी आँख तो खुली होती है, परन्तु जो पदार्थ हमें दिखाई देता है, वह विद्यमान नही होता। स्वप्न और मतिभ्रम का बोध प्रत्यक्ष ज्ञान नही।

सूत्र के अनुसार, प्रत्यक्ष का दूसरा चिह्न यह है कि हम दृष्ट वस्तु को उसके वास्तविक रूप में देखें। यदि हम रस्सी को सर्प देखते हैं, तो यह मिथ्या-ज्ञान है, प्रत्यक्ष नही। प्रत्यक्ष इन्द्रिय के प्रयोग से किसी बाह्य वस्तु को उसके यथार्थ रूप में देखना है।

जैसा ऊपर कहा गया है, इन्द्रिय का सबन्ध एक समय मे एक ही वस्तु से होता है। प्रत्येक वस्तु को चेतना-केन्द्र पर अधिकार प्राप्त करने के लिए अन्य वस्तुओ से मुकावला करना पडता है। ऐसे मुकाबले के अतिरिक्त भी, कई कारण इन्द्रिय और पदार्थ के सम्पर्क को रोकते हैं। कारिका ७ मे इन कारणो का वर्णन किया है। वह कारण ये हैं—

(१) पदार्थ का अति दूर होना।

आकाश में अनेक तारे अति दूर होने के कारण हमें नही दीखते।

(२) पदार्थ का अति समीप होना।

प्रसिद्ध दृष्टात, आँख का काजल दिखाई नही देता।

(३) इन्द्रिय-घात

जब कोई इन्द्रिय काम नही कर सकती, तो उसका होना न होना बराबर है। फूटी आँख देख नही सकती, लकवे का मारा अग स्पर्श नही कर सकता।

(४) मन की घवराहट

मानसिक घवराहट में पास पडी हुई वस्तु भी दिखाई नही देती।

(५) पदार्थ का सूक्ष्म होना

वायुमडल में असख्य ज़र्रे विद्यमान हैं, पर हम उन्हें देख नहीं सकते। परमाणु

को यन्त्रो की सहायता से भी नही देख सकते। वडे मटके में एक तोला चीनी डाले। चीनी तो पानी में मिली है, परन्तु हमारी रसना को उसका वोध नही होता।

(६) वीच में आड का आ जाना

(७) पदार्थ का अन्य पदार्थों में दव जाना

दिन के समय सूर्य के प्रकाश में तारे दिखाई नही देते।

(८) एकरूप हो जाना

पदार्थ वातावरण के इतना अनुरूप हो जाता है कि उसे पृथक् करना कठिन हो जाता है। हरी घास में हरे कीडे दिखाई नही देते।

२. अनुमान

दृष्ट या प्रत्यक्ष इन्द्रिय और विपय के सम्पर्क का फल है। यह वोध किसी अन्य वोध पर आश्रित नही होता। अनुमान में स्थिति भिन्न होती है। अनुमान प्रत्यक्ष पर आश्रित है, इसमें हम ज्ञात से अज्ञात की ओर चलते है। ऐसी गति हो कैसे सकती है?

हमारा अनुभव वताता है कि क और ख सदा एक साथ मिलते हैं, जहाँ कही एक होता है, वहाँ दूसरा भी होता है। यदि यह सवन्ध व्यापक हो तो उनमें से एक लिंग और दूसरा लिंगी वन जाता है। लिंग को देख कर हम लिंगी का ध्यान करते हैं। लिंग-लिंगी सवन्ध देखना ही अनुमान है।

दो वस्तुओ के व्यापक, अपवाद-रहित सवन्ध को व्याप्ति कहते हैं। ऐसा सवन्ध दो प्रमुख रूपो में दिखाई देता है—एक रूप में एक पदार्थ के कई गुण सदा एक साथ मिलते हैं, दूसरे रूप में दो घटनाएँ सदा सवद्ध दीखती हैं। पहली हालत में, हम व्यवस्था को देश में देखते है, दूसरी हालत में, इसे काल में देखते हैं। फूल में, लोहे में, सोने में कई गुण विद्यमान होते हैं, यह गुण-समूह ही वस्तुओ को उनकी विशिष्टता देता है, और उन्हें एक दूसरे से अलग करता है। दूसरी ओर हम देखते है कि जव कभी वर्फ को धूप में रखें, वह पिघलने लगती है। यह कारण-कार्य सवन्ध है। इस सवन्ध का स्थापित करना विज्ञान का प्रमुख कार्य है। कभी हम कारण को देख कर कार्य का अनुमान करते है, कभी कार्य को देखकर कारण का अनुमान करते हैं। यहाँ प्रक्रिया एक ही है, भेद केवल आगे या पीछे जाने का है। इन दोनो अनुमानो को 'पूर्ववत्' और 'शेपवत्' का नाम दिया गया है। 'पूर्व' पहले आने वाली अवस्था या घटना है, 'शेप' पीछे आनेवाली अवस्था या घटना है।

अनुमान का तीसरा रूप 'सामान्यतोदृष्ट' है। इसमें किसी सामान्य या

व्यापक नियम से आरभ करते है और उस नियम को विशेष स्थिति मे लागू करते है। आगमन में पूर्ववत् और शेषवत् अनुमानो का प्रयोग होता है, निगमन में सामान्यतोदृष्ट प्रयुक्त होता है।

अनुमान न्यायदर्शन का केन्द्रीय विषय है, वहाँ अनुमान के रूप पर अधिक विचार करेंगे।

३ आप्तवचन या शब्द

तीसरा प्रमाण आप्तवचन या शब्द है।

आप्त का अर्थ प्राप्त, लब्ध, अभ्रात है। इसे सुना हुआ ज्ञान, श्रौत या श्रुति भी कहते है। शब्द प्रमाण को प्राय वेद के अर्थ में लिया जाता है। यह ज्ञान ईश्वर की देन, और अभ्रान्त समझा जाता है। विस्तृत अर्थों में, आप्त-वचन में विद्वान और सत्यवादी पुरुषो का वचन भी आ जाता है। हमारा लौकिक ज्ञान सारा हमारे अपने प्रत्यक्ष और अनुमान का फल नही होता, इसका बडा भाग दूसरो का अनुभव होता है, जिसे हम स्वीकार कर लेते हैं। विशेषज्ञो की बात को हम आपत्ति किये बिना मान लेते है, क्योकि हम समझते हैं कि यह अनुभव उनका प्रत्यक्ष या अनुमान है, और अनुकूल स्थिति में हमारा अनुभव भी हो सकता है। यह ज्ञान तथ्यो का ज्ञान होता है।

परन्तु हमारा सारा ज्ञान तथ्यो का ज्ञान नही होता, इसका एक भाग घटनाओ और वस्तुओ के मूल्य की बाबत होता है। इस भेद को एक सरल उदाहरण से स्पष्ट कर सकते है।

हम सुनते हैं कि एक पुरुष ने अपने पडोसी के पेट में छुरा भोक कर उसे मार दिया है। यह एक तथ्य का बोध है। हम पूछते हैं कि उसने ऐसा क्यो किया? हमें बतलाया जाता है कि दोनो में देर से एक मुकदमा चल रहा था। यह एक दूसरे तथ्य का बोध है। हम कहते हैं—'उसने दुष्ट कर्म किया है, उसे कठोर दड मिलना चाहिये।' यहाँ हम मनोविज्ञान के क्षेत्र से निकल कर नीति के क्षेत्र मे दाखिल हो गये हैं। हम क्रिया को देखते है, उसके बुरा-भला होने को देख नही सकते। हम कहते हैं 'उस पुरुष को कडा दड मिलना चाहिये।' यहा भी हम तथ्यो के क्षेत्र से बाहर हैं। ज्ञानेन्द्रियो के प्रयोग से हम कर्मों के भला-बुरा होने का निर्णय नही कर सकते। प्रत्यक्ष नैतिक प्रतिज्ञा का आधार नही हो सकता, न वह अनुमान ही जो प्रत्यक्ष पर आधारित है। ऐसे ज्ञान के लिए हमें श्रुति, स्मृति या आप्त पुरुष के वचन की शरण लेनी पडती है।

उपयोगितावाद कहता है कि हम कर्मो के भला-बुरा होने की बाबत उनके परि-

णामो को देखकर निर्णय कर सकते हैं। जिन कर्मों का फल लाभदायक होता है, वे भले कर्म हैं, जिनका फल हानिकारक होता है, वे बुरे हैं। इस विचार के अनुसार लाभदायक का अर्थ सुखदायक और हानिकारक का अर्थ दु खद है। हम यह तो जाँच सकते है कि कौन काम सुखद है और कौन दु खद है, परन्तु यह कैसे जानते हैं कि सुख का भावात्मक और दुख का निषेधात्मक मूल्य है ? कर्मों का मूल्य तो दर्शन और स्पर्श का विषय नही। नैतिक नियमो का ज्ञान आप्त-वचन से प्राप्त होता है।

'तीन प्रकार का प्रमाण' 'तत्त्व-समास' की विषय-सूची मे अन्तिम विषय है, इसके साथ 'तत्त्व-समास' समाप्त होता है। २२ वाँ समास किसी विषय का नाम नही, अपितु समाप्ति की घोषणा है। इसी के साथ हम भी वर्तमान अध्याय को समाप्त करते हैं।

इस ज्ञान को ठीक-ठीक जानकर मनुष्य सफल-मनोरथ, कृतकाम हो जाता है। वह फिर तीन प्रकार के दु खो से पीडित और पराजित नही होता।'

योग दर्शन

प्राक्कथन

१ योग-सूत्र

योगदर्शन पतजलि का दार्शनिक सिद्धान्त है। दर्शन की अन्य शाखाओं की तरह, योग भी सूत्रो के रूप में मिलता है। सूत्र चार अध्यायो या पादो में विभक्त हैं। पादो के नाम और सूत्र-सख्या इस प्रकार है—

(१)	समाधिपाद	५१
(२)	साधनपाद	५५
(३)	विभूतिपाद	५४
(४)	कैवल्यपाद	३४
		१९४

समाधिपाद में समाधि या योग सिद्धान्त की व्याख्या है। यह व्याख्या इस पाद के साथ समाप्त नही हो जाती, दूसरे पाद में भी जारी रहती है। दूसरे पाद का विषय योग-साधन है, परन्तु साधनो का वर्णन २९ वें सूत्र से आरभ होता है। पाद में योग के आठ अगो में से केवल पाँच अगो का वर्णन है, और शेप तीन अग तीसरे पाद के लिए रखे जाते हैं। तीसरे पाद का प्रमुख विषय वह विभूतियाँ हैं, जो योगसाधनो के साधने पर साधक को प्राप्त होती हैं। विभूति के लिए 'भूति', 'सिद्धि' और 'ऐश्वर्य' का प्रयोग भी किया जाता है। विभूतियो का विषय चौथे पाद में भी जारी रहता है, इसके अपने विषय, कैवल्य, को पर्याप्त स्थान नही मिलता।

इस तरह पादो का क्रम बहुत उपयोगी नही।

२. साख्य और योग

भारतीय दर्शन की शाखाओ में, साख्य और योग एक जोडा बनाते हैं। इनका सबन्ध इतना घनिष्ट है कि कुछ लोग तो साख्य और योग के स्थान में 'साख्य-योग' का ही प्रयोग करते हैं। उनकी सम्मति मे ये दोनो एक ही सिद्धान्त का व्याख्यान हैं, एक में एक पक्ष प्रमुख है, दूसरे में दूसरा पक्ष प्रमुख है। भगवद्गीता में कहा

है कि बाल-बुद्धि पुरुप ही साख्य और योग को पृथक् समझते है। योग सूत्रो पर सब से विख्यात भाष्य व्यासदेव का है, और व्यास ने भाष्य का नाम 'साख्य-प्रवचन भाष्य' रखा है। साख्य और योग एक दूसरे के बहुत निकट हैं, परन्तु उनमें कुछ भेद भी हैं। यह कहना कठिन है कि आरम में सिद्धान्त एक था, और विकास में यह दो शाखाओ में परिणत हो गया, या विकास दो भिन्न सिद्धान्तो को एक दूसरे के निकट ले आया।

जिस रूप में दोनो दर्शन वर्तमान में विद्यमान हैं, योग साख्य का पूरक दीखता है। साख्य के अनुसार तीन प्रकार के दुखो की अत्यन्त निवृत्ति मनुष्य का लक्ष्य है। दुख का कारण यह है कि मनुष्य, पुरुष और प्रकृति के ससर्ग में, बाहरी घटनाओ को आन्तरिक विकार समझ लेता है। यदि वह पुरुप और प्रकृति के भेद को साक्षात देख ले, तो दुखो का मूल, अज्ञान दूर हो जाता है, और दुखो की निवृत्ति हो जाती है। योग कहता है कि दृष्टिकोण का यह परिवर्तन लबे, कठिन परिश्रम का फल है। योग में बुद्धि के साथ सकल्प भी सम्मिलित हो जाता है। साख्य विवेचन है, योग अनुशासन है। इसका उद्देश्य जिज्ञासा नही, अनुशासन है। साख्य की अपेक्षा, योग में क्रिया पर अधिक बल दिया है।

साख्य और योग दोनो एक प्रकार का 'उद्योग' है। साख्य में यह उद्योग प्रकृति से 'वियोग' का रूप धारण करता है, योग में ईश्वर से 'सयोग' का रूप लेता है। मैं वस्त्र को रगना चाहता हूँ। वस्त्र मैला है। इसे रग के मटके में डालने से पहले, मैल से साफ करना आवश्यक है। साख्य रगने पर बल देता है, योग मैल दूर करने पर।

अथर्ववेद में दो मत्र आते है—

'अन्ति सन्त न जहाति, अन्ति सन्त न पश्यति'।

'देवस्य पश्य काव्य, न ममार न जीर्यति'।

'पास बैठे हुए को छोडता नही, पास बैठे हुए को देखता नही।'

'परमात्मा के काव्य को देख, जो न कभी मरता है, न बूढा होता है'।

साख्य और योग इन दोनो मत्रो के आशय का विस्तार ही हैं। पहले मत्र मे कहा है कि जीवन की विपत्तियो के दो ही कारण है—

(१) मनुष्य पास बैठे हुए साथी—प्रकृति-से चिमटा रहता है,

(२) वह पास बैठे हुए साथी—परमात्मा-को देखता नही।

दूसरे मन्त्र में रोग का इलाज बताया है। यहाँ 'काव्य' शब्द का विशेप महत्त्व है। कुछ लोग घडी से विश्व की उपमा देते हैं, परन्तु घडी बेजान यन्त्र है। कुछ

फूल से उपमा देते है, फूल में जीवन और सौंदर्य भी विद्यमान हैं। काव्य चेतन आत्मा के भावो का प्रकाश है। वेद मन्त्र में जगत् को परमात्मा का काव्य कहा है।

साख्य की दृष्टि में जीवन की आपत्तियो का कारण यह है कि पुरुष प्रकृति से चिमटा रहता है, योग की दृष्टि में कारण यह है कि पुरुष परमात्मा को देखता नही, उससे सयोग नही करता।

योग साख्य का पूरक है।

३. परिभाषा का भेद

हर एक दर्शन कुछ अशो मे अपनी विशेष परिभाषा का प्रयोग करता है। साख्य और योग मे भी परिभाषा का भेद पाया जाता है।

यहाँ हम दो भेदो की ओर सकेत करेगे।

(१) 'साख्य कारिका' आरभ में ही कहती है—'तीन प्रकार का दुख चोट लगाता है, इसलिए, इससे बचने के लिए जिज्ञासा होती है।' दुखो मे कुछ दुख जड प्रकृति से आते हैं, कुछ अन्य प्राणियो से, और कुछ का स्रोत हमारे अपने अन्दर होता है। हमारी शक्ति इतनी अल्प है कि हम प्राकृतिक शक्तियो और अन्य प्राणियो के प्रहारो का मुकाबला पूरी तरह कर नहीं सकते। काल की गति में जो परिवर्तन हमारी शारीरिक अवस्था मे होता है, उसे भी हम रोक नही सकते, ६० वर्ष का पुरुष, एक वर्ष बीतने पर, ६१ वर्ष का होगा, ५९ वर्ष का नही हो सकता। मानसिक दुखो से निपटना एक हद तक हमारे वश में है। योग आत्म-अनुशासन है, इसलिए इसमे ऐसे दुखो की ओर विशेष ध्यान दिया है। इन्हें क्लेशो का नाम दिया गया है। योग क्लेशो की व्याख्या करता है और उनसे बचने के उपाय बताता है।

(२) साख्य का पहला काम तत्त्वो का विवरण है। २५ तत्त्वो में, पुरुष और प्रकृति दो मौलिक तत्त्व हैं, अन्य तत्त्व इन दोनो के ससर्ग से व्यक्त होते हैं। इन २३ तत्त्वो में बुद्धि और अहकार प्रकृति-विकृति हैं, मन केवल विकृति है। साख्य की सूची में चित्त का जिक्र नही, योग मे, चित्त की वृत्तियो का निरोध ही योग का लक्षण है। साख्य में मन को ११ इद्रियो में गिना है, ज्ञान और कर्म-इन्द्रियाँ बाह्य करण हैं, मन अन्त करण है। अन्य पुस्तको मे अन्त करण को विस्तृत अर्थों में लिया है, और मन, चित्त, बुद्धि, अहकार—चारो इसके अन्तर्गत आ जाते है। इस विचार के अनुसार, मन और चित्त दो भिन्न अश हैं। हम अपनी व्याख्या मे इन दोनो में भेद नही करेंगे।

४. सिद्धान्त और क्रिया-विधि

योग एक साथ सिद्धान्त और क्रिया-विधि है। यह आवश्यक नही कि कोई पुरुष दोनो में एक समान निपुण हो। आजकल वहुतेरे 'जोगी' वाजारो में आसनो का प्रदर्शन करते हैं, परन्तु वे योग सिद्धात की वावत कुछ नही जानते। पातजलि के सूत्रो में इन आसनो की वावत कुछ नही कहा, केवल इतना कहा है कि आसन सुखदायक हो। दूसरी ओर दर्शन का अध्ययन करने वाले वहुधा योग-क्रिया से नावाकिफ होते हैं। वर्तमान अध्ययन भारतीय दर्शन से सबद्ध है। यहाँ योग-सिद्धात पर कुछ प्रकाश डालने का यत्न होगा। योग-क्रिया के फल की वावत जो दावा किया जाता है, उसका सक्षिप्त वर्णन 'विभूति पाद' में हो जायगा।

१. समाधिपाद

योग सिद्धान्त

१ योग क्या है?

'चित्त की वृत्तियो का निरोध योग है'।

इस वाक्य में चित्त, वृत्ति और निरोध तीनो पद स्पष्टीकरण की माग करते हैं।

चित्त

जैसा ऊपर कह चुके हैं, चित्त को मन के अर्थो में ले सकते हैं। जव हम अपनी दृष्टि अन्दर की ओर फेरते है, तो एक प्रवाह को देखते हैं। एक अवस्था प्रकट होती है, और तुरन्त चल देती है, दूसरी व्यक्त होती है, और वह भी चल देती है। यह आना-जाना निरन्तर जारी रहता है। जो अवस्था गुज़र जाती है, सदा के लिए गुज़र जाती है। यही नही, कोई अवस्था किसी अन्य अवस्था के सर्वथा समान नही होती। यह अवस्थाएँ एक दूसरे के पीछे आती है, परन्तु यह कहना कठिन है कि कहाँ एक समाप्त होती है और दूसरी आरभ होती है। चेतना माला के समान नही, जिसके मनके एक दूसरे से अलग दीखते और गिने जा सकते हैं, यह धारा के समान है, जिसकी बूंदें एक दूसरे में ओत-प्रोत हैं। प्रत्येक चेतना-अवस्था भी परिवर्तन रहित नही होती, इनमें भी अस्थिरता या वृद्धि विद्यमान होती है। इसलिए अवस्था की अपेक्षा इसे प्रक्रिया या प्रवृत्ति कहना अधिक उचित है। 'वृत्ति' का अर्थ है—'जिसे वरण या स्वीकार किया जाय'। इस समय अगणित शब्द हो रहे है, और वे वायु-मडल में तरगो को उत्पन्न कर रहे हैं। यह तरगे मेरे कान की ढोलक पर लगती

है, परन्तु मैं उन सभी शब्दो को सुनता नही। जब चोट एक विशेष वल से लगती है, तो शब्द सुनाई देता है। यही अन्य इन्द्रियो की वावत भी कह सकते है। जब कोई बाहरी उत्तेजन अपने अधिकार से हमारी चेतना-धारा में परिवर्तन करता है, तो नयी वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। चेतना-धारा ऐसी वृत्तियो की परम्परा है।

धारा की गति का ध्यान न करके, वर्तमान को देखे, तो इसमें भी हम भेद देखते है। चुनाव चेतना का प्रमुख चिह्न है। जब मैं पुस्तक को देखता हूँ तो अन्य वस्तुओ को जो निकट ही हैं, स्पष्ट नही देखता। जब एक शब्द को सुनता हूँ तो अन्य शब्दो की ओर उदासीन हो जाता हूँ। चेतना का एक भाग इसका केन्द्र है। इसके वाहर और इसके इर्द-गिर्द दूसरा भाग है जिसमें भी कुछ बोध हैं, परन्तु वे केन्द्र के वोध से कम स्पष्ट है। लिखते हुए, मुझे यह भी अस्पष्ट बोध होता है कि प्रकाश पर्याप्त है, कुर्सी की बैठक नर्म है, द्वार खुला है। यह बोध चेतना के मध्य भाग में है। चेतना के सीमाप्रान्त में जो वोध होते है, वह सब एक दूसरे के साथ ऐसे घुलमिल जाते हैं कि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व विदित नही होता।

निरोध का अर्थ रोकना, वशीभूत करना है। साधारण अवस्था में वृत्तियाँ प्राप्त होती है, हम उन्हे स्वीकार करते हैं। एकाग्रता कभी बाह्य उत्तेजना का फल होती है, कभी हमारे प्रयत्न का। जब भूकम्प आता है तो यह केन्द्र की वृत्ति को परे हटा कर आप केन्द्र पर अधिकार जमा लेता है। हम अपने आप को नयी स्थिति के अनुकूल वनाने पर बाधित हो जाते है। विद्यार्थी परीक्षा के कमरे में अपने चित्त को परीक्षापत्र पर जमाता है। वृत्तियो के निरोध में हम ऐसी योग्यता पैदा करना चाहते है कि जिस दिशा में चाहें, चेतना-धारा को चला सकें। निरोध में वृत्तियो का समाप्त करना उद्देश्य नही होता, यह तो असभव है, और सभव हो, तो भी उचित नही। योग-अनुशासन में लक्ष्य यही है कि चित्त वृत्तियो का स्वामी वने, दास न हो।

ऐसे निरोध मे पहले, हर एक वृत्ति, अपने समय में, पुरुष से अभिन्न प्रतीत होती है, निरोध होने पर नित्य और अनित्य में स्पष्ट भेद दीखने लगता है। द्रष्टा अपने आपको क्षणिक प्रक्रियाओ से अलग देखने लगता है।

२ चित्त की वृत्तिया

'वृत्तियाँ पाँच है और वे क्लिष्ट और अक्लिष्ट है—
प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति' (५, ६)

हर एक वृत्ति या मानसिक प्रक्रिया में हम तीन पक्ष देखते हैं—ज्ञान, भाव और क्रिया। मैं पुस्तक को देखता हूं। इस प्रक्रिया में कर्म और ज्ञान दोनो मिले हैं।

मुझे इस प्रक्रिया में दिलचस्पी है, तभी तो मैं अन्य सभव प्रक्रियाओ के स्थान में इसे अपनाता हूँ। यह दिलचस्पी भाव का पक्ष है। पश्चिम में काट से पहले, ज्ञान और क्रिया को ही स्वतन्त्र पक्षो का पद दिया जाता था, भाव को इनका विशेषण समझा जाता था। काट ने तीनो को एक स्तर पर रखा, और अब आम ख्याल यही है कि ज्ञान, कर्म और भाव तीनो चेतना के एक जैसे पक्ष है। योग सूत्रो मे पश्चिम के पुराने विचार को स्वीकार किया है, और कहा है कि वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट है, ये क्लेश से युक्त है, या उससे खाली है। यहाँ भाव को स्वतन्त्र पक्ष का पद नही दिया गया।

चेतना धारा है, इसमें निरन्तर क्रिया होती ही रहती है। चित्त की वृत्तियो की सूची बनाने में हम ज्ञान को सम्मुख रख सकते है। ज्ञान के आकारो को देखने से ऐसी सूची तैयार हो सकती है।

ज्ञान की नीव इद्रिय-जन्य बोधो पर है। रूप, रस, शब्द, गध और स्पर्श हमें बाहर से प्राप्त होते है। अनेक गुणो के एकीकरण से हमें पदार्थों का ज्ञान होता है। कभी-कभी इन्द्रिय के दोष या स्थिति की किसी विशेपता के कारण, हमारा ज्ञान अयथार्थ भी हो जाता है, परन्तु हम भूल को जान सकते है। यह ज्ञान यथार्थ हो या अयथार्थ हो, बाह्य वस्तु के आक्रमण का फल होता है। परन्तु जब एक बार ऐसा ज्ञान हो जाय, तो पीछे वस्तु की उपस्थिति अनिवार्य नही रहती। जो कुछ मैंने देखा सुना है, उसका चित्र मेरे चित्त में प्रस्तुत हो जाता है। चित्र गुणबोध और वस्तु-बोध से भिन्न चेतना-अवस्था है। जागरण में प्रत्यक्षो के साथ, अन्य प्रत्यक्षो के चित्र या बिम्ब भी विद्यमान होते है। इस अवस्था मे चित्रो की स्थिति गौण होती है।

हम प्राकृतिक वस्तुओ की दुनिया में रहते है, यह विशेप पदार्थो की दुनिया है। मनुष्य की बुद्धि अपनी क्रिया से एक नयी दुनिया की रचना भी कर लेती है। यह चिह्नो या प्रतिरूपो की दुनिया है। 'पशु-पक्षी इस दुनिया में विचर नही सकते, वे विशेपो के क्षेत्र में बन्द है। इस दुनिया की रचना मनुष्यो के सामने प्रयत्न का फल है। भाषा का प्रयोग इसका प्रमुख साधन है। जब मै कहता हूँ कि प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है, या दो और दो चार होते है, तो कोई साकार वस्तु मेरे सम्मुख नही होती। ऐसा ज्ञान सभ्यता की जान है, यही मनुष्य को अन्य प्राणियो से इतना ऊपर ले जाता है।

ऊपर कहा है कि प्रत्यक्ष और चित्र एक साथ विद्यमान हो, तो प्रत्यक्ष प्रधान और चित्र गौण होता है। चित्र को भी प्रधान होने का अवसर मिल जाता है। रात को सूर्य के अभाव में तारे खूब चमकते है, इसी तरह निद्रा में प्रत्यक्ष का अभाव होने

से चित्र अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। इतने स्पष्ट कि हम निद्रा काल में उन्हें प्रत्यक्ष ही समझते हैं। यहाँ कल्पना काम करती है। यह कल्पना निश्चित प्रयोजन के साथ नही होती, यह चित्त की क्रीडा होती है।

हम बाह्य पदार्थों को देखते ही नही, उन्हें पहिचानते भी है। पहिचानना क्या है? हम वर्तमान उपलब्ध को किसी भूत उपलब्ध के चित्र के साथ रखकर कहते हैं कि वह दोनो समान है। यहाँ स्मृति प्रस्तुत हो जाती है। चिन्तन में भी स्मृति का बडा भाग होता है। स्वप्न में कल्पना जोड-तोड करती है, परन्तु सामग्री पिछले अनुभवो से ही लेती है। इस तरह स्मृति भी चेतना का आवश्यक अग है।

इस सक्षिप्त विवरण में, जिन क्रियाओ का वर्णन हुआ है, वह सब योग सूत्र की वृत्ति-सूची मे सम्मिलित हैं। अब इन वृत्तियो के लक्षणो को जो आगामी सूत्रो में दिये गये है, देखें।

'प्रमाण'

'प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण हैं।' (७)

प्रमाण मापक है, इससे हम सत्यज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं।

योग ने साख्य के तीनो प्रमाणो को स्वीकार किया है, भेद केवल इतना है कि साख्य ने तीसरे प्रमाण के लिए 'आप्त-वचन' का प्रयोग किया है, और योग ने इसे 'आगम' कहा है। आप्त-वचन मे श्रुति के साथ आप्त पुरुषो का वचन भी आ जाता है, 'आगम' केवल श्रुति है।

'विपर्यय वह मिथ्या-ज्ञान है, जो वस्तु के यथार्थ रूप को नही, अपितु उससे उलटे रूप को दर्शाता है।' (८)

मिथ्या-ज्ञान अटल नही होता, सत्य-ज्ञान इसका खडन कर देता है।

प्यासा मनुष्य दूर से चमकती वस्तु को देखता है और उसे जल समझता है। पास पहुँचकर उसमें हाथ डालता है तो हाथ गीला नही होता, अपितु सूखे जर्रे मिलते है। एक इन्द्रिय का दिया हुआ मिथ्या-ज्ञान अन्य इद्रियो से खडित हो जाता है।

'विकल्प'

'विकल्प वह ज्ञान है जो, वस्तु के अभाव में, शब्दो पर आश्रित होता है। (९)

विकल्प चिन्तन का तत्त्व है। जितना ज्ञान पुस्तको मे भरा पडा है, वह सब विकल्प है।

'निद्रा'

'अभाव की प्रतीति का सहारा लेने वाली वृत्ति निद्रा है।' (१०)

विकल्प में हम प्रत्ययो से काम लेते हैं, परन्तु रहते वास्तविक दुनिया मे ही हैं। स्वप्न मे उपलब्ध और चित्र का भेद मिट जाता है, जो वस्तु विद्यमान नही होती, वह विद्यमान प्रतीत होती है। 'अभाव की प्रतीति' स्वप्न का आधार है।

यहाँ हमने निद्रा को स्वप्न के अर्थ मे लिया है। स्वप्न-विहीन निद्रा भी होती है या नही ? प्रतीत ऐसा होता है कि निद्रा का अल्प भाग स्वप्न में गुज़रता है, अधिक भाग स्वप्न-विहीन होता है। यदि ऐसा होता है तो इस अवधि मे चेतना का क्या बनता है ? डेकार्ट ने कहा था कि विस्तार प्रकृति का और चेतना मन का अनिवार्य चिह्न है, जिस तरह कोई प्राकृतिक पदार्थ विस्तार-रहित नही हो सकता, उसी तरह मन कभी अचेतन नही हो सकता, इस ख्याल से कुछ विचारक कहते हैं कि निद्रा निरन्तर स्वप्न की अवस्था है, स्वप्न शीघ्र ही भूलते जाते हैं। यह भी सभव है कि स्वप्न-विहीन निद्रा में अभाव या शून्य बोध का विषय होता है। ऐसे बोध को 'अभाव की प्रतीति' कह सकते हैं।

'स्मृति'

'अनुभूति विषय का खोया न जाना स्मृति है।' (११)

जो अनुभव भी हमें होता है, वह लुप्त होने पर अपने पीछे वासना या सस्कार छोड जाता है। इनमें कुछ अनुभव फिर चित्रो के रूप मे प्रस्तुत हो जाते हैं। यह स्मृति है। स्मृति दो प्रकार की है—प्राकृत और ज्ञात। प्राकृत स्मृति के लिए इतना ही पर्याप्त है कि अनुभव का असर मिट न जाय, ज्ञात स्मृति में वह असर चित्र के रूप में पुन प्रकट होता है और हम उसे पहिचानते हैं। आम बोल-चाल मे स्मृति मे वासना का कायम रहना, चित्र का फिर प्रकट होना और पहिचानना तीनो सम्मिलित होते है, यह ज्ञात स्मृति होती है। मनोविज्ञान स्मृति मे प्राकृतिक स्मृति को भी शामिल करता है। इसी ख्याल से सूत्र में स्मृति के लक्षण मे इतना ही कहा है कि अनुभूत विषय खोया नही जाता।

यह पाँच वृत्तियो का सक्षिप्त वर्णन है। 'योग चित्त की वृत्तियो का निरोध है।' वृत्तियो के स्वरूप को जानने के बाद प्रश्न उठता है कि इनका निरोध कैसे हो सकता है।

३. वृत्ति-निरोध के साधन

जीवन के सबन्ध मे हम आचरण और आचार का ज़िक्र करते है। इन दोनो में घनिष्ट सबन्ध है, ये एक ही वस्तु के बाह्य और आन्तरिक पक्ष हैं। मेरे आचरण को हर कोई देख सकता है, मेरा आचार उन भावो का सग्रह है, जिनसे प्रेरित होकर

मै काम करता हूँ। इन भावो का स्पष्ट ज्ञान हो सकता है, तो मुझे ही हो सकता है। हर एक क्रिया के सबन्ध में हम दृष्ट क्रिया और आन्तरिक भाव में भेद करते हैं। वृत्तियो के निरोध में भी यही दो बातें ध्यान में रखने की है—हमारा प्रयत्न कैसा हो, और उसे ढकेलने वाला भाव क्या हो। सूत्रकार ने इन दोनो को ध्यान में रखा है।

'अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्तियो का निरोध होता है।' (१२)

अभ्यास दृष्ट क्रिया है, वैराग्य दृष्टिकोण या मनोवृत्ति है। आगे इन दोनो का लक्षण किया है।

'अभ्यास'

'स्थिति या ठहराव के लिए जो यत्न किया जाता है, वह अभ्यास है।' (१३)

आचरण क्रिया है, परन्तु ऐसी क्रिया जिसे निश्चित बनाया गया है। यह निश्चि-तता अभ्यास से प्राप्त होती है। बच्चा अपने अगो को हिलाता है, ध्वनि भी करता है, परन्तु चलने और बोलने की योग्यता प्राप्त करने के लिए वर्षों की शिक्षा जरूरी है। जब हमारी क्रिया निश्चित हो जाती है, तो यह सुगम और साधक भी हो जाती है। जीवन का हित इसी में है कि जितनी हितकर क्रियाओ को आदत के सुपुर्द कर सकें, कर दें। ड्यूक ऑफ विलिंग्टन ने एक बार कहा—'कहते हैं, आदत दूसरी प्रकृति है। दूसरी प्रकृति? आदत तो प्रकृति से दस गुना वलिष्ठ है।' सूत्र १४ में कहा है कि 'वहुत देर तक करने, लगातार करने, और श्रद्धा के साथ करने से अभ्यास दृढ-भूमि हो जाता है।'

योग का अभ्यास एक विशेष प्रयोजन से होता है, परन्तु हर प्रकार के अभ्यास की सफलता के लिए आवश्यक है कि इसे पर्याप्त समय के लिए जारी रखा जाय, इसे निरन्तर किया जाय, और इस विश्वास के साथ कि अभ्यास करने योग्य है। जहाँ श्रद्धा नही होती, और कोई काम वाहरी दवाव के कारण किया जाता है, उसका असर दवाव हटने पर दूर हो जाता है।

'वैराग्य'

'देखे और सुने विपयो की तृष्णा से चित्त का हटा लेना वैराग्य है।' (१५)

हमारी ज्ञानेन्द्रियो में जीभ और नाक तो मेदे के चौकीदार हैं, इनका प्रमुख काम यह वताना है कि क्या खाने के योग्य है, और क्या नही। स्पर्श वस्तु-ज्ञान की निश्चितता का प्रमुख साधन है। आँख और कान ज्ञान के करण ही नही, ये जो कुछ दिखाते और सुनाते हैं, उसमें अनुराग भी पैदा कर देते हैं। यह अनुराग हमें

विषयो का दास बना देता है। हम सिनेमा हाल में जाते हैं, वहाँ सुन्दर दृश्य देखते हैं, मधुर राग सुनते हैं। वह चित्र पीछे भी हमारी आँखो के सामने रहते है और राग हमारे कानो में गूँजते है। हम इन विषयो की तृष्णा से एक व्यसन में फँस जाते हैं। आँख और कान हमारे सेवक नही रहते, हमारे स्वामी बन जाते है। वैराग्य की वृत्ति जीवन की क्रिया को नही रोकती, केवल विषयो की तृष्णा से विमुक्त कर देती है। वीतराग पुरुष की स्थिति कमल के फूल की सी है, जो रहता जल में है, परन्तु जल को अपने अन्दर व्याप्त नही होने देता। विरक्त पुरुष जीवन के मेले से गुज़र जाता है, परन्तु अशान्त नही होता। स्वाधीनता का सर्वोत्तम रूप विषयो की तृष्णा से स्वाधीन होना है।

'ईश्वरप्रणिधान'

अभ्यास और वैराग्य के अतिरिक्त, योग-अनुशासन का एक और उपाय भी है। सूत्र २३ में कहा है—

'या ईश्वरप्रणिधान से योग की सिद्धि होती है।'

ईश्वरप्रणिधान का अर्थ ईश्वर में प्रविष्ट, विलीन होना, अपने आपको ईश्वर के अर्पण कर देना है। उपासना का उद्देश्य ईश्वर के इतना समीप होना है कि भेद का भाव ही न रहे। भेद रहता तो है ही, परन्तु भेद का बोध नही रहता, उपासक बाजा बजाता नही, बाजा बन जाता है। पति-पत्नी के प्रेम, माता और बच्चे के प्रेम में इसकी धुंधली-सी झलक दिखाई देती है। योगदर्शन के अनुसार, 'प्रणव' या 'ओ३म्' ईश्वर का वाचक है। ओ३म् का जाप और उसके अर्थों का चिन्तन ईश्वर पूजा का अच्छा तरीका है। एक उपनिषद् में भी कहा है कि उपासना में ओ३म् का जाप करना चाहिये, अन्य नाम तो भटकाने वाले हैं।

योग को कुछ लोग उद्योग के रूप में देखते है, कुछ वियोग के रूप में, और कुछ सयोग के रूप में। वास्तव में यह तीनो इसमें सम्मिलित है अभ्यास उद्योग है, वैराग्य वियोग है, और प्रणिधान सयोग है। पजाबी में एक कथन है—'ईश्वर दा क्या पावणा? इधरो तोडना, उधर लावणा।' ईश्वर प्राप्त तो सहज ही है, इधर से सबन्ध तोडो, उधर कर लो।

४. ईश्वर का स्वरूप और ईश्वर भक्ति का फल

ईश्वर का स्वरूप

'क्लेश, कर्म, कर्मफल और फल-वासनाओ से विमुक्त पुरुष-विशेष ईश्वर है।'

'उसमे असीम सर्वज्ञ ज्ञान है।'

'ईश्वर पूर्वकाल में ऋषियो का भी गुरु है, क्योकि वह काल से नही कटता।' (२४–२६)

सूत्र २४ में ईश्वर को 'पुरुष-विशेष' कहा है। वह पुरुष (चेतन आत्मा) है, परन्तु अन्य पुरुषो से भिन्न है। पुरुषो की वृत्तियाँ क्लिष्ट है, ईश्वर क्लेश से विमुक्त है। ईश्वर को मनुष्यो की तरह कठिनाइयो से बचने के लिए कर्म करना नही पडता, इसीलिए वह कर्मफल और फल-वासनाओ से भी विमुक्त है।

हमारा ज्ञान अल्प है, भविष्य तो पूर्णतया हमारी दृष्टि से ओझल है, वर्तमान की बाबत भी हम बहुत कम जानते है। और जो कुछ जानते है, उसमें भी असत्य का अश मिला होता है। ईश्वर का ज्ञान असीम और सर्वज्ञ है। उसके लिए भूत, वर्तमान और भविष्य का भेद नही, योगदर्शन के शब्दो में, 'उसका ज्ञान काल से कटता नही', विभाजित नही होता।

ऊपर कह चुके हैं कि साख्य में तीसरे प्रमाण के लिए 'आप्त-वचन' का और योग में 'आगम' का प्रयोग किया गया है। सूत्र २६ में कहा है कि आप्त-पुरुषो, ऋषियो, का ज्ञान भी उन्हें ईश्वर से ही प्राप्त हुआ है, ईश्वर ही आदि गुरु है।

ईश्वर-भक्ति का फल

ईश्वर-भक्ति का फल दो प्रकार का होता है—

(१) भक्त की आँखें खुलती हैं, और उसे पुरुष और परम-पुरुष का साक्षात दर्शन होने लगता है।

(२) एकाग्रता के विरोधी विघ्न और चित्त के मल दूर हो जाते हैं।

इन विघ्नो में नौ प्रमुख है, और पाँच इनके सहायक है। सूत्रो में विघ्नो और इनके सहायक विक्षेपो की सूची इस प्रकार दी है—

विघ्न

व्याधि (शारीरिक रोग),

इष्ट क्रिया करने की अयोग्यता,

सशय,

प्रमाद (बेपरवाह होना),

आलस्य,

चित्त का अन्य विषयो में फँस जाना,

मिथ्या-ज्ञान,

यत्न का असफल होना,

प्राप्त की हुई सफलता को सुरक्षित न रख सकना।

विक्षेप

दुख, क्रोध और व्याकुलता, अगो का कांपना, अनिष्ट श्वास और अनिष्ट प्रश्वास।

ईश्वर-भक्त का व्यवहार

दूसरो के साथ ईश्वर-भक्त का व्यवहार भी उसके उद्देश्य से सवद्ध है।

सूत्र ३३ में कहा है—

'सुखी पुरुषो के साथ प्रेम करने, दुखियो पर करुणा करने, भले पुरुषो के आचरण से हर्षित होने, और दुष्ट पुरुषो से दूर रहने से चित्त निर्मल होता है।'

यहाँ जीवन के दो पक्षो को ध्यान मे रखा है—एक का सवन्ध भाव से है, दूसरे का नैतिकता से। वेकन ने कहा है कि सहानुभूति सुख को दुगना और दुख को आधा कर देती है। जिन लोगो का जीवन क्लेश-रहित है, उनसे प्रेम, मित्रता करना हमे भी क्लेश रहित वनाता है। दुखियो के साथ सहानुभूति उनके दुख को कम करती है; यदि यह सहानुभूति करुणा का रूप ग्रहण करे, तो हमारा अपना स्तर ऊँचा हो जाता है। अव नैतिक पक्ष को ले। भले पुरुषो के आचरण को हर्ष से देखे, तो उनका आचरण हमारे आचरण पर अवश्य प्रभाव डालेगा। दुष्ट पुरुषो की सगति के सवन्ध मे प्रत्येक अपनी स्थिति को देख सकता है। कोई कोई मनुष्य इस योग्य होता है कि वह अपने प्रभाव से दुष्ट मनुष्य की दुष्टता को दूर कर दे, साधारण मनुष्यो की हालत मे, उस सगति मे गिर जाने की अधिक सभावना है। इसलिए अच्छा यही है कि उनसे दूर रहा जाये। सुखी पुरुषो से प्रेम और भले पुरुषो की प्रशसा के अभाव में हमारे लिए अपने स्थान पर खडा रहना भी कठिन हो जाता है, ऐसी हालत में प्राय हम नीचे की ओर लुढकने लगते हैं।

५. समाधि के विविध रूप

योग के आठ अगो में अन्तिम अग समाधि है, यह योग-अनुशासन की अन्तिम मजिल है।

समाधि दो प्रकार की होती है सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। इन्हें सवीज और निर्वीज समाधि भी कहते है। सवीज समाधि किसी विशेष वस्तु पर आश्रित होती है, निर्वीज समाधि में ऐसे आश्रय की आवश्यकता नही रहती। दोनो प्रकार की समाधि कई रूप धारण करती है। अव इनकी ओर ध्यान दे।

सम्प्रज्ञात या सवीज समाधि

इस समाधि के चार रूप हैं—

'वितर्क समाधि'

इस समाधि में कोई स्थूल पदार्थ तर्क-वितर्क या चिन्तन का विषय बनता है। हम अपने शरीर पर, शरीर के किसी अग पर, सूर्य आदि किसी बाह्य पदार्थ पर, या समग्र ससार पर ध्यान जमाते हैं और ध्यान के समय चित्त को इधर उधर जाने से रोकते हैं।

'विचार समाधि'

इस समाधि में कोई सूक्ष्म वस्तु चिन्तन का विषय बनती है।

हम सत्य, शिव, सुन्दर या किसी अन्य सूक्ष्म विषय पर ध्यान जमाते हैं।

'आनन्द समाधि'

वितर्क और विचार समाधि सफल हो तो साधक गद्गद हो जाता है। ऐसी अवस्था में बोध तो पीछे हो जाता है, केवल आनन्द ही अनुभूत होता है। ऐसी अवस्था में भी वृत्तियाँ अस्त हो जाती हैं, और एकाग्रता प्राप्त होती है।

'अस्मिता समाधि'

अस्मिता समाधि में चिन्तन का विषय कोई बाह्य पदार्थ, चाहे वह स्थूल हो, या सूक्ष्म, नही होता, स्वय चिन्तक ही चिन्तन का विषय होता है। बाह्य पदार्थों से ध्यान को हटा कर इसे अपने स्वरूप पर जमाना कैवल्य में एक बडा पग है।

सम्प्रज्ञात समाधि के इन चारो आकारो की झलक हम विज्ञान, दर्शन, कला और आत्म-चिन्तन में देखते है। वैज्ञानिक किसी स्थूल पदार्थ की परीक्षा में इतना विलीन होता है कि उसे अन्य वस्तुओ का कोई बोध नही होता। दार्शनिक सूक्ष्म विषयो का चिन्तन करता है। उसकी एकाग्रता की कथाएँ तो प्रचलित ही हैं। कलाकार चित्र बनाने में, दर्शक सुन्दर चित्र को देखने में अपने आप को भूल ही जाता है, उसकी चेतना मानो आनन्द-अनुभूति ही बन जाती है। आत्म-चिन्तन में हमारा ध्यान बाहर से हट कर अपने स्व पर केन्द्रित हो जाता है।

'निर्बीज समाधि'

प्रत्येक अनुभव अपने पीछे अपना चिह्न छोड जाता है, अनुभव के बाद चित्त की अवस्था वही नही रहती, जो उसके पहले थी। इन चिह्नो को वासना या सस्कार कहते हैं। जब साधक का अभ्यास सम्प्रज्ञात समाधि में बढ जाता है, तो उसके लिए सभव हो जाता है कि वह केवल सस्कार के आसरे ही ध्यान जमा सके। ऐसी समाधि को असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि कहते हैं। इसके दो रूप हैं—

(१) भव-प्रत्यय समाधि,

(२) उपाय-प्रत्यय समाधि।

भव-प्रत्यय समाधि के अन्तर्गत विदेह और प्रकृति-लय समाधि आती हैं। इन दोनों के स्वरूप की वावत व्याख्याकारो में मतभेद है। व्यास भाष्य में 'लय' को विदेह के साथ मिलाकर, विदेहलय और प्रकृतिलय योगियो का ज़िक्र किया है। विदेहलय योगी देहविहीन परमात्मा में विलीन रहते हैं, प्रकृतिलय योगी प्रकृति में विलीन होकर मोक्ष-सुख को अनुभव करते हैं। इस समाधान में एक कठिनाई यह है कि साख्य-योग के अनुसार, पुरुष का उद्देश्य प्रकृति से अलग होना है, उसमें विलीन होना नही।

'लय' का अर्थ विलीन होना, प्रविष्ट होना ही नही, लुप्त और विनष्ट होना भी है। यदि 'लय' को लुप्त होने के अर्थ में लें, तो कठिनाई दूर हो जाती है। प्रकृतिलय योगी के लिए समाधिकाल में प्रकृति का लोप ही हो जाता है, विदेह योगी के लिए उसके शरीर का भी अस्तित्व नही रहता। ये केवल भाव (सत्ता या हस्ती) का चिन्तन करते हैं। उनकी समाधि भव-प्रत्यय समाधि है।

योग के सवन्ध में अभ्यास, वैराग्य और ईश्वर-प्रणिधान का वर्णन हो चुका है। भव-प्रत्यय समाधि अभ्यास का फल है, इसकी सफलता का चिह्न वैराग्य है। वैराग्य की पराकाष्ठा यही है कि व्यक्ति के लिए अपना शरीर और वाह्य जगत् न होने के वरावर हो जाय, उसके लिए विशुद्ध भाव या हस्ती का प्रत्यय ही पर्याप्त आश्रय वन जाय। समाधि सीमित काल के लिए होती है। इस समय को छोडकर साधक का शेष समय साधारण क्रिया में गुज़रता है। ईश्वर-भक्ति व्यक्ति के सारे जीवन से सबद्ध है। हम यह तो कहते हैं कि अमुक पुरुष प्रात दो घटे समाधि लगाता है, परन्तु इस कथन का कोई अर्थ नही कि वह तीन घटे ईश्वर-परायण होता है, और दिन का वाकी भाग ईश्वर से विमुख होता है। ईश्वर भक्ति तो एक रग है, जिसमें समस्त जीवन रग जाता है।

'लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल।'

उपाय-प्रत्यय योग में ऐसे लोगो की ओर सकेत किया है। सूत्र २० में कहा है—

'अन्य लोगो को श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा से मिला हुआ योग सिद्ध होता है।'

इन लोगो का सारा जीवन योग-अभ्यास ही होता है। ये श्रद्धा से भरे होते हैं। इन्हें विश्वास होता है कि अन्त में सदा सत्य की विजय होती है, असत्य की नहीं होती,

जव वे किसी भले लक्ष्य के लिए लडते है, तो ससार की दैवी शक्तियाँ भी उनकी सहायक होती हैं। उनमे वीर्य (अधिक वल) होता है, उनका शरीर टूट जाये तो भी आत्मा नही टूटती। वे ईश्वर-स्मरण में लगे रहते हैं। उनका चित्त शान्त होता है। सावारण वुद्धि के स्थान में, प्रज्ञा उनका पथ प्रदर्शन करती है। प्रज्ञा या अन्तर्ज्योति साक्षात् दर्शन की क्षमता देती है।

२ साधन पाद

योग दर्शन का दूसरा भाग साघन पाद है। जैसा पहले कह चुके हैं, न तो यह पाद अपने आपको सावनो के विवरण तक सीमित करता है, और न ही सभी साधनो पर विचार करता है। पाद के पहले २७ सूत्रो में साधनो का ज़िक्र नही। इनमें दो निम्न विपयो पर विचार हुआ है—

(१) समाधि के वाधक—पच क्लेश,

(२) साख्य और योग के उभयगत सिद्धान्त।

तीसरा विपय पहले पाँच साघनो की व्याख्या है।

हम यहाँ इन तीनो को इसी क्रम में लेगे।

१. पच क्लेश

सूत्र २ ३ में कहा है—

'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेप और अभिनिवेश पाँच क्लेश हैं।'

अविद्या को शेप क्लेशो की भूमि कहा है, इसी में ये प्रफुल्ल होते हैं। यह क्लेश चार अवस्थाओ में प्रकट होते हैं—प्रसुप्ता, तनुता, विच्छिन्नता, और उदारता। इन अवस्थाओ को समझने के लिए हम वृक्ष का उदाहरण ले सकते हैं। वीज की स्थिति में वृक्ष प्रसुप्त अवस्था में होता है। वृक्ष बीज में दिखाई नही देता, परन्तु उसमें विद्यमान तो है, इसीलिए एक वीज पीपल का वृक्ष वनता है, दूसरा आम का। वीज नन्ही कोपल के रूप में व्यक्त होता है, यह वृक्ष की तनुता (अल्प) अवस्था है। इसके वाद एक कोपल कई भागो में वटती है और उनमें से हरएक भाग वढने लगता है। यह विच्छिन्नता की अवस्था है। अन्तिम अवस्था (उदारता) में वृक्ष अपने यौवन में झूमता है।

इसी प्रकार का विकास क्लेशो की हालत में भी होता है। राग को लें। राग प्रेम है। जैसा एक वैज्ञानिक ने कहा है, *'सम्पर्क प्रेम का आरम्भ और अन्त है।'* जव हम एक वस्तु के निकट आते हैं, तो कुछ अन्य वस्तुओ से दूर हो जाते हैं। पक्ष-

पात राग के साथ जाता है। वच्चे के चित्त मे प्रेम का अकुर आरम से मौजूद होता है, परन्तु 'प्रसुप्त' रूप में। वाह्य पदार्थ उसे व्यक्त करते हैं और वह 'तनुता' रूप में प्रकट होता है, कुछ वस्तुओ में उसका अनुराग अन्य वस्तुओ की अपेक्षा अधिक होता है। अव 'विच्छिन्नता' का समय आता है। ५–६ वर्ष की आयु तक माता उसे आकर्पित करती है। इमका एक कारण यह है कि माता भी उसे अपूर्व प्रेम करती है। इनके वाद वच्चा अपने आपको अपने प्रेम का केन्द्र वनाता है। १०–११ वर्ष की आयु में उसका प्रेम इस केन्द्र से वाहर आता है और वह मित्रो को खोजने लगता है। ५–६ वर्ष के वाद लिंग का शासन आरभ होता है। नवयौवन और यौवनकाल मे दूसरे लिंग (वर्ग)का प्रेम प्रमुख उत्तेजन वन जाता है। कुदरत की दृष्टि मे व्यक्ति की अपेक्षा जाति का महत्त्व अधिक है। नसल को कायम रखने के लिए, एक दार्शनिक के शब्दो में, 'कुदरत स्त्री को आकर्पक और पुरुप को मूढ वना देती है।'

यह प्रेम की 'उदारता' अवस्था है।

अव पाँचो क्लेशो की वावत विचार करें।

'अविद्या'

योग में अविद्या को अयथार्थ या मिथ्या-ज्ञान के अर्थ में लिया है। मिथ्या-ज्ञान विशेप घटनाओ या तथ्यो के सवन्ध में होता है, या नियमो के सवन्ध में। दूसरे प्रकार का भ्रम अधिक हानिकारक होता है, इसके प्रभाव में मनुष्य जो कुछ देखता है, अनुचित दृष्टिकोण से देखता है। इसके फलस्वरूप उसका सारा व्यवहार दूपित हो जाता है। यह अविद्या जो प्रमुख आकार वारण करती है, उनका वर्णन सूत्र ५ मे किया है—

'अनित्य में नित्य, अपवित्र मे पवित्र, दुख में सुख, और अचेतन में चेतन देखना अविद्या है।'

अभिप्राय यह है कि अविद्या के प्रभाव मे हम नित्य और अनित्य मे, शुभ और अशुभ में, सुख और दुख में, चेतन और अचेतन में भेद नही करते।

यहाँ अविद्या के चार रूपो का वर्णन हुआ है। इस सूची का आवार क्या है?

मानव जीवन विविव स्तरो पर व्यतीत होता है। चेतन प्राणी होने की स्थिति में मनुष्य पशुओ में एक है। अन्य पशुओ की तरह उसका प्रमुख काम भी जीवन को कायम रखना है। इसके लिए निरन्तर यत्न होता रहता है, कभी यह यत्न सफल होता है, कभी असफल होता है। कुदरत ने अपने वे-समझ वच्चो के पथप्रदर्शन के लिए हितकर और अहितकर क्रियाओ के साथ सुख और दुख को जोड दिया है।

पशु-पक्षी अपने सीमित प्रकाश की सहायता से निर्वाह करते जाते हैं, मनुष्य प्राकृत सुखो में वृद्धि करना चाहता है। पशु को भूख लगने पर खाद्य पदार्थ मिल जाय, तो वह सन्तुष्ट हो जाता है, मनुष्य अपनी खुराक को स्वादिष्ट बनाने मे ही लगा रहता है। समय बीतने पर साधन साध्य बन जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि हम कल्याण की उपेक्षा करके भोगो में फँस जाते हैं। इस अवस्था में जो कुछ हितकर नही, वह हितकर दीखने लगता है, जो हितकर है, वह हानिकारक प्रतीत होता है। व्यक्ति वास्तविक सुख और दुख में भेद नही कर सकता। योग के अनुसार, चेतन प्राणी की स्थिति में, अविद्या मनुष्य को दुख में सुख, और सुख में दुख का भास कराती है।

पशु-पक्षी एक दूसरे के निकट रहते है, एक दूसरे के साथ मिल कर काम भी करते हैं, परन्तु वे मिलकर चिन्तन नही कर सकते। ऐसा चिन्तन मनुष्यो की विशेषता है। भाषा इस चिन्तन का अनिवार्य करण है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। हमारा सारा जीवन एक दूसरे के सम्पर्क मे, घनिष्ठ सबन्ध में, गुज़रता है। सामाजिक जीवन की नीव इस बात पर है कि प्रत्येक अपने आप को नियम में चलाने पर उद्यत हो, और सामाजिक जीवन में सभी एक ही नियम को स्वीकार करें। साझे आदर्श की स्वीकृति ही नैतिक भावना का तत्त्व है। यह भावना शुभ और अशुभ में, भद्र और अभद्र मे, भेद करती है। इस स्तर पर अविद्या का अर्थ यह है कि व्यक्ति अभद्र को भद्र समझता है। सामाजिक स्तर को ऊँचा करने का बडा साधन यही है कि नागरिको की नैतिक भावना को सूक्ष्मग्राही किया जाय और उन्हें भले-बुरे में भेद करने के योग्य बनाया जाय।

नैतिक जीवन पर सभी नागरिक रहते हैं, कुछ लोग अपनी योग्यता के कारण निकट वातावरण से दूर देखते हैं, इन्हें दार्शनिक कहते हैं। इनका काम सत्ता को इसके विशुद्ध स्वरूप में देखना होता है। साधारण मनुष्य प्रकटनो की दुनिया में फँसे रहते हैं, दार्शनिक नित्य सत्ता का चिन्तन करता है। हम अपने व्यवहार में बहुधा क्षणिक तृप्ति के लिए वास्तविक कल्याण की ओर से बेपरवाह हो जाते हैं। वर्तमान हमारी दृष्टि में अनुचित महत्त्व प्राप्त कर लेता है।

चौथा स्तर धर्म का है। धर्म का तत्त्व यह है कि मनुष्य अपने आपको परमात्मा से युक्त करे। इस मार्ग में बडी बाधा यही है कि सिद्धान्त में नही, तो अमल में हम प्रकृति को अपना उपास्य बना लेते हैं। हम भूल जाते हैं कि हम अनिवार्य रूप में आत्मा हैं, हम अपने आपको शरीर से और शरीर के भागो से इतना बाध देते हैं कि हमें आत्मा और अनात्मा में भेद नही दीखता। धर्म के क्षेत्र में, अनात्मा को

आत्मा समझना अविद्या है। इस तरह, अविद्या के प्रभाव में, हम पाशव स्तर पर दुख में सुख देखते हैं, नैतिक स्तर पर अशुभ में शुभ देखते हैं, दार्शनिक स्तर पर अनित्य में नित्य देखते हैं, और धार्मिक स्तर पर अनात्मा में आत्मा को देखते हैं।

'अस्मिता'

'द्रष्टा और दर्शन कराने वाली शक्ति को एक समझना अस्मिता है।' (६)

द्रष्टा का तत्त्व दर्शन करना, जानना है। इस क्रिया में करणो का प्रयोग होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, वुद्धि यह करण है। इनकी क्रिया क्षणिक होती है। द्रष्टा, पुरुष, इनसे अलग है, वह अविद्या में, अपने आपको दर्शन कराने वाली शक्ति या करण से भिन्न नही समझता। यह अस्मिता है। अस्मिता का तत्त्व यह है कि भाग समग्र का महत्त्व प्राप्त कर लेता है। वर्तमान की चेतना-अवस्था अपना महत्त्व इतना वढा लेती है कि समग्र जीवन का कल्याण पीछे पड जाता है। इसी तरह, व्यक्ति अस्मिता के प्रभाव में समझने लगता है कि जगत् में जो महत्त्व उसका है, वह किसी दूसरे का नही। वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की तुल्यता को भग करने में अस्मिता का वडा भाग होता है।

'राग-द्वेष'

मनुष्य अपने आपको 'वुद्धिवन्त प्राणी' कहता है। अभाग्यवश उसके जीवन का नेतृत्व वुद्धि के हाथ में नही होता, उद्वेग वीच में कूद कर गडवड कर देता है। वुद्धि का तत्त्व घटनाओ और पदार्थों की निष्पक्ष जाँच है, उद्वेग के वश में, व्यक्ति ऐसी जाँच के अयोग्य हो जाता है, राग और द्वेप उसे किसी चीज़ को उसके वास्तविक रूप में देखने नही देते। सवसे वढकर हमारा अनुराग अपने आपमें होता है, यह अस्मिता का भाव-पक्ष है। फिर हम अपने गिर्द रेखा खीचते हैं, जो कुछ इस रेखा के अन्दर आता है, वह हमारे स्व का अश दीखने लगता है, जो कुछ उसके वाहर है, वह निकृष्ट प्रतीत होता है। जिन मनुष्यो, वस्तुओ, विचारो, उद्देश्यो को हम अपना समझते हैं, उनमें हमें कोई त्रुटि दिखाई नही देती, जो मनुष्य, पदार्थ, विचार, उद्देश्य, सम्मोहन दायरे के वाहर हैं, उनमें कोई खूवी नही। राग-द्वेप के कारण जीवन कडुआ और क्लिष्ट हो जाता है।

'अभिनिवेश'

अभिनिवेश मृत्यु का भय है। योग सूत्र में कहा है कि मृत्यु-भय जैसा मूर्ख को होता है, वैसा ही पडित को होता है। जीवन के साथ ही जीवन का प्रेम व्यक्त हो जाता है, और यह प्रेम व्यापक है। जो भाव एक ओर से जीवन का प्रेम दीखता है, वही

दूसरी ओर से मृत्यु का भय दीखता है। 'भय वह दुख है, जो भावी दुख का ख्याल करके अनुभूत होता है।' कुछ लोगो की समझ मे नही आता कि हम मृत्यु से क्यो डरते है, जब तक जीते हैं, तब तक तो मृत्यु से बचे हुए ही है, जब मृत्यु होगी, तब दुख की अनुभूति से परे हो जायेंगे। इस सूत्र पर लिखते हुए कुछ भाष्यकारो ने कहा है कि मृत्यु का भय पूर्वजन्मो के अनुभव का परिणाम है—हम इस जन्म में नहीं मरे, परन्तु पहले तो कई बार मर चुके हैं। शेक्सपीयर ने अपने नाटक 'हैमलेट' मे कहा है कि मृत्यु का भय भविष्य के अज्ञात होने के कारण होता है, हम नही जानते कि जीवन की समाप्ति के बाद क्या स्थिति होगी। यह अज्ञान हमें भयभीत करता है।

२ साख्य और योग के साझे सिद्धान्त

'साधन पाद' ऐसे विवरण के लिए उपयोगी स्थान दिखाई नही देता, परन्तु इसके कुछ सूत्रो में साख्य और योग के साझे (उभय-सामान्य) सिद्धान्तो की ओर सकेत किया है। अनुरूप सूत्र नीचे दिये जाते हैं।

(१) 'द्रष्टा और दृश्य के सयोग से ससार-दु ख होता है।' (१७)

यहाँ पुरुष और प्रकृति के स्थान में द्रष्टा और दृश्य का प्रयोग किया है।

(२) 'दृश्य प्रकाश, क्रिया और स्थिति वाला है,
यह भूत और इन्द्रिय रूप है।
भोग और मोक्ष इसका प्रयोजन है।' (१८)

साख्य परिभाषा में, पहला वाक्य यह है—'प्रकृति के तीन गुण सत्व, रजस् और तमस् है।'

दूसरे वाक्य में कहा है कि प्रकृति विकास मे भूतो और इन्द्रियो का रूप धारण करती है। यहाँ बुद्धि और अहकार को स्वतन्त्र विकारो में नही लिया, इन्हें चित्त या मन के अन्तर्गत समझ लिया है।

तीसरा वाक्य साख्य के प्रयोजनवाद का वर्णन है।

(३) 'द्रष्टा ज्ञानस्वरूप है, और शुद्ध भी है।' (२०)

ज्ञान पुरुष का तत्त्व है। पुरुष में प्राकृत अश नही, पुरुष प्रकृति से भिन्न मौलिक तत्त्व है।

(४) 'दृश्य (व्यक्त) का अस्तित्व द्रष्टा के लिए ही है।' (२१)

(५) 'कृतार्थ के प्रति नष्ट होने पर भी, दृष्ट अन्यो के लिए नष्ट नही।' (२२)

इस सूत्र में एक शका का समाधान है। जब किसी पुरुष को पूर्ण विवेक होने पर कैवल्य प्राप्त हो जाय, तो व्यक्त जगत् के बना रहने का कोई प्रयोजन नही। सूत्रकार

कहता है कि वह पुरुष कैवल्य प्राप्त कर चुका है, परन्तु अभी अन्य पुरुष तो कैवल्य प्राप्ति में लगे हैं, उनके लिए व्यक्त जगत् का बना रहना आवश्यक है।

यहा साख्य के पुरुष-बहुत्व का समर्थन किया है।

३. योग के अग

योगदर्शन के दूसरे पाद को साधन पाद का नाम दिया गया है, सूत्रो में योग के अगो का वर्णन है। पातजल-योग 'अष्टाग' योग है। साधन और अग मे कुछ भेद है, या दोनो का अर्थ एक ही है ?

साधारण बोलचाल में साधन और साध्य में भेद होता है। मै अमरनाथ जाना चाहता हूं। वहाँ पहुंचना मेरा लक्ष्य है। मै चलकर वहाँ पहुंच सकता हूं, या घोडे, डाडी पर जा सकता हूं, किसी तरह पहुचूं, वहा पहुंचना मेरा ध्येय है। यदि वहाँ पहुंचने से पहले कोई बाधा पड जाती है, तो जो यत्न मैं कर चुका हूं, वह अकारथ है। यदि मेरा उद्देश्य गुफा की मूर्ति का दर्शन नही, अपितु यात्रा का आनन्द ही है, तो उपर्युक्त बाधा मेरे यत्न को अकारथ नही बनाती, केवल मेरे आनन्द को सीमित करती है। साधन और साध्य के सम्बन्ध में काल का प्रत्यय सम्मिलित है। अग और समग्र के सम्बन्ध में यह प्रत्यय सम्मिलित नही। अग का साधारण अर्थ अवयव, खड, टुकडा है, हाथ, पाव आदि शरीर के अग हैं। योग सूत्रो में योग के आठ अगो का वर्णन है। यदि हम इन्हें योग के साधन कहें, तो इसका अर्थ यह है कि ये स्वय योग नही, उस गतव्य को पहुंचने की मजिलें हैं। इन्हें अग ही समझें, तो इनमें से हर एक योग की एकाशी सिद्धि है। दृष्टिकोण का यह भेद बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम अगो को अग ही समझेगे।

सूत्र २९ में कहा है—

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अग हैं।'

इन अगो को हम तीन भागो मे ले सकते है—

१-२ यम, नियम,

३-५ आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार,

६-८ धारणा, ध्यान, समाधि।

पहले दो अगो का सम्बन्ध व्यक्ति के सामान्य जीवन से है, इनका अनुष्ठान उसके जीवन को एक रग में रग देता है। यह कहने का कोई अर्थ नही कि कोई मनुष्य दिन के दो घटे यमो का पालन करता है, और सप्ताह में तीन दिन नियमो का। यम

दूसरी ओर से मृत्यु का भय दीखता है। 'भय वह दुख है, जो भावी दुख का ख्याल करके अनुभूत होता है।' कुछ लोगो की समझ में नही आता कि हम मृत्यु से क्यो डरते हैं, जब तक जीते है, तब तक तो मृत्यु से बचे हुए ही हैं, जब मृत्यु होगी, तब दुख की अनुभूति से परे हो जायँगे। इस सूत्र पर लिखते हुए कुछ भाष्यकारो ने कहा है कि मृत्यु का भय पूर्वजन्मो के अनुभव का परिणाम है—हम इस जन्म में नही मरे, परन्तु पहले तो कई बार मर चुके हैं। शेक्सपीयर ने अपने नाटक 'हैमलेट' में कहा है कि मृत्यु का भय भविष्य के अज्ञात होने के कारण होता है, हम नही जानते कि जीवन की समाप्ति के बाद क्या स्थिति होगी। यह अज्ञान हमें भयभीत करता है।

२. साख्य और योग के साझे सिद्धान्त

'साधन पाद' ऐसे विवरण के लिए उपयोगी स्थान दिखाई नही देता, परन्तु इसके कुछ सूत्रो में साख्य और योग के साझे (उभय-सामान्य) सिद्धान्तो की ओर सकेत किया है। अनुरूप सूत्र नीचे दिये जाते हैं।

(१) 'द्रष्टा और दृश्य के सयोग से ससार-दुःख होता है।' (१७)

यहाँ पुरुष और प्रकृति के स्थान में द्रष्टा और दृश्य का प्रयोग किया है।

(२) 'दृश्य प्रकाश, क्रिया और स्थिति वाला है,
यह भूत और इन्द्रिय रूप है।
भोग और मोक्ष इसका प्रयोजन है।' (१८)

साख्य परिभाषा में, पहला वाक्य यह है—'प्रकृति के तीन गुण सत्व, रजस् और तमस् हैं।'

दूसरे वाक्य में कहा है कि प्रकृति विकास में भूतो और इन्द्रियो का रूप धारण करती है। यहाँ बुद्धि और अहकार को स्वतन्त्र विकारो मे नही लिया, इन्हें चित्त या मन के अन्तर्गत समझ लिया है।

तीसरा वाक्य साख्य के प्रयोजनवाद का वर्णन है।

(३) 'द्रष्टा ज्ञानस्वरूप है, और शुद्ध भी है।' (२०)

ज्ञान पुरुष का तत्त्व है। पुरुष मे प्राकृत अश नही, पुरुष प्रकृति से भिन्न मौलिक तत्त्व है।

(४) 'दृश्य (व्यक्त) का अस्तित्व द्रष्टा के लिए ही है।' (२१)

(५) 'कृतार्थ के प्रति नष्ट होने पर भी, दृष्ट अन्यो के लिए नष्ट नही।' (२२)

इस सूत्र में एक शका का समाधान है। जब किसी पुरुष को पूर्ण विवेक होने पर कैवल्य प्राप्त हो जाय, तो व्यक्त जगत् के बना रहने का कोई प्रयोजन नही। सूत्रकार

कहता है कि वह पुरुष कैवल्य प्राप्त कर चुका है, परन्तु अभी अन्य पुरुष तो कैवल्य प्राप्ति में लगे हैं, उनके लिए व्यक्त जगत् का वना रहना आवश्यक है।

यहा साख्य के पुरुष-बहुत्व का समर्थन किया है।

३. योग के अग

योगदर्शन के दूसरे पाद को साधन पाद का नाम दिया गया है, सूत्रो में योग के अगो का वर्णन है। पातजल-योग 'अष्टाग' योग है। साधन और अग में कुछ भेद है, या दोनो का अर्थ एक ही है?

साधारण वोलचाल में साधन और साध्य में भेद होता है। मै अमरनाथ जाना चाहता हूँ। वहाँ पहुँचना मेरा लक्ष्य है। मैं चलकर वहाँ पहुँच सकता हूँ, या घोडे, डाडी पर जा सकता हूँ, किसी तरह पहुचूँ, वहा पहुँचना मेरा ध्येय है। यदि वहाँ पहुँचने से पहले कोई वाधा पड जाती है, तो जो यत्न मै कर चुका हूँ, वह अकारथ है। यदि मेरा उद्देश्य गुफा की मूर्ति का दर्शन नही, अपितु यात्रा का आनन्द ही है, तो उपर्युक्त वाधा मेरे यत्न को अकारथ नही वनाती, केवल मेरे आनन्द को सीमित करती है। साधन और साध्य के सम्वन्ध में काल का प्रत्यय सम्मिलित है। अग और समग्र के सम्वन्ध में यह प्रत्यय सम्मिलित नही। अग का साधारण अर्थ अवयव, खड, टुकडा हैं, हाथ, पाव आदि शरीर के अग है। योग सूत्रो में योग के आठ अगो का वर्णन है। यदि हम इन्हें योग के सावन कहें, तो इसका अर्थ यह है कि ये स्वय योग नही, उस गतव्य को पहुँचने की मजिलें हैं। इन्हें अग ही समझें, तो इनमें से हर एक योग की एकाशी सिद्धि है। दृष्टिकोण का यह भेद वहुत महत्त्वपूर्ण है। हम अगो को अग ही समझेंगे।

सूत्र २९ में कहा है—

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अग हैं।'

इन अगो को हम तीन भागो में ले सकते हैं—

१-२ यम, नियम,

३-५ आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार,

६-८ धारणा, ध्यान, समाधि।

पहले दो अगो का सम्वन्ध व्यक्ति के सामान्य जीवन से है, इनका अनुष्ठान उसके जीवन को एक रग मे रग देता है। यह कहने का कोई अर्थ नही कि कोई मनुष्य दिन के दो घटे यमो का पालन करता है, और सप्ताह में तीन दिन नियमो का। यम

और नियम व्यक्ति की नैतिक स्थिति को निश्चित करते है। आसन और प्राणायाम शारीरिक क्रियाएँ हैं, जिनका उद्देश्य चित्त को बाह्य विषयो से अलग करना है। यह परिणाम ही प्रत्याहार है। शेष तीन अग—धारणा, ध्यान और समाधि—मानसिक क्रियाएँ हैं। इस तरह योग के अगो के तीन भाग नैतिक, शारीरिक और मानसिक अनुशासन से विशेष सम्वन्ध रखते हैं।

यम और नियम कर्मयोग हैं, शेप अग ध्यान-योग के अश है।

अव योग के अगो पर उपर्युक्त क्रम में विचार करें।

(१) यम और नियम

यम और नियम दोनो सयम के रूप हैं। यम अनुशासन का वह भाग है, जो व्यक्ति सामाजिक सम्वन्धो में अपने आप पर लगाता है, नियम उसके व्यक्तिगत जीवन को व्यवस्थित करते हैं।

नैतिक दृष्टिकोण से, मनुष्य अधिकारो और कर्त्तव्यो का पुज है। जिस मनुष्य के अधिकार हैं, परन्तु कर्त्तव्य नही, वह निरकुश शासक है, जिसके कर्त्तव्य तो हैं, परन्तु अधिकार नही, वह दास है। नैतिक पुरुष इन दोनो से भिन्न है, वह अधिकारो का स्वामी है, और कर्त्तव्यो से बाधित है। अधिकार और उत्तरदायित्व दोनो एक साथ जाते हैं, और यह दो अर्थों मे। जव एक पुरुष एक मास किसी सस्था में काम करता है, तो उसका अधिकार हो जाता है कि उसे निश्चित वेतन दिया जाय। सस्था का कर्त्तव्य हो जाता है कि इस अधिकार का आदर करे। यदि वह ऐसा नही करती, तो समाज का अधिकार और कर्त्तव्य हो जाता है कि वह सस्था को ऐसा करने पर बाधित करे। इसके साथ ही व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपने अधिकारो का उचित प्रयोग करे।

'यम'

सूत्र ३० में कहा है—

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं।'

यह मानव के मौलिक कर्त्तव्यो की सूची है।

मेरा सामाजिक कर्त्तव्य अन्य मनुष्यो के अधिकारो का सम्मान करना है। मनुष्यो के व्यापक अधिकार क्या हैं?

प्रथम अधिकार तो जीवन कायम रखने का अधिकार है। प्राचीन रोम मे समझा जाता था कि माता-पिता बच्चे को जीवन प्रदान करते हैं, इसलिए उसे ले भी सकते

हैं। अब यह ख्याल सर्वथा अमान्य है। पैदा होने पर ही नही, माता के गर्भ में ही बच्चे को जीवन का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य समाज में जीवन व्यतीत करता है। सामाजिक व्यवहार की नीव इस समझौते पर है कि मनुष्य एक दूसरे पर विश्वास कर सकेंगे। अन्य शब्दो में, प्रत्येक जो कहेगा, वह उसके विचारो का यथार्थ प्रकाश होगा, और वह अपने वचन पर अमल करेगा। जहाँ लेन-देन का सम्बन्ध हो, वहाँ समाज 'इकरार' को पूरा कराने के लिए हस्तक्षेप करता है। व्यक्ति का अधिकार हो जाता है कि जो 'इकरार' उसके साथ किया गया है, उसे पूरा किया जाय।

कुछ काल तक माता-पिता सन्तान को पालते-पोसते हैं। पुष्ट होने पर वह अपने निर्वाह के लिए आप काम करता है। सामाजिक जीवन में आवश्यक है कि जो कुछ व्यक्ति कमाता है, वह उसका स्वामी हो। समाज, व्यवस्था बनाये रखने के लिए, उससे उसकी कमाई का एक भाग नियमानुसार लेता है, परन्तु शेष कमाई पर उसका अधिकार है, कोई दूसरा उसकी कमाई छीन नही सकता। यह सम्पत्ति का अधिकार है। जर्मनी के दार्शनिक हेगल ने इस अधिकार को नीति की नीव बताया है।

मनुष्यो का सामाजिक जीवन परिवारो मे व्यतीत होता है। परिवार समाज की नीव है। परिवार में एक पुरुष और एक स्त्री सयुक्त जीवन व्यतीत करने का निश्चय करते हैं। समाज का कल्याण इसी में है कि इस साझे जीवन पर कोई बाहरी आक्रमण न हो। यह आक्रमण अपने निकृष्टतम रूप में लैंगिक आक्रमण है। ऐसे आक्रमण से परिवार का सुख ही नही, उसका आत्म-सम्मान भी विनष्ट हो जाता है। परिवार का और व्यक्ति का भी अधिकार है कि वह ऐसे आक्रमण से सुरक्षित रहे।

सम्पत्ति के सम्बन्ध में यह तो आवश्यक ही है कि कोई मनुष्य दूसरो की कमाई न छीने, न चुराये, इसके साथ यह भी आवश्यक है कि हर एक को काम करने का पर्याप्त अवसर मिले। आधुनिक जीवन में एक कठिनाई यह है कि जिन लोगो में ऐसा करने की योग्यता है, वह हर ओर से भोग के सामान एकत्र करने में लगे रहते है। बहुतेरे लोगो को ऐसी रुकावटो में काम करना पडता है कि वह जीवन के अधम स्तर से ऊपर उठ नही सकते। सभ्य समाज में प्रत्येक का अधिकार है कि वह अपनी शक्तियो का प्रयोग करके सामाजिक सम्पत्ति से उचित भाग ले सके।

यह व्यापक अधिकार व्यक्ति के कर्त्तव्यो को निश्चित करते हैं।

जीवन के अधिकार के साथ 'अहिंसा' का कर्त्तव्य सयुक्त है, 'इकरार' के साथ 'सत्य' सयुक्त है, सम्पत्ति के साथ 'अस्तेय' (चोरी न करना) सयुक्त है, आत्म-

और नियम व्यक्ति की नैतिक स्थिति को निश्चित करते हैं। आसन और प्राणायाम शारीरिक क्रियाएं हैं, जिनका उद्देश्य चित्त को बाह्य विषयो से अलग करना है। यह परिणाम ही प्रत्याहार है। शेष तीन अग—धारणा, ध्यान और समाधि—मानसिक क्रियाएं हैं। इस तरह योग के अगो के तीन भाग नैतिक, शारीरिक और मानसिक अनुशासन से विशेष सम्बन्ध रखते हैं।

यम और नियम कर्मयोग हैं, शेष अग ध्यान-योग के अश हैं।

अब योग के अगो पर उपर्युक्त क्रम में विचार करें।

(१) यम और नियम

यम और नियम दोनो सयम के रूप हैं। यम अनुशासन का वह भाग है, जो व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धो में अपने आप पर लगाता है, नियम उसके व्यक्तिगत जीवन को व्यवस्थित करते हैं।

नैतिक दृष्टिकोण से, मनुष्य अधिकारो और कर्त्तव्यो का पुज है। जिस मनुष्य के अधिकार हैं, परन्तु कर्त्तव्य नही, वह निरकुश शासक है, जिसके कर्त्तव्य तो हैं, परन्तु अधिकार नही, वह दास है। नैतिक पुरुष इन दोनों से भिन्न है, वह अधिकारों का स्वामी है, और कर्त्तव्यो से बाधित है। अधिकार और उत्तरदायित्व दोनो एक साथ जाते हैं, और यह दो अर्थों में। जब एक पुरुष एक मास किसी सस्था में काम करता है, तो उसका अधिकार हो जाता है कि उसे निश्चित वेतन दिया जाय। सस्था का कर्त्तव्य हो जाता है कि इस अधिकार का आदर करे। यदि वह ऐसा नही करती, तो समाज का अधिकार और कर्त्तव्य हो जाता है कि वह सस्था को ऐसा करने पर बाधित करे। इसके साथ ही व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपने अधिकारो का उचित प्रयोग करे।

'यम'

सूत्र ३० मे कहा है—

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं।'

यह मानव के मौलिक कर्त्तव्यों की सूची है।

मेरा सामाजिक कर्त्तव्य अन्य मनुष्यो के अधिकारो का सम्मान करना है। मनुष्यो के व्यापक अधिकार क्या हैं?

प्रथम अधिकार तो जीवन कायम रखने का अधिकार है। प्राचीन रोम मे समझा जाता था कि माता-पिता बच्चे को जीवन प्रदान करते हैं, इसलिए उसे ले भी सकते

हैं। अब यह ख्याल सर्वथा अमान्य है। पैदा होने पर ही नही, माता के गर्भ में ही बच्चे को जीवन का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य समाज में जीवन व्यतीत करता है। सामाजिक व्यवहार की नीव इस समझौते पर है कि मनुष्य एक दूसरे पर विश्वास कर सकेंगे। अन्य शब्दो में, प्रत्येक जो कहेगा, वह उसके विचारो का यथार्थ प्रकाश होगा, और वह अपने वचन पर अमल करेगा। जहाँ लेन-देन का सम्बन्ध हो, वहाँ समाज 'इकरार' को पूरा कराने के लिए हस्तक्षेप करता है। व्यक्ति का अधिकार हो जाता है कि जो 'इकरार' उसके साथ किया गया है, उसे पूरा किया जाय।

कुछ काल तक माता-पिता सन्तान को पालते-पोसते हैं। पुष्ट होने पर वह अपने निर्वाह के लिए आप काम करता है। सामाजिक जीवन में आवश्यक है कि जो कुछ व्यक्ति कमाता है, वह उसका स्वामी हो। समाज, व्यवस्था बनाये रखने के लिए, उससे उसकी कमाई का एक भाग नियमानुसार लेता है, परन्तु शेष कमाई पर उसका अधिकार है, कोई दूसरा उसकी कमाई छीन नही सकता। यह सम्पत्ति का अधिकार है। जर्मनी के दार्शनिक हेगल ने इस अधिकार को नीति की नीव बताया है।

मनुष्यो का सामाजिक जीवन परिवारो में व्यतीत होता है। परिवार समाज की नीव है। परिवार में एक पुरुष और एक स्त्री सयुक्त जीवन व्यतीत करने का निश्चय करते हैं। समाज का कल्याण इसी में है कि इस साझे जीवन पर कोई बाहरी आक्रमण न हो। यह आक्रमण अपने निकृष्टतम रूप में लैंगिक आक्रमण है। ऐसे आक्रमण से परिवार का सुख ही नही, उसका आत्म-सम्मान भी विनष्ट हो जाता है। परिवार का और व्यक्ति का भी अधिकार है कि वह ऐसे आक्रमण से सुरक्षित रहे।

सम्पत्ति के सम्बन्ध में यह तो आवश्यक ही है कि कोई मनुष्य दूसरो की कमाई न छीने, न चुराये, इसके साथ यह भी आवश्यक है कि हर एक को काम करने का पर्याप्त अवसर मिले। आधुनिक जीवन में एक कठिनाई यह है कि जिन लोगो में ऐसा करने की योग्यता है, वह हर ओर से भोग के सामान एकत्र करने में लगे रहते हैं। बहुतेरे लोगो को ऐसी रुकावटो में काम करना पडता है कि वह जीवन के अवम स्तर से ऊपर उठ नही सकते। सभ्य समाज में प्रत्येक का अधिकार है कि वह अपनी शक्तियो का प्रयोग करके सामाजिक सम्पत्ति से उचित भाग ले सके।

यह व्यापक अधिकार व्यक्ति के कर्त्तव्यो को निश्चित करते है।

जीवन के अधिकार के साथ 'अहिंसा' का कर्त्तव्य सयुक्त है, 'इकरार' के साथ 'सत्य' सयुक्त है, सम्पत्ति के साथ 'अस्तेय' (चोरी न करना) सयुक्त है, आत्म-

सम्मान के साथ 'ब्रह्मचर्य' (शुद्ध आचरण) सयुक्त है, और काम कर सकने के अधिकार के साथ 'अपरिग्रह' (हर ओर से समेटने की रुचि का अभाव) सयुक्त है।

यमो में व्यक्ति के कर्त्तव्यो की जो सूची दी है, वह मौलिक अधिकारो का सम्मान ही हैं। यही अधिकार भारत के विधान में मौलिक अधिकार स्वीकार किये गये हैं, और यही अन्य देशो में भी मान्य हैं।

कर्त्तव्यो के सम्बन्ध में एक प्रश्न उनके क्षेत्र का है। राजनीति में अपने देश के लिए एक नियम अच्छा है, दूसरे देशो के सम्बन्ध मे उसका पालन करना आवश्यक नही। अपने देश में, तीर्थों की सीमा में एक व्यवहार होता है, उन सीमाओ के वाहर दूसरा, विशेप दिनो में एक व्यवहार होता है, अन्य दिनो में दूसरा यह भेद निर्मूल है, यदि झूठ वोलना बुरा है, तो वह हर कही, सदा, और प्रत्येक मनुष्य के सम्वन्ध में वुरा है। इसे स्पष्ट करने के लिए सूत्र ३१ में कहा है—

'(यदि यमो का अनुशासन) जाति, देश, काल और समय से न करे, और सव भूमियो में स्थिर हो, तो यह महाव्रत (या महावृत्त) है।'

जो मनुष्य यमो को सिद्ध कर लेता है, वह अपने आपको तो उन्नत करता ही है, इसके साथ अपने वातावरण को भी उन्नत कर देता है। अपनी प्रकृति से मजवूर, दूसरे उसके आचरण का अनुसरण करते हैं।

'नियम'

सूत्र ३२ में कहा है—

'शौच, सतोप, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान नियम हैं।' जैसा पहले कह चुके हैं, नियम अनुशासन का वह भाग है, जो व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध है। यदि कोई नागरिक यमो का उल्लघन करता है, हिंसा या चोरी करता है, तो सारा समाज इसे अपने ऊपर आक्रमण समझता है और उसे दड देता है, नियमो की हालत मे व्यक्ति को अपने हाल पर छोड दिया जाता है।

नियमो को निश्चित करने के लिए हमें मनुष्य की स्थिति देखनी होती है। मनुष्य वुद्धियुक्त प्राणी है, उसका शरीर उसका दृष्ट भाग है, मन अदृष्ट भाग है। शरीर मन का अधिष्ठान है, 'स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर मे ही निवास करता है।' हमारी उन्नति में प्रथम अग स्वास्थ्य है। हमारा शरीर, जिसमें आत्मा और परमात्मा का दर्शन हो सकता है, एक मन्दिर है। इसे साफ सुथरा रखना चाहिये। यही शौच है, जिसे नियमो में प्रथम स्थान दिया है। शरीर आप ही अपने आपको स्वच्छ करता रहता है प्राण शुद्ध वायु को अन्दर ले जाता है, अपान अन्दर से मलिनता को वाहर

ले आता है, हम जल पीते है, वह अन्दर के मैल को साथ लाकर पसीने और मूत्र के रूप में बाहर निकल जाता है, हम जो कुछ खाते हैं, उसका बेकार भाग बाहर फेंक दिया जाता है। शौच में हमे इतना ही करना होता है कि शरीर के परिशोधक यत्न मे बाधा न पडने दें, और यदि कोई बाधा पड जाय तो उसे दूर करने में शरीर की सहायता करें।

मन की तीन प्रसिद्ध प्रक्रियाएं हैं—भाव, कर्म और ज्ञान।

भाव हमे कभी एक ओर ढकेलता है, कभी दूसरी ओर। ससार लुभावने पदार्थो से भरा पड़ा है, मन किस-किस के पीछे दौडे ? भोगो के भोगने से पूर्ण तुष्टि हो नही सकती, घी के छीटो से आग बुझती नहीं, और भडकती है। हमें अपनी आवश्यकताओ को सीमित करना चाहिये, और ऐसा करने के बाद जो कुछ कर सकते हैं, करना चाहिय, यत्न का जो फल हो, उसे सहर्ष स्वीकार करना सतोष है। हममें से हर एक विश्व से कुछ मागें करता है, इनमें कुछ पूरी होती हैं, कुछ पूरी नही होती। प्राप्ति हमारी तृप्ति का प्रमाण है। तृप्ति को बढाने के दो ही उपाय हैं, एक प्राप्ति की मात्रा को बढाये जाना, दूसरा मागो को कम करना। नवीन सभ्यता पहले उपाय पर बल देती है, हमारे पूर्वज दूसरे उपाय को महत्त्व देते थे। जैसा टामस कार्लाइल ने कहा है, यदि हम अपनी मागो को बिन्दु (०) बना सकें, तो हमारी तुष्टि असीम हो जायगी।

क्रिया के सम्बन्ध में हमारा लक्ष्य शक्ति का बढाना है। इसका प्रमुख साधन तप है। कच्ची ईंट से पक्की ईंट महगी होती है, मरमर पत्थर उनसे भी महगा होता है। तप इस मूल्य-भेद का आधार है। तपस्या की कीमत कठिनाइयो मे विदित होती है, भोगो का पुजारी कठिनाइयो में ऐसे बह जाता है, जैसे रेत का ढेर नदी की बाढ में, तपस्वी मनुष्य चट्टान की तरह स्थिर रहता है।

ज्ञान का सर्वोत्तम भाग तो वह है, जो हमें अपने अनुभव से प्राप्त होता है, परन्तु इसकी सीमाएँ बहुत तग हैं। हमारे ज्ञान का बडा भाग दूसरो से प्राप्त होता है। इन दूसरो में अधिक सख्या उन लोगो की है, जो अपने अनुभव और विचारो को लेखबद्ध कर गये हैं। उनके सम्पर्क में आने का साधन स्वाध्याय है। आजकल तो ज्ञान साझे की पूँजी है, प्रत्येक इसमें से लेता है और कुछ इसमें डालते भी हैं।

भाव, कर्म और ज्ञान हमारे मानसिक जीवन के तीन पक्ष हैं, इनमे उन्नति करना सतोष, तप और स्वाध्याय के प्रयोग का फल है। परन्तु मनुष्य को समग्र स्थिति में भी देखना चाहिये। इस स्थिति में, योग शास्त्र में ईश्वर-प्रणिधान को महत्त्व दिया है। यह पाँचवाँ नियम है। चित्त की एकाग्रता के सम्बन्ध में प्रणिधान का जिक्र पहले भी हो चुका है। ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ यह है कि मनुष्य पूरे यत्न से काम

करे, परन्तु यह याद रखे कि उसका यत्न ससार में एक अल्पअश है, और ससार की व्यवस्था उसके हाथ मे नही, एक और शक्ति के हाथ मे है। ईश्वर पर भरोसा करना, अपने आपको उसके अर्पण कर देना, आत्म-उन्नति मे अन्तिम मजिल है।

अन्त के तीन नियमो—तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—को 'साधनपाद' के पहले सूत्र में ही 'कर्म-योग' कहा गया है। शौच और सतोष कर्म-योग में सफल होने के लिए अनिवार्य शर्ते है, परन्तु स्वय कर्मयोग का अश नही।

(२) आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार

यमो और नियमो का सम्बन्ध समस्त व्यवहार से है, कोई विशेष समय इनके लिए नियत नही होता। अब हम जिन अगो का वर्णन कर रहे हैं, उनकी स्थिति भिन्न है, वे विशेष समय की क्रिया है। जब हम दत्तचित होकर व्याख्यान सुनते है, या कोई चित्र देखते है, तो हमारा शरीर अचल हो जाता है और सास भी धीरे चलने लगती है। अगो की हरकत और सास की तेजी से मन की अचलता का गहरा सम्बन्ध है। दौडते हुए हम सूक्ष्म विचार नही कर सकते। चित्त की वृत्तियो को रोकने के लिए आवश्यक है कि हम शरीर को अचल बनायें और श्वास की गति पर पूरा अधिकार प्राप्त करें। आसन और प्राणायाम का उद्देश्य यही है।

'आसन'

पुट्ठे काम करने पर थकते हैं। इस थकावट का असर दूर करने के लिए आराम करना होता है। दिन भर के काम-काज के बाद रात का बडा भाग सोने मे गुज़रता है। निद्रा में भी पुट्ठो पर बोझ पडता है और इससे वे थकते हैं। सोया हुआ पुरुष भी २०-२५ मिनटो के बाद शारीरिक स्थिति को बदलता है। जब कोई मनुष्य अभ्यास के लिए बैठता है, तो उसे ऐसी स्थिति में बैठना चाहिये, जिससे अभ्यास में विघ्न न पडे। सूत्र ६ में कहा है—

'जिस स्थिति में स्थिर सुख अनुभव हो, वह आसन है।'

यदि हम ऐसे स्थान पर बैठें, जो समतल नही, जहाँ अधिक गर्मी या सर्दी है, जहाँ शोर हो रहा है, तो हमारा चित्त शात नही हो सकता। अच्छा आसन वही है जिसके प्रयोग मे किसी प्रकार की असुविधा अनुभूत न हो, शरीर को अचल करने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता न हो। सूत्र ४७ में कहा है कि आसन की सिद्धि 'प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त के ज्ञान से होती है।' प्रयत्न की शिथिलता (कमी) तो स्पष्ट है, 'अनन्त के ज्ञान' से क्या अभिप्राय है ?

कुछ भाष्यकारो ने अनन्त को आकाश के अर्थ में लिया है, और अनन्त के ज्ञान को 'पक्षियो की स्थिति का ज्ञान' समझा है। इस समाधान के अनुसार साधक को चाहिये कि पक्षियो के आसन को देखे, और उसका अनुकरण करे। 'जोगी' बाजारो मे जो आसन दिखाते हैं, वे प्राय पक्षियो के आसन ही होते हैं। योग सूत्र का अभिप्राय तो यही प्रतीत होता है कि साधक सुखद स्थिति में, विशेष पदार्थों से चित्त को हटाकर, अनन्त पर ध्यान जमाये।

प्राणायाम

'आसन के सिद्ध होने पर, श्वास और प्रश्वास की गति का रोकना प्राणायाम है।' (४४)

प्राणायाम चार प्रकार का है।

'वाह्य प्राणायाम' में प्राण को बाहर फेंक कर वही रोक दिया जाता है।

'आभ्यन्तर प्राणायाम' में प्राण को अन्दर लिया जाता है, और उसे वही रोक दिया जाता है।

'स्तम्भवृत्ति प्राणायाम' में प्राण को न बाहर फेंका जाता है, न अन्दर लिया जाता है, अपितु जहाँ वह है, उसे वही रोक दिया जाता है।

चौथा प्राणायाम अभ्यास का फल है। इसमें किसी प्रयत्न की आवश्यकता नही रहती, अपने आप ही श्वास-प्रश्वास पर साधक का शासन हो जाता है।

प्राणायाम का उद्देश्य मन की चचलता को कम करना है, यह धारणा, ध्यान तक पहुँचने के लिए एक पग है। बहुतेरे मनुष्य शारीरिक स्वास्थ्य के लिए प्राणायाम करते हैं। हमारे फेफडो में एक मिनट में १२ बार वायु बाहर से अन्दर जाती है, और अन्दर से बाहर आती है। बाहर आते हुए यह अपने साथ कुछ मलिनता ले आती है। इस क्रिया में फेफडे पूर्णतया खाली नही होते, उनकी स्थिति एक कमरे की-सी होती है, जिसमें वायु प्रवेश करती है, और निकल भी जाती है। कमरे के मध्य भाग की वायु तो बदलती रहती है, परन्तु कोनो में सीमाओ के निकट तो यह परिवर्तन नही होता, वहाँ की वायु वही टिकी रहती है। जो मल उसमें है, उसे दूर करने के लिए फेफडो को पूर्ण रूप से खाली करना चाहिये। प्राणायाम ऐसा करने का यत्न है।

'प्रत्याहार'

ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध है। ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य जगत् से सम्पर्क कराती हैं। इनमें आँख और कान विशेप महत्त्व की इन्द्रियाँ हैं। जागरित अवस्था में हम एक तरह से बाह्य विषयो में डूबे ही रहते हैं। ध्यान करने के लिए आवश्यक है

३. योग-विभूतियाँ

१. विभूति क्या है ?

'विभूति' का अर्थ विशेष शक्ति या क्षमता है। इसके लिए 'भूति', 'महासिद्धि' और 'ऐश्वर्य' का प्रयोग भी होता है। इन विभूतियो ने योगाभ्यास को सर्वसाधारण के लिए हैरानी और अनुराग का विषय बना दिया है। बालक जब नवयौवन में पहुँचता है तो इस परिवर्तन के कुछ चिह्न उसके शरीर और मन मे प्रकट हो जाते हैं। यह चिह्न पुष्टि या वृद्धि नही, न लक्ष्य ही हैं, यह केवल परिवर्तन के सूचक हैं। इसी तरह विभूतियाँ इस बात का सकेत हैं कि साधक साधना-मार्ग पर ठीक चल रहा है। कोई युवक या युवती यौवन के चिह्नो में ही लीन हो जाये तो यह उसकी भूल है, उद्देश्य तो पुष्टि में बढते जाना है। इसी तरह विभूतियाँ आत्म-उन्नति मे अपना कोई मूल्य नही रखती, ये केवल उन्नति के चिह्न हैं। जो पुरुष इन्हें साध्य समझने लगता है, वह अपने मार्ग से भटक जाता है।

इन विभूतियो के सम्बन्ध में बहुत सदेह भी है। कुछ लोग तो कहते हैं कि दार्शनिक विवेचन में इनके विवरण के लिए कोई स्थान नही होना चाहिये। मैक्समूलर ने कहा—'दार्शनिक दृष्टिकोण से भी यह बात विचार के योग्य है कि ऐसे अस्पष्ट और विश्वास के अयोग्य बयान पूर्ण यथार्थ तर्क और सावधान परीक्षण के साथ-साथ मिलते हैं।'

२. ज्ञात और अज्ञात

चेतना के परीक्षण में पहले इसके कटाव को लेकर क्षेत्र को भागो में विभक्त किया जाता था। जैसा हम देख चुके हैं, इसे केन्द्र, मध्य भाग और सीमाप्रान्त में बाँटा जाता था। नवीन काल में केन्द्र से बाहर जाने के स्थान मे, ऊपर से नीचे की ओर जाने का यत्न होता है। समुद्र में बर्फ का बडा कुन्दा तैर रहा है। जितना भाग दीखता है, उससे बहुत बडा भाग अदृष्ट है, और वही प्राय निश्चित करता है कि कुन्दे की गति कैसी हो। समुद्र में कुछ द्वीप भी होते हैं। यह द्वीप उन पहाडो की चोटियाँ हैं जो समुद्र मे डूबे हैं, ये पहाडो के आन्तरिक परिवर्तन का विस्फोट हैं। नवीन दृष्टिकोण के अनुसार, चेतना में भी ज्ञात और अज्ञात दो भाग हैं। अज्ञात उन बोधो का समूह है जो ज्ञात के नीचे दबे पडे हैं, परन्तु मरे नही। वे, जब उन्हें अवसर मिलता है, ज्ञात भाग मे आ घुसते हैं।

इस तरह अज्ञात के दो रूप हैं—

(१) चेतना कटाव का वह भाग जो चेतना-देहली के वाहर है,

(२) चेतना का वह भाग जो ज्ञात के नीचे दवा पडा है।

अज्ञात के प्रत्यय ने मनोविज्ञान के लिए जो प्रश्न खडे कर दिये हैं, वे कई हालतो में वही प्रश्न हैं, जो विभूतियो के सम्वन्ध में खडे होते हैं।

अज्ञात के दोनो रूपो को अलग-अलग लें।

चेतना की देहली से क्या अभिप्राय है ?

खाड का एक चम्मच पानी भरे गिलास में डालें। हर एक पीने वाला इसे मीठा पायेगा। उसी खाड को पानी के मटके में डालें। अव उसकी मिठास शायद ही किसी को अनुभूत हो। उतनी ही शक्कर कुएं में डालें। अव मिठास का वोध सभव नही। प्रत्येक उत्तेजन विशेष सीमा से गुजरने पर ही सवेदन पैदा कर सकता है। इस सवेदन का पैदा करना उत्तेजन का चेतना-देहली में प्रवेश करना है।

यदि उत्तेजन की तीव्रता वढायी जाय तो सवेदन की तीव्रता भी वढ जाती है, परन्तु इस भेद को जानने के लिए आवश्यक है कि उत्तेजन की वृद्धि उत्तेजन के निश्चित भाग से कम न हो। प्रकाश की हालत में यह भेद कम से कम १% होना चाहिये, अन्य इन्द्रियो के लिए यह भेद पर्याप्त नही।

व्यक्तियो में भी चेतना-देहली और भेद-अनुभव के सम्वन्ध में असमानता है, किसी की ग्रहण-शक्ति तीव्र होती है, किसी की मद। जैसा हम आशा कर सकते हैं, यह शक्ति अभ्यास से वढ सकती है। अज्ञात का दूसरा रूप चेतना का वह भाग है, जो ज्ञात के नीचे दवा है। इसके भी दो भाग हैं। एक भाग उन अनुभवो का समूह है, जिन्हें व्यक्ति भूल चुका है। कभी-कभी ये विना वुलाये चेतना में आ पहुंचते हैं। इनकी स्थिति वेकार सामान की है, जिसे गोदाम में डाल दिया गया है। दूसरे भाग में वह अनुभव हैं, जो दु शील होने के कारण चेतना के नीचे दवा दिये जाते हैं। इनकी स्थिति उन अपराधियो की स्थिति है, जो वन्दीगृह में वन्द कर दिये गये हैं। ये स्वप्न में, वात-चीत की भूलो में, विविध रोगो में व्यक्त होते हैं। मनोविश्लेपण ऐसे दवे हुए अनुभवो को प्रकाश में लाने का यत्न है। इस सम्वन्ध में सिग्मांड फ्रायड का काम वहुत प्रसिद्ध है।

इस विवरण के वाद, हम योग-विभूतियो की वावत विचार करें।

३ योग-विभूतियां

विभूतियो का वर्णन 'विभूतिपाद' के सूत्र १६ से आरम्भ होता है और सूत्र ५० तक चलता है। यहां प्रमुख विभूतियो की ओर ही सकेत करेंगे।

कुछ विभूतियो का सम्वन्ध ज्ञान से है और कुछ का कर्म से है। इन्हें इसी क्रम में लें।

ज्ञान सवन्धी विभूतियां

(१) हमारा प्रत्यक्ष-ज्ञान वर्तमान काल मे ही होता है, योगी को भूत और भविष्य का ज्ञान भी हो जाता है। जो पर्दे साधारण मनुष्य के लिए वर्तमान को भूत और भविष्य से अलग करते हैं, वे इसकी हालत में उठ जाते है।

(२) योगी को अपने मृत्युकाल का पहले ही ज्ञान हो जाता है, वह पूर्वजन्म की बावत भी जान लेता है।

(३) योगी ध्यानमात्र से सूर्य, चन्द्र और तारो की बावत जान लेता है, ऐसे ही उसे अपने भीतरी अगो की वावत ज्ञान हो जाता है।

(४) वह दिव्य शब्दो को सुनता है। उसके लिए आकाश के आवरणो का क्षय हो जाता है, वह ओट मे पडी वस्तुओ को देख सकता है।

(५) वह शरीरागो के बीच में पडे विना, दूसरे के मन की वात जान लेता है।

कर्म सम्वन्धी विभूतिया

(१) योगी अपने शारीरिक वल को वहुत वढा सकता है, 'हाथी के प्रत्यय पर ध्यान जमाने से हाथी का बल प्राप्त कर लेता है।'

(२) वह भूख-प्यास से ऊपर उठता है और समाधि-काल में अन्न-जल के विना निर्वाह कर सकता है।

(३) वह भूतो पर विजय प्राप्त कर सकता है पृथ्वी का आकर्पण उसके लिए स्थगित हो जाता है, वह आकाश में गमन कर सकता, और वायु-मडल मे ठहर सकता है।

(४) उसका मन उसके शरीर की सीमाओ को उल्लांघ सकता है, वह अन्य शरीरो में प्रविष्ट होकर उन पर शासन कर सकता है।

यह 'उदान मयम' का फल है।

(५) वह अपने शरीर को अदृप्ट वना सकता है।

अनुरूप सूत्र पर भाष्य करते हुए, व्यास ने कहा है कि योगी में यह सामर्थ्य भी हो जाती है कि दूसरे उसका शब्द न सुन सकें और उसे छू न सकें।

इन विभूतियो के सम्वन्ध में दो वातें विचार के योग्य हैं—

(१) क्या यह तथ्य का वर्णन है ?

(२) यदि है, तो इनका समावान क्या है ?

नवीन काल में अज्ञात-विश्लेषण निम्न तथ्यो को सत्य स्वीकार करके, उनका समाधान ढूंढता है—

(१) कुछ लोग, ज्ञानेन्द्रियो का प्रयोग किये विना, दूसरो के विचारो को जान सकते है। ऐसे ज्ञान के लिए आवश्यक नही कि दूसरा मनुष्य पहले के निकट हो। इसे 'क्लेयरवारान्स' कहते हैं।

(२) कुछ लोग, कर्मेन्द्रियो का प्रयोग किये विना, दूसरो को अपने विचारो का बोध करा सकते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि यह विचार दूसरे के चित्त से गुज़र कर तीसरे चित्त में जा पहुँचें। इसे 'टैलिपैथी' कहते है।

(३) कुछ लोगो में यह योग्यता होती है कि प्रत्यक्ष के साधारण साधनो का प्रयोग किये विना, प्राकृत पदार्थो का प्रत्यक्ष-ज्ञान प्राप्त कर लेते है। जो वस्तु आँखो से ओझल हो, उसे भी वे देख सकते हैं।

(४) आने वाली घटनाओ को जिनके सम्बन्ध में अनुमान काम नही देता, कुछ लोग जान लेते है। यह 'पूर्वज्ञान' है।

जिन लोगो में यह असाधारण गुण होते है, वे यह नही बता सकते कि यह क्षमता उन्हें कैसे प्राप्त हुई है, न ही वे जब भी चाहें, इन विभूतियो का प्रकाश कर सकते है। जीवन के अन्य क्षेत्रो में वे साधारण मनुष्यो से बहुत भिन्न नही होते।

विज्ञान का पहला काम तथ्य और कल्पना में भेद करना है। मनोविज्ञान अभी ऐसे कथनो को तथ्य स्वीकार नही करता। इसके दो कारण है—

(१) इस क्षेत्र में तथ्य के साथ दंभ की इतनी मिलावट है कि सारी सामग्री त्याज्य समझी जाती है।

(२) यह कथन अन्य तथ्यो और स्वीकृत सिद्धान्तो से टकराते हैं। विज्ञान की नीव ही इस धारणा पर है कि सत्य में कोई आन्तरिक विरोध नही हो सकता।

योगदर्शन में जिन विभूतियो का जिक्र है, उनमें कुछ के समाधान में सूत्रो में सक्षिप्त सकेत किया है, अधिकाश की हालत में समाधान की आवश्यकता नही समझी। इन पर कुछ विचार करें।

भूत और भविष्य का ज्ञान

प्राकृत जगत् की बाबत, वर्तमान स्थिति को देखकर हम भूत और भविष्य स्थिति का अनुमान करते हैं। ज्योतिष जाननेवाला कह सकता है कि १० वी शताब्दी में पहले पहल कब चन्द्र गृहीत हुआ, और २५ वी शताब्दी में पहला ग्रहण कब होगा। कारण यह है कि प्राकृतिक पदार्थ नियमाधीन काम करते हैं, और इनके लिए निश्चित मार्ग

से इधर उधर होना सभव नही। योगदर्शन के अनुसार, मनुष्यो के काम भी एक नियम के अधीन होते हैं। प्रत्येक क्रिया अपने पीछे सस्कार छोडती है। यह सस्कार अन्य क्रियाओ का कारण बनते हैं। जिस तरह वर्तमान जीवन में स्वभाव बनता है, उसी तरह जन्मजात स्वभाव भी बना है। वर्तमान स्वभाव को देखकर योगी जान लेता है कि यह स्वभाव किन क्रियाओ का फल है, और इसका आगामी रग-रूप क्या होगा? जीवन में निरन्तर भाव की व्यापकता भूत, वर्तमान और भविष्य को सयुक्त कर देती है, और विवेकी पुरुष समग्र के एक अश को देखकर अन्य अशो को भी देख सकता है।

योगी अपने मृत्युकाल की बाबत कैसे जान लेता है?

योगसूत्रो में कहा है कि कुछ कर्मों का फल शीघ्र प्रकट हो जाता है, और कुछ ऐसे होते हैं जिनका परिणाम देर के बाद निकलता है, विवेकी पुरुष दोनो प्रकार के कर्मों मे भेद करता है। मनुष्य की मृत्यु के दो कारण होते हैं—आकस्मिक घटना और प्राकृत क्षय। ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रो में दूसरे कारण की ओर सकेत किया है। योगी, अपनी स्थिति को देखकर, जान सकता है कि जीवन-दीपक का तेल और बत्ती उसे कितनी देर जलता रख सकेंगे।

पर-प्रत्यक्षीकरण

योगी की बाबत कहा गया है कि वह देखता है और सुनता है, जबकि दूसरो के लिए कोई वस्तु विद्यमान नही होती। इसका अर्थ यही है कि उसकी ग्रहण-शक्ति अत्यन्त तीव्र हो जाती है। अभ्यास उसके तन्तुजाल और मस्तिष्क को अति सूक्ष्म-ग्राही बना देता है।

दूसरो के विचारों का ज्ञान

ऐसे ज्ञान को चेतना के अज्ञात की क्रिया समझा जाता है। चित्त का ज्ञात भाग तो शरीर में बन्द होता है। कोई दूसरा बोलता है और मैं सुनता हूँ। वह अपनी कर्मेंद्रिय का प्रयोग करता है, मैं अपनी ज्ञानेन्द्रिय का प्रयोग करता हूँ। 'क्लेयर-वारान्स' के समर्थक कहते हैं कि चित्त के अज्ञात भाग के लिए शरीर में बन्द रहना आवश्यक नही, यह इन सीमाओ से बाहर जाता है, और अन्य अज्ञातो से मिल जाता है। इस स्थिति में, यह उनके बोधो को लेता ही नही, उन्हें अपने बोध देता भी है। यह समाधान 'क्लेयरवारान्स' और 'टैलिपैथी' की एक ही व्याख्या करता है। योग-विभूतियो मे दूसरो के मन की बात जान लेना तो एक विभूति है, परन्तु दूसरो पर, इन्द्रियो का प्रयोग किये बिना, अपने विचारो को प्रकट कर देना उसमें सम्मिलित नहीं।

यह समाधान अभी मनोविज्ञान के लिए मान्य नही।

अब कर्म-सबन्धी विभूतियो को लें।

शारीरिक बल बढाने के सबन्ध मे, स्व-अनुमति का प्रभाव अब स्वीकृत सिद्धान्त है। रोगी यह विश्वास कर ले कि वह ठीक हो रहा है, तो उसके नीरोग होने की सभावना बढ जाती है, यदि वह यही सोचता रहे कि रोग असाध्य है तो यह असाध्य ही हो जाता है। अलकार की भाषा में यह कहना ठीक ही है कि हाथी के प्रत्यय पर ध्यान जमाने से हाथी का बल प्राप्त हो जाता है। शब्दार्थ में इस कथन को स्वीकार करना कठिन है।

कुछ काल के लिए भूख-प्यास से ऊपर उठना सभव है। साधारण उपवास में, शरीर अपनी सचित सामग्री का प्रयोग करने लगता है। कुछ प्राणी शरीर के विनाश-निर्माण को स्थगित कर देते हैं, और पर्याप्त समय के लिए खाये-पिये बिना जीवित रहते हैं। मनुष्य के लिए भी विशेष अभ्यास के फलस्वरूप इसकी सभावना होनी चाहिये।

भूतो पर विजय प्राप्त करने का प्रश्न टेढा है। सूत्रो में कहा है कि योगी आकाश में गमन कर सकता है और वायुमडल में ठहर सकता है। आकर्षण का नियम यह है कि प्रकृति का प्रत्येक भाग इसके अन्य भागो को अपनी ओर खीचता है, यह आकर्षण पदार्थों के पिण्ड और अन्तर से निश्चित होता है। जब कोई मनुष्य छलाग लगाता है, तो कुछ क्षणो के लिए पृथिवी से अपना ससर्ग तोड देता है। पृथिवी उसे फिर अपनी सतह पर खीच लाती है। इन क्षणो में वह गति में होता है, कही स्थिर नही रह सकता। यह बात हमारे अनुभव में नही आती कि कोई मनुष्य अपने शरीर को वायुमडल में स्थिर रखे, या आकाश में गमन करे।

यह बात कि योगी का मन अपने शरीर से निकल कर अन्य शरीर में प्रवेश कर लेता है, योगी की अपनी अवस्था से तो ज्ञात नही हो सकती, जिस शरीर मे उसके मन का प्रवेश हुआ है, उसके व्यवहार से कुछ पता लग सकने की सभावना है। कुछ लोगो को ऐसा प्रतीत होता है कि कोई दूसरा मन उनके शरीर में प्रविष्ट हो गया है, और उनका अपना मन भी वही विद्यमान है। दोनो मन आपस में लडते झगडते हैं और आम तौर पर बाहर से आया हुआ मन व्यक्ति को बहुत दुखी बना देता है। मनोविज्ञान बताता है कि इन हालतो में एक शरीर में दो मन नही होते, व्यक्ति की चेतना टुकडो में विभक्त हो जाती है। यह मानसिक रोग है, बाहर का आक्रमण नही।

कर्म-सबन्धी अन्तिम विभूति यह है कि योगी अपने शरीर को अदृष्ट बना सकता

है। वह आप तो ऐसी वस्तुओ को देख सकता है, जो दूसरो के लिए विद्यमान ही नहीं होतीं, आप उनके दरमियान विचरता हुआ, उनके लिए अदृश्य बन जाता है। इस सभावना की नीव पर, अग्रेज उपन्यास लेखक एच० जी० वेल्स ने एक कहानी लिखी है, उसका नाम 'अदृश्य मनुष्य' रखा है। एक वैज्ञानिक ने अपने आपको अदृष्ट बना लिया। पुस्तक इस स्थिति के अनुभवो का वर्णन है।

शरीर को अदृष्ट बनाने का अर्थ क्या है?

मेरे सामने पुस्तक पडी है और मैं इसे देखता हूँ। इसकी जिल्द हरी है। जब प्रकाश की किरणें किसी पदार्थ पर पडती हैं तो उससे टकरा कर लौटती है, और मेरी आँख की पुतली पर पडती हैं। इसके फलस्वरूप पदार्थ का प्रतिबिम्ब मेरी आँख पर अकित होता है। सफेद प्रकाश में कई रगो का सयोग होता है। जब समस्त सग्रह पदार्थ से लौटता है, तो मै उसे सफेद देखता हूँ, जब वह किसी रग या कुछ रगों को जज्ब कर लेता है, तो मै सफेदी में विद्यमान शेष रग या रगों को देखता हूँ। हरी वस्तु को देखने का अर्थ यह है कि यह हरी किरणो को तो लौटा देती है, शेष किरणो को सोख लेती है। यदि कोई वस्तु पूर्णतया स्वच्छ हो, तो प्रकाश की किरणें इसके भीतर से बिना रोक गुज़र जाती हैं, और जो कुछ उसके पार होता है, उसे दिखा देती हैं। ऐसी वस्तु प्रकाश की किरणो को रोक कर पीछे नही लौटा देती। निर्मल शीशा ऐसी वस्तु है, हम इसे नही देखते, इसमें से परे की वस्तुओ को देखते हैं। वेल्स के वैज्ञानिक ने उपयोगी साधनो को बर्तकर अपने शरीर को पारदर्शक बना लिया, और आप अदृष्ट हो गया।

इसी तरह, व्यास की व्याख्या के अनुसार, योगी को यह सिद्धि भी प्राप्त हो जाती है कि वह अपने शब्द को श्रवण के अयोग्य बना दे। इसका अर्थ यह है कि जो लहरें वायुमडल में उसके शब्द से चलने लगती हैं, व अतिधीमी हो जाय, बहुत आहिस्ता चलें, या चलते ही लुप्त हो जायें। हम अदृष्ट या श्रवण-अयोग्य होने की अवस्था की स्पष्ट कल्पना कर सकते हैं। कभी ऐसा होता है या हुआ है—यह तो तथ्य का प्रश्न है।

हमने ऊपर कहा है कि योग-विभूतियो से मिलते-जुलते विषय पर नवीन काल में भी अनुसधान हो रहा है। यह एक अजीब बात है कि जहाँ ज्ञान-सबन्धी विभूतियो को तथ्य का वर्णन मानकर, उन्हें समझने का यत्न हो रहा है, वहाँ कर्म-सबन्धी विभूतियो की ओर उदासीनता है। यहाँ तथ्य की नीव विद्यमान नही दीखती।

जैसा पहले कह चुके हैं, विभूतियो की प्राप्ति योगाभ्यास का लक्ष्य नही, वे केवल अभ्यास की सफलता का चिह्न हैं।

'विवेकज-ज्ञान'

विभूतियो का विवरण सूत्र ५० के साथ समाप्त हो जाता है। पाद के तीन अन्तिम सूत्रो में पहले दो विवेकज-ज्ञान या प्रतिभा की वावत कहते है, तीसरे का उद्देश्य चौथे पाद के लिए तैयार करना है।

अन्तिम सूत्र ये हैं—

'क्षण और क्षणो के क्रम में सयम करने से विवेकज-ज्ञान होता है।' (५१)

'विवेकज-ज्ञान तारक है, सर्व विपयक है, सर्वथाविपय है, और अक्रम है।' (५२)

'सत्त्व और पुरुप की शुद्धि समान होने से कैवल्य प्राप्त होता है।' (५३)

यह विवेकज-ज्ञान क्या है?

नवीन दर्शन में, फास के दार्शनिक हेनरी वर्गसाँ ने वुद्धि और प्रतिभा के भेद पर वहुत जोर दिया है। उसके विचार में वुद्धि का काम व्यवहार में सहायता देना है। व्यवहार में क्रिया की सफलता इस वात पर निर्भर होती है कि कर्त्ता अपने ध्यान को सत्ता के उस अल्प भाग पर जमा दे, जिससे उसे वर्तमान स्थिति में वास्ता पडा है। विश्लेपण वुद्धि का प्रमुख काम है। राजनीति की तरह, वुद्धि भी अपने काम में इसी नियम पर चलती है—'तोडो, फोडो, और विजय प्राप्त करो।'

प्रकटनो की दुनिया में वुद्धि हमारी सहायक होती है, विज्ञान इसकी देन है। तत्त्व-ज्ञान का उद्देश्य व्यवहार-कुशलता नही, अपितु सत्ता को उसके वास्तविक रूप में देखना है। विश्लेपण सत्ता को साक्षात् देखने में असमर्थ है। वर्गसाँ के अनुसार प्रतिभा (इटयूशन) सत्ता को वाहर मे नही, अपितु अन्दर से देखती है। वुद्धि का सवन्व ससार-प्रवाह से है, परन्तु यह प्रवाह के क्षणो और क्षणो के क्रम में उलझी रहती है, प्रतिभा समस्त प्रवाह को देखती है। विशेप क्षणो और उनके क्रम से ऊपर उठना उनका सयम है। सूत्र ५१ के अनुसार, ऐसे सयम से विवेकज ज्ञान प्राप्त होता है।

विवेकज-ज्ञान या प्रतिभा के लक्षण क्या हैं?

सूत्र ५२ में चार लक्षणो का वर्णन है। इन पर कुछ विचार करें।

पहला लक्षण यह है कि प्रतिभा वाहर मे नही, अन्दर से देखती है, ऐसे दर्शन को 'तारक' ज्ञान कहते हैं।

एक दृष्टान्त मे इस ज्ञान के स्वरूप को समझ सकते हैं।

एक पुरुप नदी के किनारे वैठा नदी के प्रवाह को देखता है। उसे जल की तरगो और वहाव के वेग का कुछ वोव होता है। वह नाव में वैठकर नदी के पार जाने का यत्न करता है। अव उसका वोव कुछ अविक स्पप्ट और तीव्र हो गया है। वह नदी

में गिर पडता है और वहाव के साथ वहने लगता है। अव वह प्रवाह में पडा है, और उसका वोध अधिक स्पष्ट हो गया है। वर्गसाँ कहता है कि वुद्धि जीवन-प्रवाह को जीवन-नदी के वाहर वैठे देखती है; प्रतिभा प्रवाह का भाग वन कर उसे देखती है।

विवेकज-ज्ञान या प्रतिभा का दूसरा लक्षण यह है कि यह सर्वविषय है। वुद्धि अपनी परीक्षा के लिए सत्ता के किसी भाग को लेती है, प्रतिभा समग्र को देखना चाहती है इसका दिया हुआ ज्ञान 'सर्वविषय' है। अग्रेज दार्शनिक हर्वर्ट स्पेन्सर ने कहा है कि हमारा ज्ञान तीन प्रकार का होता है। सबसे निचले स्तर पर असवद्ध तथ्यो का ज्ञान है। साधारण मनुष्य इसकी सहायता से अपना काम चलाता है। दूसरे प्रकार का ज्ञान विज्ञान है, इसमें किसी विशेष क्षेत्र के तथ्यो को सवद्ध किया जाता है। गणित एक क्षेत्र को लेता है, प्राणि-विद्या दूसरे क्षेत्र को। सवसे ऊँचे स्तर पर दार्शनिक विवेचन है, यह अपने क्षेत्र को सीमित नही करता। योग सूत्र में भी कहा है कि प्रतिभा 'सर्वविषय' है, यह समग्र को देखती है, किसी विशेष भाग के दर्शन से सतुष्ट नही होती।

वुद्धि अश को देखती है, और उसको भी विशेष पक्षो में देखती है। वुद्धि मनुष्य का अध्ययन करना चाहती है। प्राणिविद्या की दृष्टि में मनुष्य एक प्राणी है, मनोविज्ञान की दृष्टि में वह एक चेतन प्राणी है, अर्थशास्त्र के लिए वह वस्तुओ को वनाने, भोगने और अदल-वदल करनेवाला जन्तु है। प्रतिभा मनुष्य को किसी विशेष पक्ष में नही देखती, अपितु समग्र मनुष्य को देखती है। सूत्र के शब्दो में, विवेकज-ज्ञान 'सर्वथाविषय' है।

प्रतिभा का चौथा लक्षण यह है कि यह ज्ञान 'अक्रम' है। वुद्धि अपनी क्रिया में एक पग के वाद दूसरा पग उठाती है, दूसरे के वाद तीसरा। यह क्रम जारी रहता है, जव तक वुद्धि उद्देश्य को सिद्ध नही कर लेती। तर्क और गणित इस क्रिया के प्रसिद्ध उदाहरण है। प्रतिभा विजली की तरह, एक चमक में एक साथ दिखा देती है, इसके लिए आवश्यक नही कि कदम-कदम चलकर गन्तव्य तक पहुँचे। विवेकज-ज्ञान क्रम पर आधारित नही। वुद्धि का काम घटनाओ की दुनिया मे होता है, घटनाएं एक दूसरी के वाद घटती है, इसलिए वुद्धि क्रम की ओर उदासीन नही हो सकती। सत्ता मे पहले-पीछे का भेद नही, प्रतिभा इसे अक्रम देखती है।

अन्तिम सूत्र में कहा है कि जव सत्त्व (ज्ञान) भी पुरुष के समान शुद्ध हो जाता है, जव इसमे भ्राति का अश नही रहता, तो अन्तिम उद्देश्य, कैवल्य, की सिद्धि हो जाती है।

कैवल्य का स्वरूप योगदर्शन के अन्तिम पाद का विषय है।

४ कैवल्यपाद

१ 'कैवल्यपाद' का विषय

विभूतियो का विषय 'विभूतिपाद' के साथ समाप्त नही होता, यह चौथे पाद में भी चलता है। पहले सूत्र में ही सिद्धि के विविध कारणो का वर्णन है। इसके वाद चित्र के सवन्ध में कुछ दार्शनिक प्रश्नो का समाधान है। योग चित्त की वृत्तियो का निरोध है। इन वृत्तियो का विवरण पहले पाद में हुआ है, परन्तु चित्त के स्वरूप की वावत वहाँ नही कहा, यह कमी चौथे पाद में पूरी की गयी है। पाद में तीसरा विषय कैवल्य है। कैवल्य पाद को इसका शीर्षक देता है, परन्तु इसका जिक्र अन्तिम सूत्र में होता है। पहले तीन पादो में सूत्रो की सख्या ५० से ऊपर है, चौथे पाद में केवल ३४ सूत्र हैं। इसमें सदेह होता है कि अपने विद्यमान रूप में 'कैवल्यपाद' अपूर्ण है।

२ सिद्धि के विविध कारण

जिन सिद्धियो का वर्णन 'विभूतिपाद' में हुआ है, वे सव योगाभ्यास का फल हैं। इनके अतिरिक्त या इसी प्रकार की सिद्धियाँ अन्य साधनो के प्रयोग से भी सिद्ध हो सकती हैं। सूत्र १ में कहा है—

'जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि से सिद्धियाँ प्रकट होती हैं।' जिन सिद्धियो का यहाँ वर्णन हुआ है, उनमें ओषधि, तप और मत्र का सवन्ध क्रिया से है। ओषधि और तप कायाकल्प या कायापलट का साधन समझे जाते हैं, 'मत्र' से मनुष्य प्राकृत-नियम से ऊपर उठ सकता है, जैसा वायुमडल में उड़ना। जन्म को सिद्धि का कारण वताने का अभिप्राय यह है कि कुछ मनुष्यो में विलक्षण योग्यताएँ व्यक्त हो जाती है, जिनका कारण उनके वर्तमान जीवन का कोई परिश्रम नही होता। एक वालक वचपन में ही अद्भुत गणितज्ञ, दूसरा अद्भुत रागी, तीसरा अद्भुत चित्रकार होता है। वैज्ञानिक मनोवृत्ति प्रत्येक फल के लिए किसी कारण की माग करती है। योग सूत्रो में ऐसी जन्मजात सिद्धियो का समाधान करने का यत्न किया गया है।

ओषधि और तप से कायाकल्प होता है। इसका उद्देश्य प्राय किसी रोग से छूटना, वुढापे को दूर रखना, या यौवन को वापस लाना होता है। हमारे शरीर के अग निरन्तर वदलते रहते है, और कुछ वर्षों के वाद आकृति तो वनी रहती है, परन्तु सामग्री सारी नयी हो जाती है। सूत्र २ में कहा है कि कायाकल्प में परमा-

णुओ का परिवर्तन होता है, ओषधि और तप ऐसे परिवर्तन को तीव्र करते हैं, और एक हद तक इसकी दिशा को वदलते हैं। यह परिवर्तन नयी उपज नही होता, जो कुछ अव्यक्त था, वह व्यक्त हो जाता है। सूत्र में कहा है—'(ओषधि-सेवन से) वरण भेद होता है, किसान के समान।' पर्वत की वगल मे खेती होती है, इसमे ऊपर-नीचे क्यारियाँ वनी होती हैं। किसान धारा से पानी ऊपर की क्यारी में ले आता है, नीचे की क्यारियो के सवन्ध में उसे इतना ही करना होता है कि दो क्यारियो के वीच के आवरण को तोड दे। वन्ने (मेड) के टूटने पर, पानी अपने आप ऊपर की क्यारी से नीचे की क्यारी में आ जायगा। योग सूत्र के अनुसार, ओषधि और तप का काम भी गुप्त और निद्रित शक्ति को व्यक्त और जागरित कर देना है।

३ जन्मजात सिद्धियाँ

प्रत्येक अनुभव जाते-जाते अपना चिह्न छोड जाता है। यही हालत क्रिया की है। हमारे तन्तु जाल में गुण-ग्रहण की अपूर्व क्षमता है। जव कोई अनुभव वार-वार अनुभूत होता है, या कोई क्रिया वार-वार की जाती है, तो उसका परिणाम सस्कार के रूप में स्थिर रहता है।

जो मनोवृत्तियाँ जन्मजात होती हैं, उन्हें भी सूत्रकार पूर्वजन्म या जन्मो के सस्कार समझता है। कारण-कार्य नियम की व्यापकता एक रहस्य का समाधान कर देती है।

४ चित्त के स्वरूप की वावत

चेतना वृत्तियो में व्यक्त होती है। यहाँ कुछ प्रश्न खडे हो जाते हैं—

(१) क्या चेतना का विषय चेतना से अलग है? प्रतीत तो ऐसा होता है कि ज्ञान से अलग ज्ञेय का अस्तित्व है, क्या यह प्रतीति सत्य है, या भ्रम मात्र है?

(२) क्या चित्त चेतना से अलग कोई वस्तु है, या ज्ञान ही ज्ञाता भी है?

इन दोनो प्रश्नो में भेद है। पहला प्रश्न है—

क्या चेतना अपने आपको ही जानती है?

दूसरा प्रश्न है—

क्या चेतना ही अपने आपको जानती है?

पहला प्रश्न अध्यात्मवाद और वस्तुवाद का विवाद है, दूसरा द्रव्यवाद और प्रकटनवाद का विवाद है।

(३) क्या सारी वृत्तियाँ एक ही चित्त की वृत्तियाँ हैं, या चित्त एक से अधिक हैं?

यह एकवाद और अनेकवाद का विवाद है।

इन प्रश्नो को इसी क्रम में लें, और देखें कि सूत्रकार का मत क्या है।

(१) वस्तुवाद

ससार मे जो घटनाएं हो रही हैं, वे दो प्रकार की है। बिजली चमकती है, मैं इसकी चमक देखता हू, थोडी देर बाद गर्ज सुनता हू। चमक और गर्ज बाहरी घटनाएं हैं, चमक का देखना और गर्ज का सुनना आन्तरिक अवस्थाएं हैं। अध्यात्म-वाद कहता है कि बाहर और अन्दर का भेद कल्पना मात्र है, देखना और सुनना तो असदिग्ध तथ्य हैं, इनसे अलग चमक और गर्ज का कोई अस्तित्व नही। इसके विरुद्ध वस्तुवाद कहता है कि चेतना से अलग चेतना का विषय है। मैं कमरे में दाखिल होता हूँ और देखता हूँ कि वहाँ एक साप पडा है। मैं घबराकर पीछे हट जाता हूँ। एक पत्थर उसकी ओर फेंकता हूँ, पर वह हिलता-डुलता नही। मुझे ख्याल आता है कि साप मरा हुआ है, उसे उठवाकर बाहर फिकवाना चाहिये। निकट होकर देखता हूँ तो रस्सी दीखती है। यहाँ बाहर की वस्तु में भेद नही हुआ, परन्तु मेरे चित्त की अवस्था बदलती रही है। प्राकृतिक परिवर्तन एक पक्ति मे चलते हैं, मानसिक अवस्थाएं दूसरी पक्ति में, इन दोनो की एकता सभव नही। सूत्र १५ में कहा है—

'वस्तु के एक होने पर भी, चित्त का भेद हो जाता है, इन दोनो का मार्ग भिन्न है।'

बाह्य जगत् को ज्ञाता की कल्पना मात्र समझने में एक और कठिनाई भी प्रस्तुत हो जाती है। इसकी ओर सूत्रकार एक प्रश्न के रूप में सकेत करता है—'जब ज्ञाता देखता न हो तो स्थिति क्या होगी?' मेरे कमरे में मेज, कुर्सी, पुस्तकें और कुछ अन्य सामान पडा है। मैं इन्हें और इनकी स्थिति को देखता हूँ। रात को सो जाता हूँ। प्रात उठता हूँ तो वही वस्तुए उसी स्थिति में पडी दीखती हैं। वस्तुएं वही है, या मुझे वैसी ही प्रतीत होती हैं, जैसी सोने से पहले दीखती थी? रात्रि के समय जब मैं सोया रहा, वे मौजूद थी, या मेरी आँख बन्द होने पर लुप्त हो गयी, और आँख खुलने पर फिर उपज पडी? मै बाहर भ्रमण को जाता हू, वहा भी वही पदार्थ दीखते है, जिन्हें कल सायकाल देखा था, और पूर्व क्रम और स्थिति में दीखते है। क्या यह वृक्ष, भवन आदि रात भर विद्यमान रहे, या लुप्त हो गये, और फिर प्रकट हो गये हैं? अध्यात्मवाद कहता है कि 'सृष्टि' 'दृष्टि' ही है, पदार्थो का अस्तित्व उनके ज्ञात होने में है। योग-सूत्र में इतना ही कहा है कि यदि हम बाह्य जगत् के

अस्तित्व को न माने तो एक जटिल समस्या खडी हो जाती है। सुगम समाधान यही है कि हम स्थायी बाह्य जगत् को स्वीकार करें। साख्य की तरह योग वस्तुवाद को मान्य बताता है।

(२) चित्त और चित्त की वृत्तियाँ

चित्त की वृत्तियाँ बदलती रहती हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ है, जो इनका आधार है, या ये निराश्रय हैं, और अपना समाधान आप ही है?

मै यह लेख लिख रहा हूँ, कई दिन हुए इसे आरभ किया था, और इसे समाप्त करने में कई दिन लगेंगे। जीवन मे और भी बहुत सी क्रियाएँ की हैं। अनुभव भी प्राप्त होते रहे है। इस अनुभव और चरित्र को मै अपना कहता हूँ। इनके अतिरिक्त भी अनुभव और चरित्र हैं, वे मेरे नही। जिन कामो और अनुभवों को मैं अपना कहता हूँ, उनमें मेरे लिए विशेष ससर्ग और तीक्ष्णता है, अन्य कर्मों और अनुभवो में दूसरो के लिए यह समीपता और तीक्ष्णता होगी, मेरे लिए नही।

सूत्र ४ मे कहा है—

'निर्माण चित्तो की उत्पत्ति अस्मिता मात्र से होती है।'

'मै' का भाव चित्तो को उनका व्यक्तित्व देता है।

सूत्र १८ में कहा है कि 'वृत्तियाँ सदा ज्ञात होती हैं', बदलती रहती हैं, पुरुष 'अपरिणामी है', नित्य न बदलनेवाला तत्त्व है। साख्य मे मन को विकारो मे एक बताया है, योग में 'निर्माण चित्तो' का ज़िक्र किया है। नित्य चेतन सत्ता दोनो में 'पुरुष' ही है।

(३) चित्तों की अनेकता

चित्त के सबन्ध मे तीसरा प्रश्न जिस पर विचार किया गया है, यह है कि सारी चेतना-अवस्थाएँ एक ही चित्त की वृत्तियाँ है, या अनेक चित्तो की वृत्तियाँ हैं।

सूत्र २१ में अनेकवाद के पक्ष मे कहा है—

'यदि एक चित्त को किसी अन्य चित्त का दृष्टमात्र माने, तो इसमें स्मृतिसकर दोष होगा।'

दो वर्णों के मेल से जो सन्तान पैदा होती है, उसे वर्णसकर कहते हैं। स्मृतिसकर का अर्थ स्मृतियो का एकमेक होना है। अनुभव ऐसा मिश्रण नही दिखाता। एक अध्यापक आज कल के काम को जारी रखता है, वैद्य अपने काम को जारी रखता है, वकील अपने काम को जारी रखता है। वैद्य की स्मृति, वकील की स्मृति, अध्यापक की स्मृति पृथक् रहती है, आपस में खिल्त-मिल्त नही हो जाती। स्मृति-सकर

से तो ऐसी अव्यवस्था पैदा हो जायगी कि जीवन का व्यापार ही न चल सकेगा। चित्तो की अनेकता ही मान्य है।

(४) कैवल्य

हमारे कर्म अपने पीछे वासनाएँ छोड जाते है, और यह वासनाएँ आगामी आचरण पर प्रभाव डालती हैं। इस तरह हम अपने आपको जकडने के लिए जजीरें वनाते जाते है। योग सावन के सफल होने पर वासनाएँ अपनी शक्ति खो देती हैं, उनकी स्थिति जले हुए वीज की स्थिति होती है, जिसमें आगे उत्पन्न करने की शक्ति नही रहती। योगी काम तो करता है, परन्तु यह काम किसी कामना को पूरा करने के लिए नही होता। उसकी हालत में, कर्म और अकर्म का भेद मिट जाता है, वह शुभ और अशुभ के क्षेत्र से परे हो जाता है।

सूत्र ७ मे कहा है—

'योगी का कर्म शुक्ल या कृष्ण (अच्छा या वुरा) नही होता, अन्य पुरुषो के कर्म तीन प्रकार के (शुभ, अशुभ और मिश्रित) होते है।'

योग-सयम की सिद्धि के वाद भी नीचे सरक जाने की सभावना वनी रहती है। सूत्र २६ मे कहा है—

'विवेक प्रत्यय के छिद्रो में, सस्कारो से अन्य प्रत्यय होते हैं।' असावधानी की हालत में यह जाग पडते हैं। योगी के लिए आवश्यक है कि सदा साववान रहे। अन्त में योगी को 'मेघ-समाधि' प्राप्त होती है—वह हर ओर से धर्म से आच्छादित हो जाता है। उसकी कामनाएँ पूरी हो चुकी हैं, जानने के लिए भी उसे वहुत कम रह जाता है।

धर्म-मेघ समाधि अन्तिम मजिल है, इससे परे की मजिल 'प्रसख्यान' है। 'प्रसख्यान' का अर्थ पुरुप को प्रकृति और उसके विकारो से भिन्न देखना है। इन दो शव्दो का प्रयोग वताता है कि साख्य हमें जो क्षमता देता है, उसमें नीचे फिसल जाने की सभावना वनी रहती है, योग-सयम हमें एक पग आगे ले जाता है। 'धर्ममेघ समाधि' होने पर यह सभावना भी नही रहती।

योग साख्य का पूरक है।

प्रकृति का विकास पुरुप की दृष्टि में होता है। पुरुप अपने आपको प्रकृति के विकारो में लिप्त कर देता है। यह भोग है, दूसरे पक्ष से देखें तो यह अविद्या क्लेशों का मूल है। प्रकृति का विकास सत्त्व, रज, तम तीन गुणो का खेल है। जव मनुष्य ससार-लीला को खेल की स्थिति में देख लेता है तो उसे नाटयशाला मे हँसना-रोना

निरर्थक प्रतीत होने लगता है। प्रकृति अपना नाच बन्द कर देती है, वह विवेकी पुरुष के पूर्व-भ्रम को कायम नहीं रख सकती। गुणों के खेल से दृष्टि हटा कर पुरुष फिर अपने स्वरूप मे स्थिर हो जाता है। यही कैवल्य है।

पाद के अन्तिम सूत्र (३४) में कहा है—

'पुरुषार्थ-रूप गुणो का समाप्त होना, उनका अपने कारण में लय होना, चित्त-शक्ति का अपने स्वरूप में स्थिर होना कैवल्य है।'

न्याय दर्शन

१. प्राक्कथन

१. दर्शनशास्त्र में न्याय का स्थान

प्राचीन यूनान मे दर्शन के तीन भाग स्वीकृत थे—भौतिकी, नीति और तर्क। भौतिकी में दृष्ट जगत् की वावत सारा विवेचन आता था। नीति में मनुष्य का जीवन और इसका अन्तिम ध्येय विचार का विषय था। भौतिकी और नीति दोनो विवेचन के विपय थे, तर्क में स्वय विवेचन विवेचन का विपय वना। विचार है क्या ? हम कैसे जान सकते हैं कि हमारे विचार मन की क्रीड़ा मात्र है, या हमे सत्य का दर्शन कराते हैं ? सत्य और असत्य का भेद तर्कविद्या या न्याय का प्रमुख विपय है। सुकरात से पहले दार्शनिको का ध्यान सृष्टि रचना पर लगा रहा, सुकरात ने नीति को विवेचन का केन्द्र वना दिया। लक्षण पर वल देकर सुकरात ने तर्क की नीव भी रख दी। इस नीव पर अरस्तू ने एक प्रतापी भवन खडा किया। पश्चिम में आज भी न्याय का निगमन भाग अरस्तू का न्याय ही है।

भारत में, साख्य दर्शन का प्रमुख विषय पुरुप और प्रकृति का भेद है। प्रकृति के सवन्ध में, मूल प्रकृति और उसके विकास पर विशेप विचार किया है। साख्य का प्रमुख विपय वही है जिस पर सुकरात के पूर्वजो ने विचार किया था। योग-दर्शन वताता है कि किस तरह मनुष्य अपने अन्तिम उद्देश्य को सिद्ध कर सकता है। सुकरात का दृष्टिकोण भी यही था। साख्य और योग के वाद हम न्यायशास्त्र की ओर आते हैं। इस अध्ययन में हमें वार-वार अरस्तू की याद आयेगी। अरस्तू की 'सिलोजिस्म' और न्याय की 'पच-अवयवी' में अपूर्व समानता है। कुछ लोग तो कहते हैं कि यह समानता लेन-देन का परिणाम है। सिकन्दर अरस्तू का शिष्य था। सिकन्दर भारत में न आया हो, तो भी भारत के निकट तो पहुँचा ही था। इसमें भी सन्देह नही कि उस समय भारत और यूनान के विचारको में सम्पर्क हुआ। क्या न्याय के सवन्ध में यह सम्पर्क पर्याप्त लेन-देन की सीमा तक पहुँचा ? और यदि ऐसा हुआ तो ऋणी कौन था ? यह प्रश्न उठाये विना भी हम समझ सकते हैं कि तर्क-विवेचन में, दो भिन्न देशो में विचारक एक ही परिणाम पर पहुँचे।

यूनान में तर्क विद्या का आरभ एक व्यावहारिक आवश्यकता पूरी करने के लिए हुआ। यूनान में वकीलो की प्रथा न थी। जब किसी पुरुष को कठिनाई आ पडती तो उसे आप ही न्यायालय में अपनी सफाई करनी होती थी। इस स्थिति ने आवश्यक बना दिया कि युवक वादविवाद में क्षमता प्राप्त करें। साफिस्ट उन्हें यह क्षमता देते थे। अरस्तू ने इसके लिए तर्कशास्त्र का निर्माण किया। भारत में दार्शनिक विवेचन को बहुच ऊँचा पद दिया गया था। साख्य के अनुसार तत्त्व-ज्ञान दु खो की अत्यन्त निवृत्ति का उपयोगी साधन है, योग के अनुसार यह कैवल्य का साधन है। न्यायदर्शन के पहले सूत्र में ही कहा है कि १६ पदार्थों के तत्त्व-ज्ञान से निश्रेयस या मोक्ष की प्राप्ति होती है। इन पदार्थों में 'प्रमाण' को प्रथम स्थान दिया है।

२. न्याय सूत्र

न्याय सिद्धान्त का प्रामाणिक विवरण न्यायसूत्रो में मिलता है। ये गौतम मुनि की रचना समझे जाते है। इन सूत्रो पर वात्स्यायन का भाष्य बहुत प्रसिद्ध है। पीछे इस भाष्य की टीका हुई और इस टीका की टीका हुई। यह सिलसिला जारी रहा। कुछ बौद्ध लेखको ने इस सिद्धान्त में बौद्ध सिद्धान्त देखा, पीछे फिर प्रथम दृष्टिकोण प्रमुख हो गया।

न्याय दर्शन पाँच अध्यायो में बँटा है और इनमें प्रत्येक अध्याय के दो भाग है। पहले सूत्र में जिन १६ पदार्थों या विचार-विषयो का वर्णन है, उनका लक्षण १६ सूत्रो में किया गया है। इससे सूत्रकार की शैली का पता लग जाता है। वास्तव में पहले अध्याय में ही न्याय-सिद्धान्त का सक्षिप्त विवरण आ गया है, पुस्तक का शेष भाग व्याख्या ही है। इस व्याख्यान में पदार्थों को महत्त्व के एक स्तर पर नही रखा। पहले दो पदार्थ 'प्रमाण' और 'प्रमेय' हैं। प्रमाण का अर्थ मापक है, सत्य-ज्ञान की प्राप्ति के साधन इसके अन्तर्गत आते है। जो कुछ प्रमाण से सिद्ध किया जाता है, या जिसे प्रमाण का विषय बनाया जाता है, वह 'प्रमेय' है। प्रमाण दूसरे अध्याय का विषय है। जिन विषयो के सबन्ध में प्रमाण का प्रयोग होता है, उनकी गिनती सूत्र १ ९ में की गयी है। प्रमेय १२ हैं, इनमें पहले ६ तीसरे अध्याय का, और शेष ६ चौथे अध्याय का विषय है। इस तरह न्याय दर्शन का आधे से अधिक भाग प्रमाण और प्रमेय, दो विषयो की परीक्षा है।

२. न्याय के सोलह विचार-विषय

सूत्र १ १ में सोलह विपयो की सूची दी है, जिनका ज्ञान नि श्रेयस का सावन है। उक्त विपय यह हैं—

'प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, मिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान।'

इनमें प्रत्येक की परिभाषा प्रथम अव्याय में की गयी है।

प्रश्न उठता है कि यह सूची कैसे तैयार की गयी है। सोलह विचार-विषयो के आन्तरिक सवन्व को समझने का कुछ यत्न करें।

न्याय का प्रमुख विपय 'प्रमाण' है। यह हमे वताता है कि मत्य और अमत्य में भेद करने के कुछ साधन हमारी पहुँच में हैं, या नही, और यदि हैं, तो वह सावन कौन से है। इम विचार के वाद प्रश्न उठता है कि जिस कमौटी का हमने पता लगाया है, वह किन विपयो के मवन्व में वरती जा सकती है। 'प्रमेय' न्याय दर्शन का दूसरा विचार-विपय है।

यहाँ हमने फर्ज़ कर लिया है कि स्वय प्रमाण को प्रमाणित होने की आवश्यकता नहीं, यह तो मानना ही चाहिये कि सत्य और असत्य को पहिचानने की कसौटी विद्यमान है और यह अभिज्ञान हमारी पहुँच में है। यह भी फर्ज़ कर लिया है कि कोई ऐसी सत्ता है, जिसे पहिचाना जा सकता है। क्या ऐसा फर्ज़ करने का हमें अधिकार भी है? न्याय की विपय-सूची में तीसरा विषय 'सशय' है। सन्देहवाद से निपटे विना हम दार्शनिक विवेचन में चल ही नही सकते। नवीन काल में फ्रान्स के दार्शनिक डेकार्ट ने भी अपना विवेचन 'सन्देह' से आरभ किया। न्यायदर्शन के अनुमार, जव सन्देहवादी अपने पक्ष की पुष्टि में, या प्रतिपक्ष के खडन में, कुछ कहता है, तो वह आप प्रमाण के अविकार को स्वीकार कर रहा है। युक्ति के निपेध में युक्ति देना ही अपने पक्ष का निपेव करना है।

सशयवाद को एक ओर करके, न्याय 'तर्क' के स्वरूप की ओर फिरता है। तर्क के दो आकार प्रमुख हैं—आगमन (इडक्शन) और निगमन (डिडक्शन)। आगमन में हम विशेपो से उठकर किसी व्यापक धारणा तक पहुँचना चाहते हैं, निगमन में व्यापक धारणा से चलकर नीचे विशेपो की ओर उतरते हैं। आगमन में कोई स्थिति हमें इस पर विचार करने के लिए वाधित करती है। मैं ज्वर-ग्रस्त हो गया हूँ। पीडा तो होती है, काम-काज भी स्थगित हो गया है। मैं ज्वर से मुक्त होना चाहता हूँ और सोचने लगता हूँ। सोचना सदा किसी 'प्रयोजन' के लिए होता है।

मुझे ज्वर पहली वार नही हुआ, और लोगो को भी ज्वर होता है। मैं देखना चाहता हूँ कि वर्तमान स्थिति के समान अन्य स्थिति में क्या उपाय बरता गया था, मैं वर्तमान स्थिति के अन्य उदाहरणो को याद करता हूँ। उदाहरण या 'दृष्टान्त' मेरे विचार में महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं, ऐसे उदाहरणो की सहायता से मैं इस नतीजे या 'सिद्धान्त' पर पहुंचता हूँ कि मेरा ज्वर मैलेरिया है और कुनाइन इसे दूर कर सकेगी।

यहाँ तक हम न्याय के पहले छ विषयो तक पहुँचे हैं, और हमने देखा है कि किस तरह प्रमाण और प्रमेय से आरभ करके, सशय, प्रयोजन और दृष्टान्त से गुज़र कर, हम कुदरती गति से सिद्धान्त तक पहुँचते है। अब आगे चलें।

निगमन (डिडक्शन) में एक से अधिक वाक्यो की नीव पर एक नये वाक्य का अनुमान होता है। दो वाक्यो का प्रत्येक जोडा किसी तीसरे वाक्य को मान्य नही वना सकता, उनमें किसी साझे (उभयगामी) पद का होना आवश्यक है। दलील के वाक्यो को 'अवयव' कहते हैं। आवार अवयवो को एक साथ देखना और उनके गुप्त अर्थ को भाप लेना ही 'तर्क' है। यह तर्क हमें किसी 'निर्णय' तक पहुँचाता है। न्याय के विपय ७–९ 'अवयव', 'तर्क' और 'निर्णय' है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'सशय' के वाद आनेवाले ६ विषय आगमन और निगमन के अशो की ओर सकेत करते हैं।

किसी युक्ति के सवन्ध में दो और वातें भी विचार के योग्य होती हैं—

(१) तर्कना का उद्देश्य सत्य-ज्ञान का प्राप्त करना है, या दूसरे को नीचा दिखाना है?

(२) क्या युक्ति वास्तव में निष्कर्ष को सिद्ध करती है, या दूषित है?

जो युक्ति जिज्ञासा के भाव से होती है, उसे 'वाद' कहते है, जहाँ यह जिज्ञासा विद्यमान नही, वहाँ अपवाद आ जाता है। जो युक्ति अनुमान के किसी नियम को भग करती है, वह युक्ति नही, युक्ति की नकल है। इसे 'हेत्वाभास' या 'तर्काभास' कहते हैं। न्याय के अन्तिम सात विचार-विपय 'वाद', 'हेत्वाभास' और अपवाद के विविध रूप हैं।

अव हम पहले सूत्र के सोलह विचार-विपयो को निम्न क्रम में देख सकते हैं—

१—२	प्रमाण, प्रमेय,
३	सशय,
४—६	प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त,
७—९	अवयव, तर्क, निर्णय,
१०–१६	वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान।

अव इनके लक्षणो की ओर ध्यान दे।

३. विचार-विषयो के लक्षण

१. 'प्रमाण'

'प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—ये प्रमाण हैं।

'इन्द्रिय और अर्थ के सीधे सयोग से जो ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। यह ज्ञान शब्द पर आश्रित नही, इसमें असत्य और अनिश्चितता का अश नही होता।'

'अनुमान तीन प्रकार का है—पूर्ववत्, शेपवत् और सामान्यतोदृष्ट।

'प्रसिद्ध पदार्थ के समान होने के कारण, साध्य को सिद्ध करना उपमान है।

'आप्त के उपदेश को शब्द कहते हैं।'

२ 'प्रमेय'

'आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, वुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोप, प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म), फल, दु ख और अपवर्ग प्रमेय (प्रमाण के विपय) हैं।'

'प्रमाण' और 'प्रमेय' पर आगे विस्तार से लिखेंगे, यहाँ लक्षणमात्र ही पर्याप्त है।

३ 'सशय'

'दो भिन्न और विरोवी धारणाओ में न चुन सकना सशय है।' सशय का कारण वाहर की स्थिति या आन्तरिक अवस्था होती है। पहली हालत में सशय का विपय कोई पदार्थ या कोई धारणा होती है। प्रत्येक पदार्थ में अनेक गुण होते हैं, और उनमें से कुछ गुण एक से अधिक पदार्थों में पाये जाते हैं। मनुष्य के शरीर की वनावट वृक्ष के सूखे तने से भिन्न है, परन्तु दोनो में कुछ समानता भी पायी जाती है। सशय में हम यह नही कह सकते कि साझे गुणो के साथी वर्तमान स्थिति में मनुष्य के विशेप गुण हैं, या तने के विशेप गुण हैं। सशय का दूसरा विषय कोई धारणा होती है। हमें इसके पक्ष मे और इसके विरुद्ध भी हेतु दिखाई देते है और हम निश्चय नही कर सकते कि किस पक्ष का गुरुत्व अधिक है। साख्य में तीन प्रमाणो का वर्णन है, न्याय में उपमान को भी स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया है। साधारण मनुष्य के लिए निश्चय करना कठिन हो जाता है कि इन दोनो विचारो में कौन विचार मान्य है।

दूसरे अध्याय के आरभ मे, दो निम्न आक्षेपो का समाधान किया है—

(१) सन्देह वास्तव में होता ही नही,

(२) सन्देह की निवृत्ति सभव नही।

सन्देह का अस्तित्व तो एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। आक्षेप करनेवाला अपनी वावत कह सकता है कि उसे कभी सन्देह नही होता, वह प्रत्येक धारणा को स्वीकार करता है, या अस्वीकार करता है, परन्तु वह मेरी वावत कैसे कह सकता है? अपनी वावत तो मै उससे वेहतर जानता हूँ।

दूसरा आक्षेप यह है कि सन्देह की निवृत्ति नही हो सकती। कुछ धारणाओ के सवन्ध में यह ठीक होगा, परन्तु हम इसे व्यापक नियम के रूप में स्वीकार नही कर सकते। सन्देह की निवृत्ति न हो सके, तो हमारा सारा चिन्तन निरर्थक है।

४ 'प्रयोजन'

'जिस अर्थ को पाने या त्यागने का निश्चय करके, उसे पाने या त्यागने का यत्न करें, उसे प्रयोजन कहते है।'

प्रयोजन के सवन्ध मे पहली वात तो यह है कि हम किसी अविद्यमान अवस्था को विद्यमान करना चाहते हैं, क्योकि उसे विद्यमान अवस्था से उत्तम समझते है। किसी भावात्मक मूल्य को प्राप्त करने या अभावात्मक मूल्य से छुटकारा पाने का निश्चय होता है, और फिर इसके लिए आवश्यक यत्न होता है। प्रयोजन में वोध और क्रिया दोनो अश होते है।

५ 'दृष्टान्त'

'जिस वस्तु के अर्थ को साधारण मनुष्य और परीक्षक एक समान समझते हैं, वह दृष्टान्त है।'

६ 'सिद्धान्त'

'शास्त्र के अर्थ में जो निर्णय हो, उसे सिद्धान्त कहते है।'

मिद्धान्त चार प्रकार का होता है—

(१) सर्वतन्त्र सिद्धान्त

यह सभी शास्त्रो में स्वीकृत होता है, कोई शास्त्र इसका विरोध नही करता। (प्रत्यक्ष को प्रमाण मानना ऐमा सिद्धान्त है।)

(२) प्रतितन्त्र सिद्धान्त

यह किमी विशेप शास्त्र का मत है।

(उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानना न्याय का विशेप मत है।)

(३) अधिकरण मिद्धान्त

यह मिद्धान्त अन्य मिद्धान्तो का आधार भी होता है, इसकी स्वीकृति इन दूसरे मिद्धान्तो को भी मान्य वना देती है।

(कर्म-नियम की स्वीकृति पुनर्जन्म की भी स्वीकृति है।)

(४) अभ्युपगम सिद्धान्त

यह सिद्धान्त अभी परीक्षा के क्षेत्र में ही है। यह एक प्रतिज्ञा है, जो अब तक काम देती रही है, परन्तु अभी अधिक जाँच की माग करती है।

(विज्ञान के बहुतेरे कथित नियम ऐसी प्रतिज्ञाएँ ही हैं।)

७. 'अवयव'

'प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—ये पाँच वाद (दलील) के अग हैं।'

निम्नवाद में, पाँचो अवयव ऊपर दिये गये क्रम में मिलेंगे—

पर्वत के शिखर पर अग्नि है, (प्रतिज्ञा)

क्योंकि वहा धुआ है, (हेतु)

जहाँ धुआँ होता है, वहाँ अग्नि होती है (जैसे रसोई में) (उदाहरण)

पर्वत के शिखर पर धुआँ है (उपनय)

इसलिए वहाँ अग्नि है। (निगमन, नतीजा)

ऐसा प्रतीत होता है कि इन अवयवो में पहले तीन या पिछले तीन, ही पर्याप्त हैं। अरस्तू की सिलोजिस्म अन्त के तीन अवयवो का सग्रह ही है। भेद केवल इतना है कि वह तीसरे वाक्य को उदाहरण का नही, अपितु व्यापक नियम का पद देता है।

'सारे मनुष्य मर्त्य हैं,

सुकरात मनुष्य है,

इसलिए सुकरात मर्त्य है।'

ऐसे वाद में, आवश्यकता इतनी ही है कि दो प्रत्ययो का सबन्ध व्यापक हो, और इन दो में जो लिंग या चिह्न है, वह किसी विशेष स्थिति में दृष्टिगोचर हो। ऐसे दो वाक्यो की नीव पर हम अनुमान कर सकते हैं। ऊपर के वाद में, हम कहते हैं कि मनुष्यत्व और मर्त्य होने में व्यापक सबन्ध है; यह दोनो सदा साथ जाते हैं। यह भी कहते हैं कि मनुष्यत्व सुकरात की हालत में पाया जाता है। इन दोनो धारणाओ की नीव पर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि सुकरात भी मर्त्य है।

यदि तीन वाक्य पर्याप्त हैं, तो न्याय में पाँच क्यो दिये हैं? पहले दो अवयव तो अन्त के दो अवयव ही हैं, इन्हें क्यो दुहराया गया है?

सभवत मनोविज्ञान इस पर कुछ प्रकाश डाल सकता है।

हम अगणित व्यापक निर्देशो में विश्वास करते हैं—

'जहाँ धुआँ है, वहाँ अग्नि है।'
'सारे मनुष्य मर्त्य हैं।'
'त्रिकोण के दो भुज मिलकर तीसरे भुज से बडे होते हैं।'
'सारे कौए काले हैं।'

मैं वर्तमान स्थिति में, क्यो दूसरे, तीसरे, या चौथे वाक्य से आरभ नही कर इसलिए कि यह वाक्य वर्तमान स्थिति से बिलकुल असगत हैं। मैं आवादी से दूर हूँ, सर्दी का मौसम है, और सायकाल है। इस स्थिति में कौओं, सुकरात और त्रिक मे, मुझे कोई दिलचस्पी नही हो सकती, मैं तो रात भर सर्दी से वचा रहना चा हूँ। चिन्तन किसी विशेष कठिनाई को दूर करने के लिए होता है। यह कठि चिन्तन की दिशा को निश्चित करती है। वर्तमान स्थिति में मेरी चेतना के केन् अग्नि का ख्याल व्यापक है, इसलिए मैं इससे आरभ करता हूँ। मै इधर-उ देखता हूँ और मुझे पर्वत पर धुआ दिखाई देता है। यह ज्ञान मुझे युक्ति की दे तक पहुँचा देता है। अब मैं कहता हूँ कि जहाँ धुआँ है, वहाँ अग्नि है। वास्त न्याय के वाद और अरस्तू की सिलोजिस्म में भेद नही, न्याय की पच-अवयवी यह वता देती है कि वर्तमान में हमने किसी और सभववाद के स्थान में इस विशेष को क्यो लिया है?

८. 'तर्क'

'तर्क वह विचार है जो हमें ज्ञात से, हेतु की नीव पर, अज्ञात को दिखला देता

तर्क में तीन वातो की आवश्यकता है—

हम तर्क की नीव किसी ज्ञात धारणा पर रखें। जिस धारणा के सत्य होने सन्देह है, उसकी नीव पर किसी ज्ञान की प्राप्ति क्या होगी?

तर्क का उद्देश्य कोई ऐसी धारणा है, जो पहले ही हमारे ज्ञान में नही। जो हम पहले ही जानते हैं, उसे प्रमाणित करने का कोई अर्थ नही।

ज्ञात से अज्ञात की ओर गति हेतु के आधार पर होनी चाहिये। यदि हेतु अभाव में, किसी अन्य प्रकार से अज्ञात ज्ञात हो जाता है, तो यह तर्क नही। हम त्रिकोण को देखते हैं। यदि हम इसकी भुजाओ को मापे और कहें कि दो भुज मिलकर तीसरी भुजा से वडी हैं, तो यहाँ तर्कना नही हुई, क्योकि हम अपने नत पर किसी हेतु के आधार पर नही पहुँचे।

९ 'निर्णय'

'पक्ष और प्रतिपक्ष पर विचार करके, अर्थ का निश्चय करना निर्णय कहलाता है।'

पिछले छ विचार-विषय न्याय के दो रूपो, आगमन और निगमन, से सबद्ध हैं। अब आगे वाद और अपवाद के विविध रूपो की बावत कहते हैं।

१०. 'वाद'

'पक्ष और प्रतिपक्ष का अगीकार करना वाद है।'

सत्य और असत्य में निर्णय करने का अच्छा तरीका यह है कि दो मनुष्य विशुद्ध जिज्ञासा के भाव से प्रेरित होकर किसी धारणा के पक्ष और प्रतिपक्ष की जाँच करे। ऐसे वाद के तीन लक्षण हैं—

(१) पक्ष और प्रतिपक्ष दोनो के समर्थक प्रमाण का सहारा लें। जहाँ प्रमाण का स्थान भाव ले लेता है, वहाँ कथा वाद नही होती, अपवाद का कोई रूप धारण कर लेती है।

(२) दलील का साध्य सिद्धान्त-विरुद्ध न हो। जो कुछ प्रमाणित होकर सिद्धान्त बन चुका है, उसका विरोध करना समय नष्ट करना है। सत्य मे आन्तरिक विरोध नही हो सकता।

(३) आकार की दृष्टि से वाद निर्दोष हो, यह पाँच अवयवो से युक्त हो। तर्क की प्रामाणिक रीति की अवज्ञा न हो।

११. 'जल्प' और 'वितण्डा'

कुछ लोग सत्य को जानने के लिए वाद करते हैं, बहुतेरी हालतो में बात-चीत करनेवाले अपना निश्चय कर चुके होते हैं, और उनका उद्देश्य दूसरे पक्ष को झुटलाना होता है। ऐसी युक्ति जल्प और वितण्डा है। इन दोनो में भेद इतना ही है कि वितण्डा में दूसरे पर आक्रमण होता है, जल्प में दूसरे पर आक्रमण और अपना बचाव दोनो होते हैं। जल्प में 'छल', 'जाति' और 'निग्रहस्थान' का प्रयोग किया जाता है। इनकी बावत अभी कहेंगे।

१२. 'हेत्वाभास'

जहाँ हेतु वास्तव में मौजूद न हो, केवल भासता हो, वहाँ दलील नकली दलील होती है। इसे हेत्वाभास कहते हैं। हेत्वाभास के पाँच आकार हैं—

'सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और अतीतकाल।'

इनका विवरण आगे करेंगे।

१४-१६ 'छल', 'जाति', 'निग्रह-स्थान'

ऊपर कहा गया है कि जल्प में छल, जाति और निग्रहस्थान का प्रयोग होता है।

'अर्थ बदलने से वचन का विचार करना छल कहलाता है।'

भाषा का उद्देश्य विचारो का प्रकट करना है। छल में, शब्दो का अर्थ बदलकर, वचन की हत्या की जाती है, और भाषा के उद्देश्य को मिटा दिया जाता है। भापा का दुरुपयोग तर्क में एक प्रमुख दोष है। अरस्तू के न्याय में भी भाषा-सबन्धी तर्काभासो को पर्याप्त स्थान दिया गया है।

'जाति' का अर्थ ऐसी श्रेणी है जिसके नीचे कई उप-श्रेणियाँ आती हैं। पशु, जाति है, गौ, घोडा आदि उप-जातियाँ हैं। प्रत्येक वस्तु अपने विविध गुणो के कारण अनेक जातियो के अन्तर्गत आती है। कौआ दो पायो में है, पक्षियो में है, काली वस्तुओ में है। जब विवाद में हम किसी वस्तु को एक जाति के बदले दूसरी जाति में देखते हैं, तो हम तर्क-भूमि को बदल देते हैं। एक मनुष्य रोग के कारण कही जा नही सकता। उसे कहा जाता है कि वह सैनिक होकर भी बाहर जाने से झिझकता है। वह सैनिक तो है, पर इस समय तो चारपाई पर पडा है। यहाँ तर्क-भूमि का परिवर्तन हो जाता है।

'निग्रहस्थान' का अर्थ पराजय-स्थान है। यह युक्ति का कमजोर अश है। अन्तिम अध्याय के दूसरे भाग में ऐसे २१ दोपो का वर्णन किया है, और अन्तिम सूत्र में कहा है कि हेत्वाभास भी निग्रहस्थान ही है।

जिन सोलह विचार-विपयो का पहले अध्याय में वर्णन हुआ है, वे सब सूत्रकार की दृष्टि में एक ही महत्त्व के नही। दूसरे अध्याय में १३८ सूत्र प्रमाण की परीक्षा हैं, प्रवृत्ति और दोप को पहले अध्याय में केवल एक-एक सूत्र मिला है, और चौथे अध्याय में इनके विपय में इतना ही कहा है कि इनकी बावत पहले कह चुके हैं। हम भी आगे प्रमुख विपयो की बावत ही कहेंगे।

४. प्रमाण

१ प्रमाण का अधिकार

प्रमाण का अर्थ मापक है। जिस वस्तु को हम प्रमाण के तौर पर वर्तते है, उसे अपने विश्वास का पात्र समझकर ऐसा करते हैं। परन्तु इस विश्वास को ललकारना भी सभव है, हम स्वीकृत प्रमाण से अपना प्रमाण-पत्र पेश करने की माग कर सकते हैं। मेरी घडी बन्द हो गयी है। मैं इसे चावी देता हूँ और पास बैठे मित्रो से समय पूछता हूँ। उनकी घडियाँ एक वक्त नही बताती। मैं तारघर और टेलिफोन-दफ्तर से पूछता हूँ। उनका उत्तर भी एक समय नही बताता। अब ठीक समय का पता

कैसे लगे? रेडियो पर समाचार सुनानेवाला कहता है—'अब रात के ९ बजे हैं।' उसे कैसे मालूम है? इग्लैड में एक प्रामाणिक घडी रखी है और वहाँ से भारत के रेडियो-केन्द्र को सूचना मिलती रहती है। यदि हम उस घडी की प्रामाणिकता में सन्देह करें, तो हमारे सन्देह की निवृत्ति का कोई उपाय नही।

न्याय का 'प्रमाण' सत्यासत्य में भेद करने की कसौटी है। दूसरे अध्याय के आरम्भ में ही 'प्रमाण' के प्रमाणत्व पर शका की गयी है। प्रमाण के अधिकार मे क्या प्रमाण है? सूत्रकार का उत्तर यह है कि यदि कोई ऐसा प्रमाण प्रस्तुत किया जाय, तो फिर उस प्रमाण के प्रमाणत्व की बावत भी प्रश्न उठेगा, और प्रश्नो का यह सिल-सिला कभी समाप्त ही नही होगा। कही तो हमें रुकना ही होगा और प्रमाण के प्रमाणत्व को स्वीकार करना होगा। सूर्य अन्य पदार्थों को ही नही, अपने आपको भी दिखाता है। न्याय में हम प्रमाण के अधिकार को मानकर ही चल सकते है। जो लोग इस अधिकार का विरोध करते हैं, वह भी अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए प्रमाण का सहारा लेते है, प्रमाण का मानना तो अनिवार्य है, विवाद केवल प्रमाण के स्वरूप की बावत है।

जैसा पहले कह चुके है, न्याय के अनुसार चार प्रमाण मान्य है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। अब इन पर क्रम से विचार करें।

२ प्रत्यक्ष

'इन्द्रिय और अर्थ के सामीप्य (सयोग) से जो ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। यह नाम पर आधारित नही होता, यथार्थ (अटल) और निश्चयरूप होता हैं'। (१ १ : ४)

सूत्र के पहले भाग में, प्रत्यक्ष की उत्पत्ति की बावत कहा है, दूसरे भाग में इसके प्रमुख चिह्नो का वर्णन किया है।

प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ (विषय) के सम्पर्क का फल है। संसार में अनन्त पदार्थ हैं, जो देखे जा सकते है, परन्तु मै उन्हें देखता नही, अनेक शब्द सुने जा सकते हैं, परन्तु मैं उन्हें सुनता नही। कारण यह कि इस समय मेरी इन्द्रियो और उन पदार्थों में सम्पर्क नही। जो पदार्थ मेरे निकट वातावरण में है, उनका ज्ञान मुझ पर ठोसा जाता है, यह मेरे वश में नही कि क्या देखूँ, और क्या सुनूँ। ज्ञान का विषय मेरे ज्ञान को निश्चित करता है। अर्थ और इन्द्रिय का सयोग वर्तमान में होता है। मैं कमरे में बैठा पुस्तकों को देखता हूँ। मैर के बाद वापस आता हूँ, तो फिर उन्हें देखता हूँ। क्या मेरी अनुपस्थिति मे भी पुस्तकें विद्यमान थी, या मेरे वाहर जाने पर

लुप्त हो गयी, और मेरे लौटते ही फिर उत्पन्न हो गयी ? इनमे तथ्य कुछ भी हो, प्रत्यक्ष इसकी बावत कुछ नही बता सकता। प्रत्यक्ष इन्द्रिय और विपय के सम्पर्क का फल है। स्वप्न में मेरी आँखे बन्द होती है, और मै ऐसी वस्तुओ को देखता हूँ, जो कमरे में विद्यमान नही होती । स्वप्न का बोध प्रत्यक्ष नही, क्योकि यहाँ इन्द्रिय और अर्थ मे सामीप्य नही।

प्रत्यक्ष के तीन चिह्नो की ओर सूत्र में सकेत किया है। पहला चिह्न यह है कि इन्द्रिय का सम्पर्क स्वय पदार्थ से होना चाहिये, किसी चिह्न का सयोग पर्याप्त नही। पदार्थो का सबसे प्रमुख चिह्न उनका नाम है। जब मै 'गौ' शब्द को पढता या सुनता हूँ, तो यह गौ का प्रत्यक्ष नही । सूत्र मे कहा है कि प्रत्यक्ष नाम पर आधारित नही होता, स्वय पदार्थ के सयोग पर निर्भर है।

प्रत्यक्ष वस्तुओ का यथार्थ ज्ञान है। मै वृक्ष के सूखे तने को दूर से देखता हूँ, और उसे मनुष्य समझ लेता हूं। यह बोध यथार्थ ज्ञान नही, मिथ्या ज्ञान है, इसलिए इसे प्रत्यक्ष नही कह सकते। मुझे कैसे मालूम होता है कि मैने जो कुछ देखा था, वृक्ष का तना था, मनुष्य न था ? मै उसके निकट पहुँचता हूँ और मेरी भ्रान्ति दूर हो जाती है। यह न हो तो मेरी अन्य इन्द्रियाँ या दूसरो की इन्द्रियाँ मेरे भ्रम को दूर कर देती है। यथार्थ ज्ञान इस तरह बदल नही जाता, वह अटल होता है। व्यवहार मे यथार्थ और अयथार्थ मे भेद करने के लिए हम यही देखते है कि कौन-सा ज्ञान अटल है और कौन-सा अटल नही।

प्रत्यक्ष का तीसरा लक्षण यह है कि यह निश्चयरूप है । जितनी देर तक हमें सन्देह रहता है कि दृष्ट पदार्थ तना है, या मनुष्य है, यह दोनो बोध पृथक् रहते है, मिश्रित नही हो जाते, हम या तो मनुष्य देखते है, या तना, जो कुछ देखते है, निश्चित आकार मे देखते है।

प्रत्यक्ष का विपय वास्तव मे क्या है ?

आँख रूप-रग को देखती है, कान शब्द को सुनता है, त्वचा छूती है। प्रत्येक इन्द्रिय किसी विशेप गुण का बोध देती है, इनमे कोई भी विविध गुणो के आधार पदार्थ का ज्ञान नही दे सकती। कुछ लोग कहते है कि गुणो के अतिरिक्त गुणी का कोई अस्तित्व नही, हम एक साथ ज्ञात होने वाले गुणो के समूह को द्रव्य कहते है। पश्चिम में ह्यूम ने इस विचार का प्रसार किया। न्याय इसे स्वीकार नही करता, और इसके लिए निम्न हेतु देता है—

(१) गुण की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नही, यह गुणी के सहारे ही रह सकता है। हरापन, गोलाई, मिठास, पदार्थों मे पाये जाते है, निराश्रय आकाश मे नही विचरते।

(२) पदार्थों में क्रिया पायी जाती है। क्रिया किसी गुण का गुण नही होती, न ही निराश्रय होती है। हम कुत्ते, बिल्ली, घोडे को दौडता देखते हैं, निरा दौडना तो कही देखा नही जाता।

गुणी को गुण से अलग मानें तो भी प्रश्न उठता है कि इनमें प्रत्यक्ष का विषय कौन है?

यह एक कठिन प्रश्न है। न्याय प्रत्यक्ष को वस्तु-बोध के अर्थ में लेता है, कुछ विचारक इसे गुण-बोध के अर्थ में लेते हैं। मै सामने नीम के वृक्ष को देखता हूँ। इसका तना गोल है, खुरदरा है, मटियाले रग का है। आख रग को तो देख सकती है, किसी वस्तु की गोलाई को देख नही सकती, जहाँ कही से इसे देखेगी, इसके एक भाग को देखेगी। खुरदुरापन तो स्पर्श का विषय है। जो वृक्ष दोनों भुजाओ के घेरे में न आता हो, उसकी गोलाई का प्रत्यक्ष स्पर्श से भी नही हो सकता। वस्तु-ज्ञान में स्मृति और कल्पना का अश भी सम्मिलित होता है। इस विचार के अनुसार प्रत्यक्ष केवल गुण-बोध है, वस्तु-ज्ञान में अनुमान भी होता है। यह अनुमान तुरन्त हो जाता है, और हमें इसके अस्तित्व का ख्याल भी नही आता।

प्रत्यक्ष के सबन्ध में न्याय का मत यह है—

(१) प्रत्यक्ष प्रमाणो में प्रमुख है, कोई और प्रमाण इसे झुटला नही सकता।

(२) प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के स्पष्ट सबन्ध का फल है। मन की क्रिया विद्यमान होती है, परन्तु उसकी स्थिति गौण है।

(३) प्रत्यक्ष गुण-बोध नही, वस्तु-बोध है। प्रत्यक्ष होता वर्तमान में है, और वस्तु के भाग का ही होता है, इस पर भी यह स्थायी और समग्र वस्तु का बोध कराता है।

३ अनुमान

न्याय के उद्देश्य के सबन्ध में बहुत मतभेद रहा है। कुछ विचारक कहते हैं कि इसका काम सत्य का जानना है। अन्य विचारकों के अनुसार न्याय का काम यह बताना है कि जब हम ज्ञात से अज्ञात की ओर चलते हैं, तो हमारी गति विधिवत् होती है या नहीं। इस विचार के अनुसार न्याय का काम अनुमान के स्वरूप और इसके विविध आकारो को स्पष्ट करना है। बाद में दो आधार-वाक्यो को एक साथ लेकर हम किसी नतीजे पर पहुँचते है। आधार-वाक्यो और नतीजे के यथार्थ-अयथार्थ होने से न्याय को सबन्ध नही, इसका काम यह देखना है कि यदि हम आधार-वाक्यों

को सत्य स्वीकार कर लें, तो न्याय-नियमो के अनुसार किस नतीजे पर अनिवार्य रूप से पहुँच सकते है। दो वादो को ले—

'सव मनुष्य पतग है,
सव पतग रागी है,
इसलिए सव मनुष्य रागी है'
'सव मनुष्य वुद्धियुक्त है,
सव मोर पक्षी है,
इसलिए सव त्रिकोणो के दो भुज मिलकर तीसरे भुज से वडे होते है।'

पहले वाद में तीनो वाक्य असत्य है, परन्तु वाद निर्दोप है,

दूसरे में तीनो वाक्य सत्य है, परन्तु वाद की स्थिति में यह मूल्यविहीन है।

जो महत्त्व पश्चिम के तर्क मे अनुमान को मिला है, वह गौतम के सूत्रो में इसे नही मिला।

अनुमान का तत्त्व क्या है?

पहले अध्याय में जहाँ सोलह पदार्थों का लक्षण किया है, अनुमान के प्रत्यय का विश्लेपण नही किया, केवल इसके तीन रूपो का वर्णन किया है। दूसरे अध्याय में, अनुमान के प्रमाण होने पर दो आक्षेपो की ओर संकेत किया है, और उन्हे निराधार वताया है। 'उपमान' की वावत कहते हुए अनुमान के स्वरूप की वावत अप्रत्यक्ष सकेत हो गया है। इस तरह सूत्रो में, अनुमान के सवध में तीन वातो पर विचार हुआ है—

(१) अनुमान क्या है?
(२) सत्यासत्य की खोज में, अनुमान प्रमाण है भी, या नही?
(३) अनुमान के विविध रूप क्या है?

इसी क्रम में हम इन पर विचार करें।

(१) अनुमान क्या है?

'अनुमान प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की सिद्धि है।' (२ ४४)

प्रत्यक्ष हमें अनुमान के लिए सामग्री देता है। वह सामग्री ही क्यो पर्याप्त नही? पशु-पक्षियो के लिए तो वह पर्याप्त प्रतीत होती है। वे वर्तमान में जीते है और किसी समस्या के प्रस्तुत होने पर, अपनी योग्यता के अनुसार, उससे निपट लेते है। मनुष्य वर्तमान में ही नही, भविष्य में भी जीता है। वह आपत्ति आ जाने पर ही उससे निपटने की वावत नही सोचता, उसके आने से पहले भी उसका मुकावला करने की

तैयारी करता है। वह 'आगे और पीछे देखने वाला प्राणी है।' वह प्रत्यक्ष की सीमाओ को पार करके, अप्रत्यक्ष को जानना चाहता है। यह क्रिया अनुमान है।

हम प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष तक जा कैसे सकते है ?

इस प्रश्न के दो उत्तर दिये जाते हैं। एक उत्तर 'निगमन-न्याय' का उत्तर है। इसके अनुसार जिस अप्रत्यक्ष को हम देखते हैं, वह वास्तव में गुप्त रूप में विद्यमान होता है, अनुमान उसे व्यक्त कर देता है। हम इस क्रिया मे किसी नये तथ्य को नही देखते, पहले तथ्य को ही नये दृष्टिकोण से देखते हैं। जब मै कहता हूँ 'सारे मनुष्य मर्त्य हैं', तो इस वाक्य में निम्न वाक्य भी निहित होते हैं—

'भारत निवासी मर्त्य हैं।'

'कोई मनुष्य अमर्त्य नही।'

'कोई अमर्त्य मनुष्य नही।'

ऐसा अनुमान 'निरन्तर-अनुमान' कहलाता है।

इससे अधिक महत्त्व का अनुमान वह है, जो दो वाक्यो से निष्कर्ष निकालता है। यह अरस्तू की सिलोजिस्म है, यही 'पच-अवयवी' के तीन पहले या अन्तिम अवयव है। दोनो प्रकार के अनुमान का आधार 'निर्विरोधता-नियम' या 'सगति' है। इस नियम के अनुसार सत्ता और सत्य मे कोई आन्तरिक विरोध नही होता।

नवीन काल में प्रकृति के ज्ञान को महत्त्व प्राप्त हुआ। न्यायशास्त्र में निगमन का स्थान आगमन ने ले लिया। जान स्टूअर्ट मिल आगमन का प्रमुख आचार्य है। आगमन का उद्देश्य एक वाक्य या एक से अधिक वाक्यो के गुप्त अर्थ को देखना नही, अपितु ज्ञान में वास्तविक वृद्धि करना है। इसके लिए परीक्षण और निरीक्षण (प्रयोग) का सहारा लिया गया। विज्ञान का पहला काम तथ्यो का जानना है, दूसरा काम इन तथ्यो में कारण-कार्य सबन्ध स्थापन करना है। प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर जाना यहाँ भी ध्येय है। आगमन में व्यापक नियम से आरम्भ नही करते, ऐसे नियम तक पहुँचना चाहते हैं। यदि हमें मालूम हो कि मलेरिया-ज्वर कुनाइन के प्रयोग से दूर हो जाता है, तो हम मलेरिया के प्रत्येक रोगी को कुनाइन दे सकते हैं, परन्तु हम यह कैसे जान सकते हैं कि कुनाइन मलेरिया का इलाज है ? ऐसे नियमो की खोज आगमन का काम है। आगमन दो निम्न नियमो पर आधारित होता है —

(१) कोई घटना अकारण नही होती, प्रत्येक कार्य किसी कारण का कार्य होता है।

(२) ससार में व्यवस्था है, जो कारण आज किसी कार्य को उत्पन्न करता है, वह उसी स्थिति में, सदा ऐसा करता रहा है, और सदा ऐसा करता रहेगा।

को सत्य स्वीकार कर लें, तो न्याय-नियमो के अनुसार किस नतीजे पर अनिवार्य रूप से पहुँच सकते हैं। दो वादो को लें—

'सव मनुष्य पतग है,
सव पतग रागी हैं,
इसलिए सव मनुष्य रागी हैं'
'सव मनुष्य वुद्धियुक्त है,
सव मोर पक्षी हैं,
इसलिए सव त्रिकोणो के दो भुज मिलकर तीसरे भुज से वडे होते है।'

पहले वाद में तीनो वाक्य असत्य हैं, परन्तु वाद निर्दोप है,

दूसरे में तीनो वाक्य सत्य है, परन्तु वाद की स्थिति में यह मूल्यविहीन है।

जो महत्त्व पश्चिम के तर्क मे अनुमान को मिला है, वह गौतम के सूत्रो में इसे नही मिला।

अनुमान का तत्त्व क्या है?

पहले अध्याय में जहाँ सोलह पदार्थों का लक्षण किया है, अनुमान के प्रत्यय का विश्लेषण नही किया, केवल इसके तीन रूपो का वर्णन किया है। दूसरे अध्याय में, अनुमान के प्रमाण होने पर दो आक्षेपो की ओर सकेत किया है, और उन्हें निराधार वताया है। 'उपमान' की वावत कहते हुए अनुमान के स्वरूप की वावत अप्रत्यक्ष सकेत हो गया है। इस तरह सूत्रो में, अनुमान के सवध में तीन वातो पर विचार हुआ है—

(१) अनुमान क्या है?
(२) सत्यासत्य की खोज में, अनुमान प्रमाण है भी, या नही?
(३) अनुमान के विविध रूप क्या हैं?

इसी क्रम में हम इन पर विचार करें।

(१) अनुमान क्या है?

'अनुमान प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की सिद्धि है।' (२ ४४)

प्रत्यक्ष हमें अनुमान के लिए सामग्री देता है। वह सामग्री ही क्यो पर्याप्त नही? पशु-पक्षियो के लिए तो वह पर्याप्त प्रतीत होती है। वे वर्तमान में जीते है और किसी समस्या के प्रस्तुत होने पर, अपनी योग्यता के अनुसार, उससे निपट लेते हैं। मनुष्य वर्तमान में ही नही, भविष्य में भी जीता है। वह आपत्ति आ जाने पर ही उससे निपटने की वावत नही सोचता, उसके आने से पहले भी उसका मुकावला करने की

तैयारी करता है। वह 'आगे और पीछे देखने वाला प्राणी है।' वह प्रत्यक्ष की सीमाओ को पार करके, अप्रत्यक्ष को जानना चाहता है। यह क्रिया अनुमान है।

हम प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष तक जा कैसे सकते हैं?

इस प्रश्न के दो उत्तर दिये जाते हैं। एक उत्तर 'निगमन-न्याय' का उत्तर है। इसके अनुसार जिस अप्रत्यक्ष को हम देखते हैं, वह वास्तव में गुप्त रूप में विद्यमान होता है, अनुमान उसे व्यक्त कर देता है। हम इस क्रिया मे किसी नये तथ्य को नही देखते, पहले तथ्य को ही नये दृष्टिकोण से देखते हैं। जब मैं कहता हूँ 'सारे मनुष्य मर्त्य हैं', तो इस वाक्य में निम्न वाक्य भी निहित होते हैं—

'भारत निवासी मर्त्य हैं।'

'कोई मनुष्य अमर्त्य नही।'

'कोई अमर्त्य मनुष्य नही।'

ऐसा अनुमान 'निरन्तर-अनुमान' कहलाता है।

इससे अधिक महत्त्व का अनुमान वह है, जो दो वाक्यो से निष्कर्ष निकालता है। यह अरस्तू की सिलोजिस्म है, यही 'पच-अवयवी' के तीन पहले या अन्तिम अवयव है। दोनो प्रकार के अनुमान का आधार 'निर्विरोधता-नियम' या 'सगति' है। इस नियम के अनुसार सत्ता और सत्य में कोई आन्तरिक विरोध नही होता।

नवीन काल में प्रकृति के ज्ञान को महत्त्व प्राप्त हुआ। न्यायशास्त्र में निगमन का स्थान आगमन ने ले लिया। जान स्टूअर्ट मिल आगमन का प्रमुख आचार्य है। आगमन का उद्देश्य एक वाक्य या एक से अधिक वाक्यो के गुप्त अर्थ को देखना नही, अपितु ज्ञान में वास्तविक वृद्धि करना है। इसके लिए परीक्षण और निरीक्षण (प्रयोग) का सहारा लिया गया। विज्ञान का पहला काम तथ्यो का जानना है, दूसरा काम इन तथ्यो में कारण-कार्य सबन्ध स्थापन करना है। प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर जाना यहाँ भी ध्येय है। आगमन में व्यापक नियम से आरम्भ नही करते, ऐसे नियम तक पहुँचना चाहते है। यदि हमें मालूम हो कि मलेरिया-ज्वर कुनाइन के प्रयोग से दूर हो जाता है, तो हम मलेरिया के प्रत्येक रोगी को कुनाइन दे सकते हैं, परन्तु हम यह कैसे जान सकते है कि कुनाइन मलेरिया का इलाज है? ऐसे नियमो की खोज आगमन का काम है। आगमन दो निम्न नियमो पर आधारित होता है —

(१) कोई घटना अकारण नही होती, प्रत्येक कार्य किसी कारण का कार्य होता है।

(२) ससार मे व्यवस्था है, जो कारण आज किसी कार्य को उत्पन्न करता है, वह उसी स्थिति मे, सदा ऐसा करता रहा है, और सदा ऐसा करता रहेगा।

जैसा हम देखेंगे, न्याय सूत्रो में अनुमान की दोनो विधियो को ध्यान में रखा है।

(२) अनुमान का प्रमाणत्व

अनुमान के सबध मे दूसरा प्रश्न यह है कि क्या इसमें प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर ले जाने की क्षमता भी है। आगमन में कारण-कार्य सबन्व मौलिक प्रत्यय है। न्याय सूत्रो में, इस सवन्ध पर प्रतिपक्ष की ओर से दो आक्षेप किये गये हैं—

(क) हम किसी कार्य के कारण को निश्चय से जान नही सकते।

(ख) कारण-कार्य सवध की सभावना ही नही।

पहले आक्षेप के पक्ष में कहा जाता है कि प्रत्येक कार्य एक से अधिक कारणो का फल हो सकता है, और किसी विशेष स्थिति में हम कह नही सकते कि क, ख, ग में से किस कारण ने कार्य को उत्पन्न किया है। कारण-अनेकता का सिद्धान्त नवीन न्याय में भी विचार का विपय बना रहा है। सूत्रकार के विचार में हम कार्य को इसके पूर्णरूप में नही देखते, किसी विशेष अश को महत्त्व देते और अन्य अशो की ओर उपेक्षा करते हैं। रेलगाडी के नीचे कुचला जाने, डूबने, विष खाने के परिणाम को हम मृत्यु कहते हैं, परन्तु परिणाम सभी हालतो में एक नही होता। हम चेतना-समाप्ति को महत्त्व देकर एक ही शब्द का प्रयोग करते हैं।

दूसरा आक्षेप अधिक गभीर है। इसके अनुसार कारण-कार्य सवन्व सभव ही नही।

साधारण विचार में हम काल को भूत, वर्तमान और भविष्य में बाँटते है। प्रतिपक्षी कहता है कि वर्तमान वास्तव में नवीन-भूत है। यह भूत और भविष्य की सन्धि है, इसका अपना कोई विस्तार नही। कारण की समाप्ति पर ही कार्य का उत्थान होता है, परन्तु जव कारण रहा ही नही, तो वह कार्य को पैदा कैसे कर सकता है? चूंकि वर्तमान का कोई अस्तित्व नही, कारण और कार्य कभी एक साथ विद्य-मान नही होते। ऐसी वस्तुओ मे कोई सवन्ध नही हो सकता।

सूत्रकार कहता है कि जो पुरुप भूत और भविष्य का जिक्र करता है, वह वर्तमान को मान ही चुका है। भूत वह काल है जो वर्तमान था, परन्तु अव नही, भविष्य वह काल है जो अभी वर्तमान नहीं, परन्तु होगा। वर्तमान का अस्तित्व न माने तो भूत और भविष्य निरर्थक हो जाते हैं। पक्षी और प्रतिपक्षी दोनो की तर्कना काल मे होती है, काल के अस्तित्व मे इनकार कर ही नही सकते।

(३) अनुमान के रूप

सूत्र १ १ ५ मे कहा है—

'अव प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान तीन प्रकार का है—पूर्ववत्, शेपवत् और सामान्यतोदृष्ट।'

अनुमान का अर्थ 'पीछे आने वाला ज्ञान' है, यह 'प्रत्यक्ष पूर्वक', प्रत्यक्ष पर निर्धारित है। दूसरे अध्याय में, ऊपर दिये गये दो आक्षेपो का उत्तर दिया है, परन्तु अनुमान के रूपो की वावत कुछ नही कहा। इसका परिणाम यह है कि टीकाकारो ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार इनका अर्थ किया है। तीनो पदो का शव्दार्थ यह है—

पूर्ववत् (१) पहले की तरह,
(२) पूर्व (पहले आने वाले) से।
शेपवत् (१) जो वच रहे, उससे,
(२) जो पीछे आये, उससे।
सामान्यतोदृष्ट—जो सामान्यता से दिखाई दे।

ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्ववत् और शेपवत् दोनो आगमन से सवद्ध हैं, और सामान्यतोदृष्ट निगमन से सवद्ध है। पहले दो अनुमानो के सवव में कुछ टीकाकार अनुमान क्रिया की दिशा को देखते हैं, कुछ अनुमान की नीव को। पहली व्याख्या के अनुसार, पूर्ववत् अनुमान में हम कारण से कार्य की ओर जाते हैं, शेपवत् में कार्य से कारण की ओर जाते हैं। पर्वतो पर वर्षा को देखकर यह अनुमान करना कि नीचे नदी में वाढ आयेगी, पूर्ववत् अनुमान है, नदी की वाढ को देखकर पर्वतो में हुई वर्षा का अनुमान करना शेपवत् अनुमान है। यह भेद वहुत महत्त्व का नही, न्याय की दृष्टि से तर्कना की नीव का महत्त्व अधिक है।

प्रयोगशाला के वाहर भी हमें कारण-कार्य को समझने की आवश्यकता होती है। एक मनुष्य को रोग हो जाता है और वह डाक्टर के पास दवा के लिए पहुँचता है। डाक्टर की दूकान दवाओ से भरी है। वह रोगी से कहता है—'कोई दवा उठा ले जाओ।' रोगी कहता है—'कोई दवा कैसे ले जाऊँ? मुझे तो इस रोग को दूर करनेवाली दवा चाहिये।' डाक्टर उसके शरीर की परीक्षा करता है और उपयोगी दवा देता है। डाक्टर कैसे जानता है कि कौन-सी दवा उपयोगी है? कालेज छोडने के वाद वह दूकान में वैठा वर्षो से यही जानने का यत्न करता रहा है। वह अपने पूर्व के अनुभव पर भरोसा करता है। कारण-कार्य के सवव में हम इस विश्वास से चलते हैं कि प्रत्येक कार्य का कारण होता है, और कारण-कार्य सवव स्थायी है, परन्तु यह वात तो अनुभव ही वता सकता है कि कोई विशेप कार्य किस कारण की उत्पत्ति है। हम परीक्षण पर भरोसा करते हैं। किसी विशेप सवव के जितने अधिक उदाहरण मिलें, और जितनी विविध

स्थितियो में मिलें, उतना ही इस सबध मे हमारा विश्वास दृढ होता है। परीक्षण या पिछले अनुभव की नीव पर जो अनुमान किया जाता है, वह 'पूर्ववत् अनुमान' है।

परीक्षण में एक कठिनाई अवश्य होती है स्थिति मे बहुधा अनुरूप भागो के साथ अयोग्य भाग भी सम्मिलित होते है। हम चाहते है कि हो सके तो परीक्षण करते समय ऐसे अयोग्य भागो को अलग कर दें। जब परीक्षण मे हालात को वशीभूत कर लिया जाता है, तो वह प्रयोग या निरीक्षण कहलाता है। प्रयोग वैज्ञानिक परीक्षण है। अनुचित अशो को अलग करने के पीछे जो शेष अश रह जाते है, उनकी प्रक्रिया को देखकर जो अनुमान होता है, वह 'शेपवत् अनुमान' है।

वैज्ञानिक अनुसन्धान में यह बहुत कम होता है कि प्रयोगकर्त्ता सीधा कार्य से कारण तक जा पहुँचे। एक से अधिक सभव कारण उसके सम्मुख आ जाते है। उनमे उसे चुनाव करना होता है। ऐसे सभव या सामयिक कारणो को प्रतिज्ञा (हाइपाथेसिस) कहते है। वैज्ञानिक इन प्रतिज्ञाओ की जाँच करता है। वह प्रत्येक को वास्तविक कारण मान कर उससे निष्कर्ष निकालता है और देखता है कि वह निष्कर्ष अनुभव के अनुकूल है या नही। जो प्रतिज्ञाएँ इस जाँच मे पूरी नही उतरती, उन्हे त्याग दिया जाता है, जो प्रतिज्ञा ऐसी जाँच में पूरी उतर कर बच रहती है, वह 'शेप' है। इस प्रक्रिया को वैज्ञानिक विधि कहते है। इसमें आगमन और निगमन दोनो विद्यमान हैं। इसके चार पाद है—हम परीक्षण से आरम्भ करते है, इसकी नीव पर प्रतिज्ञा को स्वीकार करते है, प्रतिज्ञा की स्वीकृति से परिणाम निकालते है, और अन्त में देखते हैं कि यह परिणाम अनुभव से प्रमाणित होते है, या नही। यह सारी प्रक्रिया 'शपवत् अनुमान' ही है।

न्याय का तीसरा अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' है। इसमें सामान्यता या व्याप्ति अनुमान का आधार होती है। यह निगमन है। हम घडी मे घण्टे की सुई की गति को देखते नही, परन्तु यह तो देखते है कि उसकी स्थिति बदलती रहती है। हमारा अनुभव बताता है कि स्थिति-परिवर्तन गति के बिना नही होता। हम अनुमान करते है कि घण्टे की सुई भी चलती रहती है। साधारण मनुष्य सूर्य की गति का अनुमान भी ऐसे ही करता है।

इस अनुमान का तत्त्व यह है कि हम किसी सामान्य (व्यापक) धारणा से चलते हैं, और उसे वाद का आधार बनाते है।

४. 'उपमान'

'उपमान' का लक्षण सूत्र १ १ ६ में यो किया है—

'प्रसिद्ध साधर्म्य (समानता) से साध्य के साधने को उपमान कहते है।'

दूसरे अध्याय (सूत्र ४१-४०) में उपमान की परीक्षा की गयी है। यह परीक्षा दो निम्न शकाओ का समाधान है—

(१) अत्यन्त सादृश्य और अल्प सादृश्य से उपमान की सिद्धि नही हो सकती।

(२) प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की सिद्धि होने से, उपमान अनुमान का ही एक रूप है।

ससार के प्रत्येक पदार्थ में अनेक गुण पाये जाते हैं। कोई दो पदार्थ ऐसे नही, जिनमें कोई भेद न हो, न ही कोई दो पदार्थ ऐसे है, जिनमें कोई समानता न हो। गुणो की समानता और असमानता की नीव पर हम वस्तुओ को क्रमबद्ध करते है, उनकी श्रेणियाँ बनाते हैं। ऐसा करने में हमारा प्रयोजन अपने अनुभव को विस्तृत करना होता है। हम दृष्ट जगत् की एकता में विश्वास करते है और ख्याल करते हैं कि जो साहचर्य जगत् के एक भाग में दीखता है, वह दूसरे भाग में भी दीखेगा। यदि क और ख में १० गुण समान हैं, तो ११वाँ गुण जो क में विद्यमान है, ख में भी विद्यमान होगा। दृष्ट समानता से अदृष्ट समानता का विचार करना उपमान है।

प्रत्यक्ष (प्रति-अक्षि) सामने देखना है, अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक है, प्रत्यक्ष के पीछे आता है। अनुमान का आधार भूतकाल का प्रत्यक्ष है। उपमान में काल का प्रत्यय असगत है। पदार्थो के गुणो में आगे पीछ घटने का भेद नही होता, वे सब एक साथ विद्यमान होते हैं। उपमान में हम प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर नही जाते, एक प्रत्यक्ष से दूसरे प्रत्यक्ष की ओर जाते है। उपमान अनुमान से भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण है।

उपमान का आधार समानता है। कितनी समानता आवश्यक है? ऊपर हमने कहा है कि दो वस्तुओ में १० गुण साझे (उभयगत) हो, तो ११वाँ गुण जो एक में पाया जाता है, दूसरे में भी मिलेगा। क और ख में गुण कितने हैं? हम निश्चय से बता नही सकते, परन्तु जो कुछ हम देखते हैं, उसकी नीव पर कहते हैं कि क में २५० गुण और ख में २८० गुण हैं। इस स्थिति में १० गुणो का साझा होना कोई महत्त्व नही रखता। यह समानता बहुत अल्प है और इससे कुछ सिद्ध नही हो सकता। जहाँ अतिसादृश्य या बहुत समानता हो, वहाँ उपमान की जरूरत ही नही होती। हमारे लिए यह कहना कठिन है कि कितनी समानता आवश्यक और पर्याप्त है, इसलिए उपमान कोई प्रमाण नही।

सूत्रकार ने उपमान के लक्षण में समानता की मात्रा पर बल नही दिया, अपितु उसके प्रकार को ध्यान में रखा है। 'प्रसिद्ध साधर्म्य से साध्य के साधने को उपमान

कहते है ।' प्रसिद्ध का अर्थ महत्त्वपूर्ण है। हम जानना चाहते है कि एक विशेष नक्षत्र पर प्राणधारी मौजूद है, या नही। यदि हमे पता लग जाता है कि वहा जल और वायु नही, तो हम यह देखने की आवश्यकता नही समझते कि पृथिवी और उस नक्षत्र में कितने गुण उभयस्थ है। गुणो की सख्या नही, गुणो की प्रसिद्धि उपमान का आधार है।

५ 'शब्द प्रमाण'

'शब्द' की परीक्षा मे, सबसे पहले सूत्रकार यह बताना चाहता है कि 'शब्द' अनुमान के अन्तर्गत नही आता, अपितु एक स्वतन्त्र प्रमाण है। अनुमान लिंग से लिंगी की ओर जाना है। शब्द भी वस्तुओ के लिंग है, हम 'घोडा' शब्द सुनते है, और एक विशेष पशु का चित्र हमारे सामने आ जाता है। सूत्रकार का उत्तर है कि जिन चिह्नो को अनुमान में लिंग कहा जाता है, वह लिंगी के स्वाभाविक चिह्न है, नाम तो मानव-निश्चय का फल है। जिस पशु को हम घोडा कहते है, उसे ईरान मे 'अस्प' और इग्लैड मे 'हॉर्स' कहते है। नामो को लिंग नही कह सकते।

'शब्द' की बाबत सूत्र १ ७-८ में कहा है—

'आप्त के उपदेश को 'शब्द' कहते है।'

'यह दो प्रकार का है—एक दृष्टार्थ, दूसरा अदृष्टार्थ।'

आप्त पुरुष में दो गुण आवश्यक है—एक यह है कि वह जिस विषय की बाबत कहता है, उसकी बाबत उसे ज्ञान हो, दूसरा यह कि जो कुछ वह जानता है, उसे यथार्थ व्यक्त करे। उसका मस्तिष्क उज्ज्वल हो और हृदय पवित्र हो। आप्त का उपदेश दो प्रकार का होता है—दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ। रोगी वैद्य के पास जाता है, मुकदमे में फँसा हुआ पुरुष वकील के पास पहुँचता है। विशेषज्ञो का ज्ञान दृष्टार्थ है, वह इन्द्रियो का विषय है। वैद्य और वकील के कथन की जाँच अनुभव से हो जाती है। अदृष्टार्थ विषय के सम्बन्ध मे ज्ञानेन्द्रियाँ हमें बता नही सकती। नीति और धर्म के प्रश्न इसके अन्तर्गत आते है।

सूत्र २ ६७ में, शब्द प्रमाण के नीचे मत्र, आयुर्वेद और आप्त पुरुष के प्रमाणत्व का वर्णन है। मत्र हमें उन सिद्धान्तो की बाबत बताता है, जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान सहायता नही कर सकते, आयुर्वेद की ओर उदाहरण के रूप में सकेत किया है—लौकिक व्यवहार में हमें विशेषज्ञो की बात माननी होती है। नैतिक जीवन में हम ऐसे पुरुषो की ओर झुकते है, जिनका आचरण नैतिक आदर्श का स्थूल आकार है।

सूत्र २ ६७ में कहा है कि उपर्युक्त चार प्रमाण ही स्वतन्त्र प्रमाण है, अन्य प्रमाण इनके अन्तर्गत आ जाते है।

प्रमाणो की परीक्षा सूत्र २ ७९ के साथ समाप्त हो जाती है। अध्याय का शेष भाग दो निम्न विषयो पर विचार करता है —

(१) शब्द नित्य है, या अनित्य है ?

(२) शब्द का अर्थ क्या है ?

यहाँ शब्द का अभिप्राय सार्थक ध्वनि है।

पहला प्रश्न तत्त्व-ज्ञान से सम्बन्ध रखता है, दूसरा तर्क का विषय है।

(१) शब्द नित्य है, या अनित्य है ?

प्रश्न में विवाद का विषय क्या है ?

रूप, रस, गन्ध, ताप और शब्द का ज्ञान इन्द्रियो के प्रयोग से होता है। आँख रग और विस्तार को देखती है, स्पर्श से हम ताप की बावत जानते हैं, दबाव और आकृति की बावत भी जानते हैं, कान से शब्द सुनते है, नाक से सूँघते हैं, जिह्वा से रस लेते हैं। साधारण मनुष्य इन सब गुणो को एक स्तर पर रखता है। नदी का जल मैला है, शीतल है, नदी का विस्तार है। जब कोई चेतन प्राणी पास नही होता, तब भी नदी में यह गुण विद्यमान होते हैं। दार्शनिक गुणो में प्रधान और अप्रधान का भेद करते हैं। जान लॉक ने कहा कि फूल को देखनेवाला न हो, तो उसका रग नही, सूँघनेवाला न हो, तो गन्ध नही। कोई सुननेवाला न हो, तो चट्टानो पर नदी के गिरने से शब्द होता ही नही। रग, शब्द, रस, गन्ध और ताप बाह्य पदार्थों में नही, ये हमारी मानसिक अवस्थाएँ हैं, जो पदार्थों के सम्पर्क से पैदा हो जाती हैं। विस्तार, आकृति और अप्रवेश्यता प्राकृत पदार्थों के अपने गुण हैं, जो उनमें विद्यमान होते है, चाहे उनका ज्ञाता हो या न हो। दूसरी श्रेणी के गुण प्रधान गुण हैं, इनकी क्रिया ही अप्रधान गुणो का कारण है।

न्यायसूत्रो में शब्द को विचार का विषय बनाया है और प्रश्न उठाया है कि यह नित्य है, या अनित्य है। शब्द आकाश का गुण है। ध्वनि होते ही आकाश में फैल जाती है। इसकी गति ११२० फुट प्रति सेकण्ड है पर जब यह विद्युद् लहरियो में परिवर्त्तित कर दी जाती है तब यह प्रकाश की तरह एक सेकेन्ड में १,८६,००० मील की गति से हर कही पहुँच जाती है। रेडियो में हमें पृथिवी के प्रत्येक भाग से शब्द सुनने का अवसर मिलता है। क्या यह सभव नही कि जिस तरह विस्तार पदार्थों का स्थायी गुण है और हमारा बोध ही क्षणिक है, उसी तरह जो शब्द हम सुनते है, वह तो नित्य है, केवल विशेष स्थिति में हमें उसका बोध होता है ? न्याय इस सभावना को स्वीकार नही करता, और शब्द को अनित्य बताता है। सूत्र २ ८१ कहता है—

'आदिमान् होने से, इन्द्रियों का विषय होने से, और व्यवहार के लिए बनी हुई वस्तुओं के समान होने से शब्द अनित्य है।'

हम देखते हैं कि शब्द का आरम्भ होता है। स्टेशन प्लेटफार्म पर घण्टी बजती है, हमें गाड़ी के आने की सूचना मिलती है। इंजन की सीटी बजती है, हम गाड़ी में बैठ जाते हैं। यह विश्वास करना कठिन है कि घण्टी और सीटी की आवाज़ें तो आकाश में सदा से विद्यमान थी, हमें उनके सुनने का अभी अवसर मिला है। जब हम आप बोलते हैं, तो हमें शब्द के आदिमान् होने में सन्देह हो ही नहीं सकता, हम शब्द को सुनते ही नहीं, उत्पन्न भी करते हैं।

शब्द के अनित्य होने में दूसरा हेतु यह है कि यह इन्द्रियों का विषय है। तत्त्व-ज्ञान स्थायी सत्ता और उसके प्रकटनों में भेद करता है। इन्द्रियों का क्षेत्र प्रकटनों तक सीमित है, सत्ता को केवल बुद्धि या आन्तरिक ज्योति ही जान सकती है। शब्द एक इन्द्रिय का विषय होने से प्रकटन है, और इसलिए अनित्य है।

तीसरा हेतु भाषा की बनावट है। हम लकडी, ईंट, चूना आदि को मिलाकर भवन तैयार करते हैं। भवन गिराया जा सकता है और उसके अंगभूत अंश फिर अलग हो सकते हैं। कोई मिश्रित पदार्थ नित्य नहीं होता, यह व्यवहार के लिए बनाया जाता है। भाषा की भी यही स्थिति है, 'व्यवहार के लिए बनी हुई वस्तुओं के समान होने से शब्द अनित्य है।'

(२) शब्द का अर्थ

बच्चा पूछता है—'कुर्सी क्या है ?' माता उसे कुर्सी दिखा देती है। पीछे वह अन्य कुर्सियों को देखता है और उन सबको एक श्रेणी में रखता है। जो कुछ इस श्रेणी में है, कुर्सी है, कुर्सी का अर्थ इस विशेष श्रेणी में होता है। सारी कुर्सियाँ पूर्णतया एक प्रकार की नहीं होतीं—कोई छोटी है, कोई बडी, किसी की बैठक समतल होती है, किसी की नहीं होती। उनमें सामग्री का भेद भी होता है। बच्चा जानना चाहता है कि सब कुर्सियों में सर्वसामान्य गुण कौन से हैं, जो उन्हें मेज, स्टूल और अन्य पदार्थों से पृथक् करते हैं। ऐसे गुण मिलकर कुर्सी का दूसरा अर्थ है।

इन दोनों अर्थों को 'निर्देशक' और 'गुण-बोधक' अर्थ कह सकते हैं।

पश्चिमी तर्क में इन दोनों अर्थों पर विचार हुआ है। न्याय में, इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरे अर्थ का भी ज़िक्र किया है। जब हम घोडे का चिन्तन करते हैं, तो साधारण अवस्था में न तो घोडा-श्रेणी हमारे ध्यान में होती है, न वह सब गुण जो घोडे को घोडा बनाते और अन्य पशुओं से अलग करते हैं, घोडे की 'आकृति' हमारे

सम्मुख प्रस्तुत हो जाती है। बच्चा अनेक वस्तुओ को देखता नही, उनके गुणो की बावत भी बहुत कम जानता है, परन्तु उनका चित्र देखकर उनका अर्थ समझता है।

अध्याय के चार अन्तिम सूत्र ये हैं—

'व्यक्ति, आकृति और जाति पद का अर्थ है।'

गुण विशेष के आश्रयवाली मूर्त्ति को व्यक्ति कहते है।'

'जिससे जाति और जाति के चिह्नो का ज्ञान हो, वह आकृति है।'

'जिससे विविध पदार्थों की समानता होती है, वह जाति है।'

व्यक्ति निर्देशक अर्थ का सूचक है, जाति गुण-बोधक अर्थ बताती है, आकृति में दोनो का मेल होता है।

५ प्रमेय

प्रमाण का उद्देश्य किसी धारणा को प्रमाणित करना है; यह 'साध्य की सिद्धि का साधन है।' जिस वस्तु की बावत प्रमाण का प्रयोग होता है, उसे प्रमेय कहते हैं। जब हम न्याय दर्शन से पूछते हैं कि ऐसी तर्कना का अधिकार कहाँ तक जाता है, तो उत्तर मिलता है कि कोई विषय भी इसके अधिकार-क्षेत्र के बाहर नही। इस स्थिति में प्रमेयो की सूची तैयार करने का क्या प्रयोजन हो सकता है? प्रत्येक नैयायिक कुछ विषयो को, जिनमें उसे दिलचस्पी है, विवेचन के लिए चुन लेता है।

सूत्र १ १ ९ में प्रमेय के १२ निम्न रूप बयान किये गये हैं—

'आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, पुनर्जन्म, फल, दु ख और अपवर्ग (मोक्ष)।'

यह सूची मनुष्य को ध्यान में रखकर तैयार की गयी है। पहले छ विषय मनुष्य को कारण के रूप में देखते हैं, शेष छ उसकी क्रिया और क्रिया-फल का वर्णन हैं। विवेचन को इस प्रकार सीमित करने के दो कारण हो सकते हैं —

(१) न्याय दर्शन के पहले सूत्र में ही कहा है कि १६ पदार्थों का तत्त्व-ज्ञान नि श्रेयस प्राप्ति का साधन है। यही पता लग जाता है कि मानव की स्थिति का इस विवेचन में कितना महत्त्व है। यो तो सारा ज्ञान मूल्यवान है, परन्तु जैसा एक अंग्रेज कवि ने कहा है, 'मनुष्य के लिए अध्ययन का सबसे अधिक उपयोगी विषय स्वयं मनुष्य ही है।'

(२) मनुष्य ब्रह्माड का नन्हा अनुरूप है, जो कुछ बाहर बडे पैमाने पर पाया जाता है, वह सब छोटे पैमाने पर मनुष्य में विद्यमान है। जगत् में हम जड प्रकृति,

जीवन और चेतना पाते हैं, यह तीनों मनुष्य में मौजूद हैं। ब्रह्माड के अध्ययन के लिए इसका कोई भाग चुनना हो, तो मनुष्य ही सबसे अच्छा भाग है।

सूत्र २ १३६ में कहा है कि किसी वस्तु का व्यक्तित्व समझने के लिए उसके विशेष गुणो की ओर ध्यान देना चाहिये। मनुष्य में ऐसा गुण आत्मत्व है। प्रमेयो में प्रथम स्थान आत्मा को दिया गया है। इसकी बाबत कुछ विचार करें।

(१) आत्मा

१ आत्मा का अस्तित्व

तत्त्व-ज्ञान अनुभव का समाधान है। अनुभव के अस्तित्व से तो इनकार हो ही नही सकता। यदि हम इसमें सन्देह करें तो, सन्देह स्वय एक अनुभव होने के कारण, इस सन्देह को निराधार ठहरा देता है। सारा विवेचन चेतना की स्वीकृति से आरभ होता है। प्रश्न यह है कि अनुभव किसी अनुभवी की क्रिया है, या आप ही अपना पर्याप्त समाधान है। अनुभववादी ह्यूम ने कहा कि अनुभवो के अतिरिक्त कोई अनुभवी नही, बौद्धो के विचार में भी ज्ञानधारा तो है, परन्तु इससे अलग ज्ञाता कोई नही। न्याय दर्शन इस धारणा को नही मानता, इसके अनुसार आत्मा एक द्रव्य है और चेतना उसका गुण है। आत्मा के द्रव्य होने में, न्याय ने जो हेतु दिये हैं, उनका वर्णन नीचे दिया जाता है —

(१) अनुभव की नीव इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पर है। हमारी ज्ञान-इन्द्रियाँ हमें भिन्न-भिन्न बोध देती हैं —आँख देखती है, सुनती नही, कान सुनता है, देखता नही, त्वचा ताप, कोमलता आदि की बाबत बताती है। मैं रबड के खिलौने को देखता हूँ, इसे दबाता हूँ तो यह दब जाता है और शब्द उत्पन्न करता है। आँख ने रूप को देखा है, त्वचा ने कोमलता को अनुभव किया है, कान ने शब्द सुना है। खिलौने का बोध कैसे हो गया है? आँख, त्वचा और कान में से हरएक केवल एक गुण का बोध देता है, तीनो गुणो का बोध किसे हुआ है?

तीसरे अध्याय के पहले सूत्र में ही कहा है—

'दर्शन और स्पर्श से एक ही अर्थ का ग्रहण होने से (आत्मा का) अस्तित्व सिद्ध होता है।'

हमारा अनुभव विविध और असबद्ध गुणो का ही नही, अपितु वस्तुओ का भी होता है। सभवत पुष्ट चेतना कोई अकेला गुण नही होता, कोई वस्तु होती है। गुणो को युक्त करना, उन सब में एक अर्थ का ग्रहण करना आत्मा की क्रिया है।

प्रत्यक्षीकरण मे एकीकरण का अश असदिग्ध है। यह एकीकरण आत्मा का काम है।

पश्चिम में भी यह प्रश्न विवेचन का एक प्रमुख विषय बन रहा है। डेविड ह्यूम ने कहा कि उपलब्ध सयोजित तो होते हैं, सम्बद्ध नही होते। उसने द्रव्य के अस्तित्व से इनकार किया और कहा कि जब वह अपने अन्दर देखता है, तो किसी अनुभव को ही देखता है, अनुभवी को पकड नही पाता। ह्यूम के सम्मुख प्रश्न यह था—'अनुभव में हम क्या देखते हैं?' उसने अनुभवो में अनुभवी को नही देखा, अनुभवी वहाँ था ही नही, दिखाई कैसे देता? पीछे जर्मनी के दार्शनिक काट ने कहा—'पूछने का पहला प्रश्न तो यह है कि अनुभव बनता कैसे है। बाहर से हमें असम्बद्ध गुणो के रूप में अनुभव की सामग्री मिलती है, इस सामग्री को विशेष आकृति देकर वस्तु-ज्ञान बनाना मन की क्रिया है।' न्याय दर्शन का विचार भी ऐसा ही है—'दर्शन और स्पर्श से एक ही अर्थ के सिद्ध होने से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है।'

(२) यह एकीकरण विविध इन्द्रियो के उपलब्धो में ही नही पाया जाता, दोनो आँखो के उपलब्धो में भी पाया जाता है। दोनो आँखों में हर एक देखती है। साधारण अवस्था में वे एक साथ देखती हैं, परन्तु हम दो पदार्थों को नही देखते, एक ही देखते हैं। एक आँख के देखने के बाद दूसरी देखे, तो भी हम दोनो उपलब्धो को एक ही वस्तु की देन समझते हैं। यह एकीकरण भी आत्मा की क्रिया है, और उसकी सत्ता को सिद्ध करता है।

(३) इस एकीकरण का एक अच्छा उदाहरण यह है कि एक इन्द्रिय की क्रिया दूसरी इन्द्रिय में विकार पैदा कर देती है। हम फल को देखते है और उसे मुंह में डाल लेते हैं। खाने की क्रिया में, मुंह में लार निकलती है। पीछे फल के दर्शन मात्र से लार निकलने लगती है। यहाँ क्रिया एक इन्द्रिय (आँख) की हुई है, विकार दूसरी इन्द्रिय (रसना) में पैदा हो गया है। यह सम्बन्ध भी आत्मा की क्रिया है, इस क्रिया के अभाव में, फल के मुंह में जाने से पहले लार निकल नही सकती थी।

नवीन काल में, रूस के वैज्ञानिक पावलाव ने इन विकारो पर बहुत अनुसधान किया। उसने कुत्तो पर प्रयोग किये। खाना खाते समय तो कुत्ते के मुंह में लार निकलती ही थी, खाना देखने, और खाने के पहले बजने वाली घटी की आवाज पर भी निकलने लगी। पावलाव ने ऐसे सम्बन्धो को 'निर्मित-सहज क्रिया' (कान्डीशड रीफ्लैक्स) का नाम दिया। वैज्ञानिक होने की स्थिति में, पावलाव ने ऐसी क्रियाओ के निर्माण का अध्ययन किया, गौतम के सामने इन विकारो के समाधान का प्रश्न था। उसकी सम्मति में, ऐसे विकार आत्मा की क्रिया की ओर सकेत करते है।

जीवन और चेतना पाते है, यह तीनो मनुष्य में मौजूद है। ब्रह्माड के अध्ययन के लिए इसका कोई भाग चुनना हो, तो मनुष्य ही सबसे अच्छा भाग है।

सूत्र २ १३६ में कहा है कि किसी वस्तु का व्यक्तित्व समझने के लिए उसके विशेष गुणो की ओर ध्यान देना चाहिये। मनुष्य में ऐसा गुण आत्मत्व है। प्रमेयो में प्रथम स्थान आत्मा को दिया गया है। इसकी वावत कुछ विचार करें।

(१) आत्मा

१ आत्मा का अस्तित्व

तत्त्व-ज्ञान अनुभव का समाधान है। अनुभव के अस्तित्व से तो इनकार हो ही नही सकता। यदि हम इसमें सन्देह करें तो, सन्देह स्वय एक अनुभव होने के कारण, इस सन्देह को निराधार ठहरा देता है। सारा विवेचन चेतना की स्वीकृति से आरभ होता है। प्रश्न यह है कि अनुभव किसी अनुभवी की क्रिया है, या आप ही अपना पर्याप्त समाधान है। अनुभववादी ह्यूम ने कहा कि अनुभवो के अतिरिक्त कोई अनुभवी नही, बौद्धो के विचार में भी ज्ञानधारा तो है, परन्तु इससे अलग ज्ञाता कोई नही। न्याय दर्शन इस धारणा को नही मानता, इसके अनुसार आत्मा एक द्रव्य है और चेतना उसका गुण है। आत्मा के द्रव्य होने में, न्याय ने जो हेतु दिये हैं, उनका वर्णन नीचे दिया जाता है—

(१) अनुभव की नीव इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पर है। हमारी ज्ञान-इन्द्रियाँ हमें भिन्न-भिन्न वोध देती है —आँख देखती है, सुनती नही, कान सुनता है, देखता नही, त्वचा ताप, कोमलता आदि की वावत वताती है। मै रवड के खिलौने को देखता हूँ, इसे दवाता हूँ तो यह दव जाता है और शव्द उत्पन्न करता है। आँख ने रूप को देखा है, त्वचा ने कोमलता को अनुभव किया है, कान ने शव्द सुना है। खिलौने का वोध कैसे हो गया है? आँख, त्वचा और कान में से हरएक केवल एक गुण का वोध देता है, तीनो गुणो का वोध किसे हुआ है?

तीसरे अध्याय के पहले सूत्र में ही कहा है—

'दर्शन और स्पर्श से एक ही अर्थ का ग्रहण होने से (आत्मा का) अस्तित्व सिद्ध होता है।'

हमारा अनुभव विविध और असवद्ध गुणो का ही नही, अपितु वस्तुओ का भी होता है। सभवत पुष्ट चेतना कोई अकेला गुण नही होता, कोई वस्तु होती है। गुणो को युक्त करना, उन सब में एक अर्थ का ग्रहण करना आत्मा की क्रिया है।

प्रत्यक्षीकरण में एकीकरण का अश असदिग्ध है। यह एकीकरण आत्मा का काम है।

पश्चिम में भी यह प्रश्न विवेचन का एक प्रमुख विषय बन रहा है। डेविड ह्यूम ने कहा कि उपलब्ध सयोजित तो होते हैं, सम्बद्ध नही होते। उसने द्रव्य के अस्तित्व से इनकार किया और कहा कि जब वह अपने अन्दर देखता है, तो किसी अनुभव को ही देखता है, अनुभवी को पकड़ नही पाता। ह्यूम के सम्मुख प्रश्न यह था—'अनुभव में हम क्या देखते हैं ?' उसने अनुभवो में अनुभवी को नही देखा, अनुभवी वहाँ था ही नही, दिखाई कैसे देता ? पीछे जर्मनी के दार्शनिक काट ने कहा—'पूछने का पहला प्रश्न तो यह है कि अनुभव बनता कैसे है। बाहर से हमें असम्बद्ध गुणो के रूप में अनुभव की सामग्री मिलती है, इस सामग्री को विशेष आकृति देकर वस्तु-ज्ञान बनाना मन की क्रिया है।' न्याय दर्शन का विचार भी ऐसा ही है—'दर्शन और स्पर्श से एक ही अर्थ के सिद्ध होने से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है।'

(२) यह एकीकरण विविध इन्द्रियो के उपलब्धो में ही नही पाया जाता, दोनो आँखो के उपलब्धो में भी पाया जाता है। दोनो आँखो में हर एक देखती है। साधारण अवस्था में वे एक साथ देखती हैं, परन्तु हम दो पदार्थों को नही देखते, एक ही देखते हैं। एक आँख के देखने के बाद दूसरी देखे, तो भी हम दोनो उपलब्धो को एक ही वस्तु की देन समझते हैं। यह एकीकरण भी आत्मा की क्रिया है, और उसकी सत्ता को सिद्ध करता है।

(३) इस एकीकरण का एक अच्छा उदाहरण यह है कि एक इन्द्रिय की क्रिया दूसरी इन्द्रिय में विकार पैदा कर देती है। हम फल को देखते हैं और उसे मुँह मे डाल लेते हैं। खाने की क्रिया में, मुँह में लार निकलती है। पीछे फल के दर्शन मात्र से लार निकलने लगती है। यहाँ क्रिया एक इन्द्रिय (आँख) की हुई है, विकार दूसरी इन्द्रिय (रसना) में पैदा हो गया है। यह सम्बन्ध भी आत्मा की क्रिया है, इस क्रिया के अभाव में, फल के मुँह में जाने से पहले लार निकल नही सकती थी।

नवीन काल में, रूस के वैज्ञानिक पावलाव ने इन विकारो पर बहुत अनुसधान किया। उसने कुत्तो पर प्रयोग किये। खाना खाते समय तो कुत्ते के मुँह में लार निकलती ही थी, खाना देखने, और खाने के पहले बजने वाली घटी की आवाज पर भी निकलने लगी। पावलाव ने ऐसे सम्बन्धो को 'निर्मित-सहज क्रिया' (कान्डीशड रीफ्लैक्स) का नाम दिया। वैज्ञानिक होने की स्थिति में, पावलाव ने ऐसी क्रियाओ के निर्माण का अध्ययन किया, गौतम के सामने इन विकारो के समाधान का प्रश्न था। उसकी सम्मति में, ऐसे विकार आत्मा की क्रिया की ओर सकेत करते हैं।

प्रतिपक्षी कहता है कि इन विकारो की उत्पत्ति स्मृति का काम है, खाना देखने पर या घटी की आवाज सुनने पर खाना चखने की याद आती है और लार निकलने लगती है। यह आक्षेप सूत्रकार की दृष्टि को स्मृति के विवेचन की ओर फेर देता है। स्मृति तो आप समाधान की माग करती है, यह निमित्त-सहज क्रिया का समाधान क्या करेगी ?

(४) मै एक मनुष्य को देखता हू। मुझे ख्याल आता है कि मैने उसे पहले भी देखा है। उसका नाम, भेंट का स्थान और अवसर भी याद आ जाते है। वर्तमान के प्रभाव और पहले प्रभाव के चित्र को एक साथ रखकर मै उनकी समानता पर ध्यान देता हूं। यही स्मृति है। स्मृति का तत्त्व यह है कि दो अनुभवो को जिनमें एक अब अनुभूत हो रहा है, और दूसरा भूत काल मे अनुभूत हुआ था, एक साथ देखा जाता है। यह एक साथ देखनेवाला कौन है ? भूतकाल का अनुभव अपने असली रूप मे तो अब विद्यमान नही, सस्कार रूप मे विद्यमान है। इस सस्कार का आश्रय आत्मा है, इसकी कोई निराश्रय सत्ता नही। विलियम जेम्स ने भी कहा है कि 'अनुभववाद को स्मृति मागनी पडती है। यदि अनुभवो के अतिरिक्त अनुभवी की कोई सत्ता नही, तो स्मृति का कोई समाधान नही हो सकता। न्याय का चौथा हेतु आत्मा के अस्तित्व मे यह है कि स्मृति की सभावना ऐसी सत्ता के लिए ही है, जो वर्तमान और भूत दोनो कालो में विद्यमान हो।

२. पुनर्जन्म

आत्मा के अस्तित्व के साथ मिला हुआ यह प्रश्न भी है कि आत्मा का जन्म भी शरीर-निर्माण के साथ होता है, या यह वर्तमान सयोग के पहले भी विद्यमान था। जो लोग आत्मा को नित्य सिद्ध करना चाहते हैं, वे प्राय दो युक्तियो का आश्रय लेते है।

(१) आत्मा मिश्रित पदार्थ नही। बनना और टूटना अवयवो का युक्त वियुक्त होना है, इससे अधिक विनाश और उत्पत्ति की बावत हमारा अनुभव कुछ नही बताता। आत्मा जैसे सरल पदार्थ का अनित्य होना निरर्थक है।

(२) नैतिक भावना मनुष्य की मौलिक प्रकृति का अश है। इस भावना में दो बाते प्रमुख है—एक यह कि नैतिक दुनिया में भी कारण-कार्य नियम अटल है, दूसरी यह कि मनुष्य आदर्शो के लिए जीता है। कर्म का नियम बताता है कि हम जो अब बो रहे हैं, उसे आगे काटेगे, जो अब काट रहे हैं, उसे पहले बोया था। हमारे भोगो मे अनेक ऐसे हैं जो वर्तमान जीवन की कमाई

नही। नैतिक व्यवस्था को स्वीकार करें तो हमें पुनर्जन्म को भी स्वीकार करना पडता है।

न्याय दर्शन में इन युक्तियो का प्रयोग नही किया। सूत्रकार का उद्देश्य यह बताना है कि वर्तमान जीवन हमारा पहला जीवन नही, इसके पूर्व भी जन्म हो चुके है। सूत्रकार तत्त्व-ज्ञान और नीति का नही, अपितु मनोविज्ञान का सहारा लेता है। पुनर्जन्म के पक्ष मे न्याय में दो हेतु दिये गये हैं।

(१) जन्मजात भावनाएँ

मनुष्य की भावनाओ में तीन मौलिक भावनाओ का वर्णन होता है—हर्ष, भय और शोक। भय और शोक दोनो दुख के रूप है, भय आगे की ओर देखता है, शोक पीछे की ओर। 'भय वह दुख है जो आने वाले दुख के चिन्तन से होता है', शोक वह दुख है जो हो चुकी हानि के स्मरण से होता है। भय की हालत में भी हम पिछले अनुभव की ओर ध्यान देते है, इसी से हमे पता लगता है कि कौन-सी स्थिति दु खद होती है।

जीवन के व्यापार में, हर्ष, भय और शोक आदि भावो का प्रादुर्भाव अनुभव का फल होता है, परन्तु यह भाव जन्मजात भी होते हैं। यह कैसे होता है ?

विज्ञान और दर्शनशास्त्र में एक स्वीकृत नियम यह है कि जहाँ समाधान मे एक नियम से काम चल सके, वहाँ एक से अधिक नियमो का आश्रय लेना अनुचित है। जिस तरह वर्तमान जीवन में भावनाएँ अनुभव का फल होती है, उसी तरह जन्मजात भावनाएँ पूर्वजन्म या जन्मो के अनुभव का परिणाम हैं। सूत्र ३ १ १९ में कहा है—

'पूर्व अभ्यास की स्मृति के सबन्ध से, उत्पन्न हुए बच्चे के हर्ष, भय और शोक अनुभव करने से (पूर्वजन्म सिद्ध है)।'

प्रतिवादी कहता है कि यह भाव आत्मा के अन्दर से फूट पडते हैं, और इनके समाधान के लिए पूर्व अभ्यास की आवश्यकता नही। फूलो का खिलना और बन्द होना उनका स्वभाव ही है, इसी तरह हर्ष, भय आदि भी आत्मा के स्वभाव है। सूत्रकार कहता है कि प्राकृतिक पदार्थो की हालत में भी कथित परिवर्तन उष्णता, शीत, वर्षा आदि के प्रभाव में होते है, आत्मा के जन्मजात भाव भी अकारण नही होते।

(२) मूल प्रवृत्तिया

जन्मजात भावनाओ की तरह जन्मजात अभिरुचियाँ भी होती हैं। बच्चा पैदा होते ही माता के स्तन से दूध चूसने लगता है। सूत्र ३ १ २२ में कहा है कि

यह अभिलाषा भी पूर्व अभ्यास का फल है। दूध पीने की अभिलाषा ही नही, अनेक मूल-प्रवृत्तियाँ प्राणियों में पायी जाती हैं। इन प्रवृत्तियों के कई समाधान किये गये हैं। तीन प्रमुख समाधान ये हैं—

(क) मूल-प्रवृत्ति सहज क्रियाओ की लडी है। प्रत्येक क्रिया एक प्राकृतिक घटना है, इसमे मानसिक अश विद्यमान नही।

(ख) मूल-प्रवृत्ति लुप्त बुद्धि है। पहले यह क्रियाएँ सोच-विचार का फल होती थी, अगणित नसलो के बीतने पर बोध का अश लोप हो गया है। जब कोई आदत बन जाती है, तो क्रिया बिना ध्यान के होने लगती है। मूल-प्रवृत्तियाँ जाति की आदतें हैं।

(ग) मूल-प्रवृत्तियाँ प्राकृतिक चुनाव का फल हैं। जिन उप-जातियों में बच्चे पैदा होते ही दूध पी सकते थे, वे बच रही है, अन्य जातियाँ जीवन-सग्राम में समाप्त हो गयी है।

न्याय सूत्रो का मत दूसरे ख्याल से मिलता है, परन्तु दोनो मे भेद है। विकासवाद के अनुसार जो गुण व्यक्ति जीवन में प्राप्त करता है, वह उससे उसकी सन्तान को पहुँच जाते हैं। न्याय के अनुसार, व्यक्ति पूर्वजन्मो की अपनी कमाई का ही पीछे आने वाले जन्मो में प्रयोग करता है। मूल-प्रवृत्तियाँ जाति की आदतें नही, व्यक्ति के पूर्व अभ्यास का फल हैं।

३ आत्मा के लिंग

आत्मा का द्रव्य होना और पूर्वजन्म तात्विक सिद्धान्त हैं। आत्मा के लिंगो की बाबत कहते हुए, सूत्रकार मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रविष्ट होता है। आत्मा के लिंग वह चिह्न हैं, जो इसे अनात्मा से पृथक् करते है।

सूत्र १ १ १० मे कहा है —

'इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु ख और ज्ञान आत्मा के लिंग है।'

पश्चिम में, काट के समय से पहले ज्ञान और कर्म ही चेतना के अश समझे जाते थे, अनुभूति की स्थिति स्वतन्त्र अश की न थी, ज्ञान और क्रिया के विशेषण की थी। काट ने अनुभूति को भी ज्ञान और क्रिया के स्तर पर रख दिया। अब यही मान्य विचार है। कुछ विचारक तनिक आगे जाते है और कहते है कि ज्ञान, अनुभूति और क्रिया के अतिरिक्त क्रिया-चेष्टा भी स्वतन्त्र लिंग है। इस विचार के अनुसार, चेष्टा, क्रिया अनुभूति और ज्ञान आत्मा के चार लिंग हैं। न्याय एक पग आगे जाता है, वह चेष्टा में इच्छा और द्वेष को अलग करता है, और अनुभूति में सुख और दुख को अलग करता

है। इसके फलस्वरूप, यह हमें आत्मा के छ लिंग—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु ख और ज्ञान देता है। न्याय चेतना के विश्लेषण में पश्चिमी विचारको से कुछ आगे जाता है।

लिंगों की सूची में जो क्रम दिया है, वह भी तनिक विचार के योग्य है। विकसित चेतना में हम कभी एक पक्ष से आरम्भ करते हैं, कभी दूसरे से, कर्म ज्ञान को जन्म देता है, ज्ञान कर्म को जन्म देता है। बच्चे की चेतना में हम क्या देखते हैं? उसका ज्ञान न होने के बराबर है, उसे यह भी पता नही होता कि कौन क्रिया सुखद है, और कौन दुखद। वह प्रवृत्तियो का गट्ठा-सा होता है। यह प्रवृत्तियाँ क्रिया में परिणत होती हैं। क्रिया निर्विघ्न चलती जाय, तो सुख होता है, बाधा पडने पर दु ख होता है। क्रिया से ही, उसे पदार्थों की बाबत ज्ञान होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय की सूची में बच्चे के मानसिक विकास को ध्यान में रखा गया है।

(२) शरीर, इन्द्रिय और अर्थ

१. शरीर

ज्ञान और ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध है। ज्ञेय के लिए ही 'अर्थ' का प्रयोग किया जाता है। शरीर इस सम्बन्ध का साधन है, और शरीर में भी इन्द्रियाँ विशेष महत्त्व रखती हैं। अर्थ की ओर फिरने से पहले उचित ही है कि हम शरीर और इन्द्रियो की बाबत कुछ विचार कर लें। न्याय सूत्र में आत्मा और अर्थ के मध्य में शरीर और इन्द्रियो को स्थान दिया है।

शरीर के सम्बन्ध में सूत्रो में दो बातो की बाबत कहा है—(१) शरीर की सामग्री और (२) शरीर की सीमाएं।

शरीर की सामग्री

ससार के सभी प्राकृतिक पदार्थ पृथिवी, जल, वायु, तेज और आकाश से बने हैं। मनुष्य का शरीर पार्थिव है। इसका अर्थ यह है कि न्याय के अनुसार, शेष तत्त्व इसके उपादान कारण नही। जल और वायु हमारे शरीर का अनिवार्य अश प्रतीत होते हैं, इन्हें क्यो छोड दिया गया है?

एक मनुष्य को कुछ दिन ज्वर रहा है और इसके फलस्वरूप उसका भार दो सेर कम हो गया है। डाक्टर कहता है कि इस कमी को पूरा करने में एक मास लगेगा। वह दो घटो में जल पी कर यह कमी पूरी कर लेता है। जब वह दो सेर पानी अपने अन्दर डालता है, तो क्या वास्तव में उसका शरीर पूर्व बोझ को प्राप्त कर लेता है?

है। इसके फलस्वरूप, यह हमें आत्मा के छ लिंग—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु ख और ज्ञान देता है। न्याय चेतना के विश्लेषण में पश्चिमी विचारको से कुछ आगे जाता है।

लिंगो की सूची में जो क्रम दिया है, वह भी तनिक विचार के योग्य है। विकसित चेतना में हम कभी एक पक्ष से आरम्भ करते हैं, कभी दूसरे से, कर्म ज्ञान को जन्म देता है, ज्ञान कर्म को जन्म देता है। बच्चे की चेतना में हम क्या देखते हैं? उसका ज्ञान न होने के बराबर है, उसे यह भी पता नही होता कि कौन क्रिया सुखद है, और कौन दुखद। वह प्रवृत्तियो का गट्ठा-सा होता है। यह प्रवृत्तियाँ क्रिया में परिणत होती हैं। क्रिया निर्विघ्न चलती जाय, तो सुख होता है, बाधा पडने पर दु ख होता है। क्रिया से ही, उसे पदार्थों की बाबत ज्ञान होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय की सूची में बच्चे के मानसिक विकास को ध्यान में रखा गया है।

(२) शरीर, इन्द्रिय और अर्थ

१. शरीर

ज्ञान और ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध है। ज्ञेय के लिए ही 'अर्थ' का प्रयोग किया जाता है। शरीर इस सम्बन्ध का साधन है, और शरीर में भी इन्द्रियाँ विशेष महत्त्व रखती हैं। अर्थ की ओर फिरने से पहले उचित ही है कि हम शरीर और इन्द्रियो की बाबत कुछ विचार कर लें। न्याय सूत्र में आत्मा और अर्थ के मध्य में शरीर और इन्द्रियो को स्थान दिया है।

शरीर के सम्बन्ध में सूत्रो में दो बातो की बाबत कहा है—(१) शरीर की सामग्री और (२) शरीर की सीमाएँ।

शरीर की सामग्री

ससार के सभी प्राकृतिक पदार्थ पृथिवी, जल, वायु, तेज और आकाश से बने हैं। मनुष्य का शरीर पार्थिव है। इसका अर्थ यह है कि न्याय के अनुसार, शेष तत्त्व इसके उपादान कारण नही। जल और वायु हमारे शरीर का अनिवार्य अश प्रतीत होते हैं, इन्हें क्यो छोड दिया गया है?

एक मनुष्य को कुछ दिन ज्वर रहा है और इसके फलस्वरूप उसका भार दो सेर कम हो गया है। डाक्टर कहता है कि इस कमी को पूरा करने में एक मास लगेगा। वह दो घटो में जल पी कर यह कमी पूरी कर लेता है। जब वह दो सेर पानी अपने अन्दर डालता है, तो क्या वास्तव में उसका शरीर पूर्व बोझ को प्राप्त कर लेता है?

आकृति

भौतिक इन्द्रियो की आकृति तो भिन्न है ही, जो वोध पदार्थो की आकृति की वावत यह देती है, वह भी एक नही होता। जो चतुर्भुज एक स्थान से देखने पर समकोण दिखाई देता है, वह दूसरे स्थान से समकोण दिखाई नही देता। स्पर्श वता देता है कि वह समकोण है या नही। इस तरह वस्तुओ की आकृति की वावत भिन्न इन्द्रियाँ एक ही ज्ञान नही देती।

जाति

जाति का अर्थ उत्पत्ति है। वोधो की उत्पत्ति भी एक समान नही होती। सुगधित पदार्थों के परमाणु नासिका-छिद्र में प्रवेश करके उसे उत्तेजित करते हैं, शब्द करनेवाली वस्तु से वायु-तरगें चल कर कान की ढोलक को ठुकराती हैं, रस के अनुभव के लिए आवश्यक है कि रसीली वस्तु पहले तरल हो ले।

इन भेदों के आधार पर, न्याय दर्शन इन्द्रियो की अनेकता को स्वीकार करता है।

३ अर्थ

ज्ञानेन्द्रियो के प्रयोग से हमें रूप, रग, रस, गन्ध और शब्द का ज्ञान होता है। चूँकि इन सवेदनो में जातिभेद है, हम अनुमान करते हैं कि इन्द्रिय एक नही, अपितु पाँच इन्द्रियाँ हैं। पाँच प्रकार का ज्ञान पाँच करणो से प्राप्त होता है। यहाँ एक और प्रश्न उठता है—क्या यह उपलब्ध ही वोध-विषय हैं, या यह किसी अन्य अर्थ का कार्य हैं? यहाँ वस्तुवाद और अध्यात्मवाद का विवाद उठ खडा होता है।

अध्यात्मवाद के अनुसार सारी सत्ता मानसिक है। शरीर के अस्तित्व को स्वीकार करके, हमने इस सिद्धान्त को अस्वीकार किया है। अमानवी सत्ता और उसके ज्ञान की वावत वस्तुवादियो में मतभेद है। वस्तुवाद के तीन प्रमुख रूप ये हैं—

(१) साधारण वस्तुवाद के अनुसार हमें वाह्य पदार्थों का स्पष्ट ज्ञान होता है, हम उनके स्पष्ट सम्पर्क में आते हैं।

(२) प्रतिरूपक वस्तुवाद के अनुसार, वाह्य पदार्थ तो हमारी पहुँच से वाहर हैं, हम उनके चित्रो को ग्रहण करते हैं, और हमारा ज्ञान इन चित्रो से परे नही जाता।

(३) नवीन वस्तुवाद उपलब्धो को ही स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है, और इनके अतिरिक्त किसी सत्ता को इनका कारण स्वीकार नही करता।

वाह्य जगत् के ज्ञान की वावत दो वातें विशेष महत्त्व की हैं—

(१) हममें से हर एक वार-वार एक ही पदार्थ को देखता है। हम भ्रमण के

(ख) क हमारे अनुभव में बार-बार आया है।

हम अपने साथियो का नाम भूल नही सकते।

(ग) क के साथ हमारा सम्बन्ध घनिष्ट है।

छ मास नही, छ वर्षों के बाद हमे एक मनुष्य से भेट की याद आ जाती है, यदि वह मनुष्य महापुरुप है, या उसने हमे डूवते-डूवते बचाया था।

(२) वर्तमान स्थिति क को खीच लाती है, क्योकि इसके किसी अश और क मे विशेप सम्बन्ध है। यहाँ हम वास्तव मे सयोग-नियमो की ओर सकेत कर रहे हैं। मनोविज्ञान ऐसे चार नियमो का वर्णन करता है—

(क) समानता का नियम—

किसी मनुष्य के चित्र को देखकर उस मनुष्य की याद आ जाती है।

(ख) असमानता या विरोध का नियम

बौने पुरुप को देखकर लबे पुरुप की, गोरे को देखकर काले की याद आती है।

(ग) समीपता का नियम

दो स्थिर साथियो में एक को देखकर दूसरे की याद आ जाती है।

(घ) आनन्तर्य का नियम

क के पहले या पीछे च सदा विद्यमान होता हो, तो च की उपस्थिति क को याद करा देती है।

कारण-कार्य सम्बन्ध इसका प्रसिद्ध उदाहरण है।

(३) हमारी वर्तमान अवस्था भी प्रभावशाली होती है। हर्प में हमे एक प्रकार की घटनाओ की याद आती है, शोक में अन्य प्रकार की घटनाओ की। सफलता में हमें पिछली सफलताएँ याद आती है, ठोकर लगे, तो पिछली ठोकरे भी याद आकर दुख को बढाती है।

किसी सस्कार को जागरित करके, उसके जनक बोध को स्मरण कराने वाले कारणो की यह लबी सूची है। न्याय ने अपने समाधान में इनकी ओर सकेत किया है, और कुछ कारणो को अधिक ब्योरे में दिया है।

सूत्र ३ २ ४४ कहता है—

'प्रणिधान, निबन्ध, अभ्यास, लिंग, लक्षण, सादृश्य, परिग्रह, आश्रय-आश्रित, सम्बन्ध, आनन्तर्य, वियोग, एक कार्य, विरोध, अतिशय, व्यवधान सुख-दुख, भय, अर्थित्व, क्रिया, राग, धर्म-अधर्म निमित्तो से स्मृति उत्पन्न होती है।'

'प्रणिधान' वर्तमान स्थिति में किसी विशेप पक्ष पर ध्यान जमाना है। यह क्रिया स्मरण में सहायक होती है।

'निबन्ध' घनिष्ट सम्बन्ध है।

'अभ्यास' किसी सम्बन्ध का बार-बार देखना है।

'सादृश्य' (समानता-नियम) और विरोध का स्पष्ट वर्णन किया है, 'समीपता' के कई उदाहरण दिये हैं—लिंग, लक्षण, परिग्रह (सम्पत्ति), आश्रय-आश्रित, एककार्य आदि।

दुख-सुख, भय आदि में वर्तमान मानसिक अवस्था की ओर सकेत किया है।

(४) अपवर्ग की ओर

बोध (बुद्धि) की परीक्षा के साथ तीसरा अध्याय समाप्त होता है। शेष छ प्रमेयो की परीक्षा चौथे अध्याय के पहले भाग मे की है।

तीसरे अध्याय में तत्त्व-ज्ञान और मनोविज्ञान प्रमुख है, चौथे अध्याय में जिन प्रमेयो का वर्णन है, उनमें अन्तिम प्रमेय 'अपवर्ग' है। दर्शन के पहले सूत्र में कहा है कि सोलह पदार्थों के तत्त्व-ज्ञान से नि श्रेयस की प्राप्ति होती है। अपवर्ग और नि श्रेयस एक ही हैं। अब नैतिक दृष्टिकोण प्रधान बनता है। सूत्रकार बताता है कि अपवर्ग की ओर यात्रा का रग-रूप क्या है।

जिन प्रमेयों की परीक्षा करना है, उन्हें तीन जोडो मे ले सकते हैं—

७, ८—प्रवृत्ति और दोष,

९, १०—प्रत्यभाव और फल,

११, १२—दु ख और अपवर्ग।

१. प्रवृत्ति और दोष

सूत्र १ १ १७, १८ में कहा है—

'वाणी, बुद्धि और शरीर से आरम्भ करना प्रवृत्ति है।'

'प्रवृत्ति के कारण दोष हैं।'

प्रवृत्ति या प्रवर्तन कार्यारम्भ है। न्याय में इस पर बल दिया है। घटना और क्रिया में भेद है। बाहर से यह दोनो एक समान दीखें, तो भी स्वय कर्त्ता के लिए क्रिया केवल घटना नही होती, यह उसके सकल्प का स्थूल रूप होती है। प्रवृत्ति, पूर्ण अर्थो में, एक आरम्भ है, व्यक्ति परिवर्तन को देखता ही नही, उसे पैदा भी करता है।

क्रिया तीन रूप धारण करती है—शरीर की क्रिया, वाणी की क्रिया, बुद्धि की क्रिया। शरीर की क्रिया में शरीर या इसका कोई अग अपना स्थान बदलता है, लिखना, चलना ऐसी क्रियाएँ है। वाणी की क्रिया भी केवल जीभ की गति हो सकती

है, परन्तु शायद ही कोई पुरुष इस प्रकार का व्यायाम करता हो। इसका उद्देश्य विचार-परामर्श है। मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाने में वाणी का भाग प्रमुख है। मानसिक क्रिया में हमारा ध्यान अन्तर्मुख होता है। बुद्धि की क्रिया सभ्यता की नीव है। मनुष्य का जीवन इन तीन प्रकार की क्रियाओ की पक्ति ही है।

एक कवि ने कहा है—'सच्चे प्रेम का व्यवहार कभी निर्विघ्न समाप्त नही होता।' इसमें प्रेम की कोई विशेषता नही, हम समस्त जीवन की बाबत यही देखते है। जीवन का मार्ग न सीधा है, और न समतल ही है। इस मार्ग पर ठोकर खाने और गिरने की पग-पग पर सम्भावना है। एक लेखक ने तो कहा है कि हमारे खडा होने का अर्थ यही है कि हम अपने आपको गिरन से रोकते हैं। 'अच्छा मनुष्य अच्छा निशानाबाज है।' वह अपने लक्ष्य को स्पष्ट देखता है, और तीर को ठीक उस पर फेंकने की क्षमता रखता है। हम लक्ष्य को ठीक नही देखते और जितना देखते हैं, उसके अनुसार आचरण करने में समर्थ नही होते। सबसे बडी कठिनाई यह है कि भाव बीच में आ कूदते हैं और बुद्धि को एक ओर करके अपना अधिकार जमा लेते है। उद्वेग अनेक रूपो में व्यक्त होते हैं, परन्तु उनमें बहुतेरे राग और द्वेष के अन्तर्गत आ जाते है। न्याय दर्शन के अनुसार मोह, राग और द्वेप तीन दोप है। इन तीनो में 'मोह' प्रधान है, यह विवेक या लक्ष्य-दर्शन का अभाव है।

सूत्र ४ १ ६ में कहा है —

'इन तीन दोषो में मोह बडा पापी है, जो मनुष्य मोह से बचा है, उसमें दूसरे दोप भी नही होत।'

यही विचार प्राचीन यूनान में सुकरात ने प्रकट किया। उसके अनुसार सारी बुराई का कारण सत्य-ज्ञान का अभाव है। न्याय के अनुसार सत्य-ज्ञान का अभाव (मोह) हमें राग-द्वेप का दास बना देता है।

२. प्रेत्यभाव और फल

तीनों दोपो से बचने के लिए हमें लगातार प्रयत्न करना होता है। मिथ्या-ज्ञान और उद्वेगो के अधिकार से विमुक्त होना सहज नही। जर्मनी के दार्शनिक काट ने कहा है कि हमारा नैतिक उद्देश्य पूर्णता है और इसकी सिद्धि के लिए अनन्त काल की आवश्यकता है। इतनी दूर न जायें, तो भी इतना तो मानना ही पडता है कि एक जन्म इस साध्य को साधने के लिए पर्याप्त नही। न्याय दर्शन का यही मत है। प्रेत्य-भाव का अर्थ यह है कि हमारा प्रयत्न वर्तमान जीवन के बाद भी जारी रहेगा। हमारा

वर्तमान जीवन समस्त जीवन की एक नन्ही कडी है। हमारे प्रयत्न का अन्त तो तभी होगा, जब हम अपवर्ग को प्राप्त कर लेगे।

जिस तरह प्राकृतिक जगत् मे कारण-कार्य सम्बन्ध अटल है, उसी तरह नैतिक जगत् में कर्म का नियम अटल है। कर्त्ता को अपने कर्मो का फल भुगतना होता है, ऐसा होने पर ही वास्तव मे किसी कर्म की समाप्ति होती है। मनुष्यो का अधिकार हो तो कर्म-फल के निश्चित करने मे अपनी इच्छा को सर्वाधिकारी बना दे, परन्तु नैतिक व्यवस्था किसी अन्य सत्ता के अधीन है। सूत्र ४ १९ में कहा है —

'पुरुष के कर्मो का फल उसकी इच्छा के विपरीत देखा जाता है, इसलिए ईश्वर ही कारण है।' (नैतिक व्यवस्था का व्यवस्थापक है)

यहाँ तक न्याय का मत यह है—

क्रिया और घटना में भेद है, क्रिया वास्तविक आरम्भ है।

मनुष्य कर्म करने मे स्वतन्त्र है, परन्तु कर्मफल भोगने मे परतन्त्र है।

मनुष्य का प्रयत्न एक के बाद दूसरे जन्म मे, दूसरे के बाद तीसरे जन्म मे जारी रहता है, प्रत्येक जीवन एक लबी जजीर की कडी है।

इस प्रसग मे सूत्रकार ने प्रतिपक्ष के दो आक्षेपो की ओर सकेत किया है—

(१) कारण-कार्य नियम यह है कि कारण के लुप्त होने पर कार्य का आरम्भ हो जाता है, एक की समाप्ति और दूसरे के आरम्भ में कोई अन्तर नही होता। जिन कर्मो का फल इस लोक में नही मिलता, उनका फल परलोक में नही मिल सकेगा।

(२) सारे कर्म शरीर से होते हैं। मृत्यु के बाद शरीर का दाह हो जाता है। पुनर्जन्म हो भी तो उसमें एक नया शरीर मिलेगा। यह कहाँ का न्याय है कि एक शरीर करे, और दूसरा भोगे?

पहले आक्षेप के उत्तर में सूत्रकार कहता है कि प्राकृतिक जगत् में भी कुछ कारणो का फल तुरन्त प्रकट हो जाता है, परन्तु कुछ कारणो का पर्याप्त अन्तर के बाद भी होता है। अग्नि मे कागज फेंके तो वह तुरन्त भस्म हो जाता है, पौदे को सीचें और खाद दें तो वर्षो के बाद फल की आशा करते हैं। एक कवि के शब्दो में, 'परमात्मा का वज्र दण्ड देने में उतावली नही करता, परन्तु विलम्ब भी नही करता।'

दूसरे आक्षेप के उत्तर में कहा है कि कर्त्ता और भोक्ता आत्मा है, शरीर तो केवल अधिष्ठान है। शरीर-परिवर्तन होता है, परन्तु आत्मा तो वही रहता है। कर्त्ता और भोक्ता आत्मा के एक ही होने से न्याय की माग पूरी हो जाती है।

३. दुख और अपवर्ग

१ १ २१, २२ में दुख और अपवर्ग की परिभाषा यो की गयी है—

'वाधना के लक्षण वाला दुख है।'

'उस दुख से अत्यन्त विमुक्त होना अपवर्ग है।'

वाधना का अर्थ रुकावट है। मनुष्य जीवन में कुछ करता ही रहता है। जव तक उसका काम विना रोक के चलता जाता है, उसे सन्तोप होता है, कोई वाधा पड जाय, तो उसे दुख होता है। वच्चा खेल रहा है, उसे पकड कर जकड दें, तो वह दुखी होता है। रोग में भी शरीर की साधारण प्रक्रिया में कोई वाधा पड जाती है। मानसिक दुख भी इसीलिए होता है कि इच्छा-पूर्ति में रुकावट पड जाती है। अरस्तू ने भी क्रिया का वाधित होना ही दुख का कारण वताया है।

दुख की अत्यन्त निवृत्ति अपवर्ग है। जीवन में दुख की स्थिति क्या है?

भद्रवाद जीवन में दुख की अपेक्षा सुख की अधिकता देखता है, इसके विपरीत अभद्रवाद जीवन को दुखमय समझता है। सूत्रकार का झुकाव दुखवाद की ओर है। सूत्र ४ ५५ में कहा है—

'अनेक प्रकार की वाधाओ के मयोग से जन्मोत्पत्ति दुख रूप ही है।'

अभद्रवाद के अनुसार, ससार में भलाई की अपेक्षा वुराई की अधिकता है। दुख वुराई का एक रूप है। दुखवाद वुराई को दुख के रूप में ही देखता है। प्रतिपक्षी कहता है कि दुखवादी यह तो देखता है कि सुख के साथ दुख मिला होता है, परन्तु यह नही देखता कि दुख के साथ भी सुख मिला होता है। सुख और दुख मिले होते हैं, भद्रवादी सुख को देखता है, अभद्रवादी दुख को देखता है। दोनो पक्षपात के शिकार हैं। प्रतिपक्षी के आक्षेप में गुरुत्व है।

प्रतिपक्ष का दूसरा आक्षेप यह है कि रोग असाध्य है, दुख की अत्यन्त निवृत्ति सभव ही नही। इस आक्षेप को सूत्र ४ ५९ में यो वयान किया है—

'ऋण, क्लेश और प्रवृत्ति के अनुवन्ध (वन्धन) होने से अपवर्ग का अभाव है।'

जीवन में प्रवृत्ति या क्रिया तो होती ही रहती है। प्रत्येक क्रिया में किसी वाधा को दूर करन का प्रयत्न होता है। ऐसे प्रयत्न के साथ क्लेश मिला होता है, क्रिया करने वाले को क्लेश होता है और अन्य प्राणियो को भी होता है। नैतिक स्तर पर, व्यक्ति कर्त्तव्यो का पुज है, भला पुरुप दूसरो से अधिक अनुभव करता है कि वह अपन काम को पूरा नही कर सका। हम ऋणी पैदा होते है और ऋणी ही मरते हैं। प्रतिपक्षी कहता है कि जीवन के साथ प्रवृत्ति और क्लेश मयुक्त हैं, जव तक जीवन है, तव तक प्रवृत्ति और क्लेश भी रहेंगे। हमारा नैतिक उद्देश्य इतना महान

है कि हम अपना ऋण चुका ही नहीं सकते। ऐसी स्थिति में अपवर्ग की आशा करना मूर्ख के स्वर्ग में विचरना है।

सूत्रकार इस आक्षेप को सारयुक्त नहीं समझता। कर्त्तव्य कर्म की बाबत कहीं-कहीं भयावनी भाषा का प्रयोग होता है, परन्तु शब्दार्थ को नहीं, आशय को देखना चाहिये। कर्त्तव्य कर्म सदा हमारी सामर्थ्य के अन्दर होता है। जहाँ तक क्लेश का सम्बन्ध है, इससे विमुक्त होने की संभावना हमारा दैनिक अनुभव है। सूत्र ४ १ ६३ में कहा है—

'सोया हुआ पुरुष, स्वप्न-रहित निद्रा में क्लेश अनुभव नहीं करता, इससे अपवर्ग की संभावना सिद्ध है।'

'जागरित में बहुतेरी क्रियाओं में क्लेश होता भी है, तो इतना थोड़ा होता है कि वह बन्धन का कारण नहीं होता। बहुधा तो हमारा ध्यान उसकी ओर जाता ही नहीं। सूत्र ४ ६४ के शब्दों में, जिस प्रवृत्ति में तनिक क्लेश हो, वह बन्धन के लिए नहीं होता।'

क्रिया या प्रवृत्ति अपने आप में प्रकृति और शक्ति का नया विभाजन है। कर्मों का भला-बुरा होना कर्त्ता की भावना पर निर्भर है। जिस पुरुष ने कामनाओं के शासन से विमुक्त होकर सब कुछ कर्त्तव्य-भाव से करना आरंभ कर दिया है, उसके लिए कर्म बन्धन नहीं होता। युक्त पुरुष के कर्म ज्ञान-अग्नि से दग्ध हो जाते हैं, उसकी हालत में कर्म और अकर्म का भेद मिट जाता है।

न्याय दर्शन के अनुसार, दुख विद्यमान है, परन्तु इसकी निवृत्ति या अपवर्ग हमारी पहुँच में है।

६ अवयव और अवयवी

न्याय दर्शन के पहले सूत्र में कहा है कि १६ पदार्थों के तत्त्व-ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। इन पदार्थों में दूसरा 'प्रमेय' (प्रमाण का विषय) है। बारह प्रमेयों में अपवर्ग अन्तिम प्रमेय है। साधारण मनुष्य ख्याल करता है कि अपवर्ग की परीक्षा के साथ न्याय दर्शन का काम समाप्त हो जाता है, परन्तु ऐसा नहीं। चौथे अध्याय के दूसरे भाग में दो अन्य प्रश्नों पर विचार किया है। इनमें पहला प्रश्न 'अवयव और अवयवी' है।

ज्ञान ज्ञाता और अर्थ के सम्पर्क का परिणाम है। ज्ञाता की बाबत हम देख चुके हैं, ज्ञेय या अर्थ की बनावट की बाबत अब कुछ विचार करें।

मैं अपने आपको अनेक वस्तुओं से घिरा पाता हूँ। ये एक दूसरे से अलग दीखती

हैं, और प्रत्येक की निश्चित आकृति है। कोई वस्तु अपनी सीमाओं से परे नही जाती, न वह किसी अन्य वस्तु को अपनी सीमाओ में घुसने देती है। साधारण बोध में यह एक और अनेक का भेद है। परन्तु प्रत्येक वस्तु जिसे हम देखते हैं, मिश्रित पदार्थ है, इसके भाग भी एक दूसरे से अलगाये जा सकते हैं। कुर्सी एक वस्तु है, मैं इसे एक स्थान से उठा कर दूसरे स्थान पर ले जाता हूँ। परन्तु इसकी चार टागें हैं, बैठक है, पीठ है। इसमें कई कीलें लगी हैं। इतने भागो का समूह एक कैसे हो सकता है? एक और अनेक में भेद करना आवश्यक भी है या नही? और यदि आवश्यक है तो अनेकता कहाँ समाप्त होती है? कही समाप्त होती भी है या नही?

एक और अनेक के स्थान में 'अवयवी' और 'अवयव' का प्रयोग करें, तो प्रश्न निम्न रूप ग्रहण करेगा—

(१) अवयवो के अतिरिक्त अवयवी की सत्ता है या नही?

(२) अवयवी के अतिरिक्त अन्तिम अवयव की सत्ता है या नही?

पहली शका की बावत प्रतिपक्षी कहता है कि समग्र, भागो से अलग कोई अस्तित्त्व नही रखता, इसकी स्थिति नाममात्र की है। कुर्सी की टागो को हम एक स्थान मे देखते हैं, बैठक और पीठ का भी देशविशेष है। कुर्सी कहा है? यह किसी भाग में तो है नही, सारी कुर्सी टाग या बैठक में समा नही सकती। हर कही भी नही, क्योंकि सभी स्थान भागो ने रोक रखे हैं। और यदि भागो को अलग कर दिया जाय तो शेष रह क्या जाता है? अवयव (भाग) तो है, इनके अतिरिक्त अवयवी कुछ नही।

इसी प्रकार की शका वस्तु और उसके विशेषणो के सम्बन्ध में भी होती है। नारगी गोल है, कोमल है, विशेष गन्ध और रस रखती है। इसका विशेष रग है, जो इसी के नाम से प्रसिद्ध है। गुणो का तो हमें ज्ञान होता है, इनके अतिरिक्त नारगी कहा है? यह तो एक नाम है, जो हमने विशेष गुण-समूह को दे दिया है। सभी गुणो के अभाव में नारगी का भी अभाव हो जाता है।

सूत्रकार का मत यह है कि गुण गुणी पर आश्रित है, गुणी के बिना गुण का अस्तित्व अचिन्तनीय है। इसी तरह हर एक भाग किसी समग्र का भाग होता है। सूत्रकार अवयव और अवयवी दोनो का अस्तित्व मानता है।

अवयव की सत्ता के सम्बन्ध में भी शका होती है। सभी दृष्ट पदार्थ मिश्रित हैं, हम इनका विभाजन कर सकते हैं। इस विभाजन का कही अन्त नही, प्रकृति का कोई अश ऐसा नही, जो भाज्य न हो। यह विचार परमाणुवाद को अस्वीकार करता है। प्रतिपक्षी कहता है कि आकाश व्यापक है। यदि हम प्रकृति के ऐसे अश को मानें, जिसका विभाजन नही हो सकता, तो मानना पड़ेगा कि आकाश उस अश के अन्दर

विद्यमान नही। यदि आकाश उसमें विद्यमान हो तो उसके ऊपर के भाग को उसमे नीचे के भाग से अलग कर सकते हैं, और उसका अभाज्य होना असिद्ध हो जाता है। सूत्रकार का उत्तर यह है कि अन्दर और बाहर का भेद मिश्रित वस्तुओं मे होता है, परमाणु प्रकृति का अन्तिम अभाज्य अंश है, इसके सबन्ध में 'अन्दर' शब्द का प्रयोग निरर्थक है।

न्याय अवयवी की तरह अन्तिम अवयव की सत्ता को भी स्वीकार करता है।

७ वस्तुवाद

अवयव और अवयवी के विवाद मे पक्ष और प्रतिपक्ष दोनो बाह्य जगत् की सत्ता को स्वीकार करते है। परन्तु इस सत्ता में सन्देह हो सकता है। वस्तुवाद और अध्यात्मवाद का विवाद एक प्रमुख विवाद रहा है। अध्यात्मवाद के अनुसार सारी सत्ता ज्ञाता और ज्ञान की है, इनके अतिरिक्त ज्ञेय कुछ नही। वस्तुवाद बाहरी जगत् की सत्ता को स्वीकार करता है। अध्यात्मवाद के शस्त्रगृह में सबसे सशक्त शस्त्र स्वप्न है। स्वप्न में प्रतीत होता है कि हम अनेक पदार्थों को देखते है, अनेक मनुष्यों से बात-चीत और अन्य व्यवहार करते हैं। जागने पर पता लगता है कि यह सब मन की क्रीडा थी। यह क्यो न मान ले कि जागरित के अनुभव भी मन के खेल ही हैं? यह विचार स्वप्न और जागरण के मौलिक भेद को मिटा देता है। इस दावे की परीक्षा के लिए आवश्यक है कि हम स्वप्न की स्थिति भली प्रकार समझ लें। प्रतिपक्षी की शका को सूत्र ४ २ ३१, ३२ में यो बयान किया है—

'जैसा स्वप्न में देखी हुई वस्तुओ का अभिमान होता है, वैसा ही प्रमाण, प्रमेय का अभिमान है, या माया, गधर्वनगर, मृगतृष्णा के समान है।'

प्रतिपक्षी स्वप्न और जागरण में भेद करता है। साधारण मनुष्य भी ऐसा ही करता है, और जागरित को जाच की कसौटी मान कर, स्वप्न की दुनिया को असार कहता है। प्रतिपक्षी स्वप्न को नमूना मान कर जागरित को उसका रूपान्तर बताता है।

पहला प्रश्न तो यह है कि प्रतिपक्षी को स्वप्न और जागरण दोनो की स्वतन्त्र सत्ता में सन्देह करने का क्या अधिकार है? यह क्यो सभव नही कि जिन वस्तुओ और मनुष्यो को मै स्वप्न में देखता हूँ, वे वास्तव में मेरे कमरे में मौजूद होते हैं और मेरे जागने पर लुप्त हो जाते है? उन्हें अन्य कोई मनुष्य नही देखता, क्योकि प्रत्येक की स्वप्न-दुनिया उसकी निजी दुनिया है। यदि स्वप्न और जागरित मे भेद करना हो, तो उनमें असल कौन है और नकल कौन है? स्वप्न स्मृति और कल्पना की रचना

है। कल्पना सयोग-वियोग करती है, परन्तु मामग्री जागरित के अनुभवों से ही होती है। जन्म से अन्धा स्वप्न में कुछ देख नही सकता, जन्म से वहरा कुछ सुन नहीं सकता। स्मृति का आधार पूर्व काल का प्रत्यक्ष है, और प्रत्यक्ष इन्द्रियो और अर्थ के सम्पर्क का फल है। कल्पना भी प्रत्यक्ष के आधार पर काम कर सकती है। सूत्र ४ २ ३४ में कहा है—

'स्मृति और सकल्प (कल्पना) के समान स्वप्न-विषय का अभिमान है।' सूत्र का आशय यह है कि हम स्वप्न को स्वतन्त्र चेतना के रूप में स्वीकार नही कर सकते, यह स्मृति और कल्पना की तरह प्रत्यक्ष पर आश्रित है। स्वप्न और जागरित दोनो में प्रमुख पद जागरित का है। प्रत्यक्ष ज्ञाता और अर्थ (वाह्य-वस्तु) के समर्ग का फल है।

न्याय वस्तुवाद का समर्थक है।

८ हेत्वाभास

न्याय तर्कविद्या है। नैयायिक वहुधा अपने विवेचन को तर्क तक सीमित रखते ह। न्याय सूत्रो में, जैसा हमने देखा है, प्रमाण को काफी महत्त्व दिया है, परन्तु प्रमेय को इससे भी अधिक महत्त्व दिया है। इसके फलस्वरूप तर्क के साथ मनोविज्ञान और तत्त्व-ज्ञान भी विचार के विषय वन गये है। तर्क में अनुमान का स्थान केन्द्रीय स्थान है। अनुमान लिंग-लिंगी सम्बन्ध का स्थापन करना है, हम लिंग को देखकर लिंगी का अनुमान करते हैं। इस क्रिया में हम कुछ नियमो का अनुकरण करते है। आगमन अनुमान में कारण-कार्य नियम और व्यवस्था ऐसे नियम हैं, निगमन मे हम देखते हैं कि कही आन्तरिक विरोध न घुस आये। सगति का नियम यहाँ मान्य है। दोनो हालतो में भूल की सभावना है। जव हम किसी नियम का उल्लघन करते है, तो हमारा अनुमान हमें अनुमान प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव मे अनुमान होता नही। ऐसे अनुमान को नकली दलील या हेत्वाभास कहत है।

हेत्वाभास या तर्काभास के स्वरूप को समझने के लिए आवश्यक है कि हम निर्दोष अनुमान का स्वरूप ध्यान में रखें। हेत्वाभास ऐसे अनुमान के किसी नियम की उपेक्षा ही है। सूत्र १ २ १ में कहा है—

'पक्ष और प्रतिपक्ष का अगीकार करना वाद (दलील) है। इसके तीन विशेषण हैं—इसमें निष्कर्ष (नतीजा) युक्ति का फल होता है, यह सिद्धान्त का विरोधी नही होता, और पाँच अवयवो मे युक्त होता है।'

वाद मे पक्ष और प्रतिपक्ष—दोनो की समदृष्टि से जाँच की जाती है, इसमें उद्देश्य सत्य की जिज्ञासा, होता है, हारजीत नही होता। ऐसे वाद के तीन लक्षण है—

(१) नतीजा आधार वाक्य या वाक्यो का निचोड होना है। ऐसे सम्बन्ध के अभाव मे, नतीजा यथार्थ हो, तो भी हमारी क्रिया अनुमान नही। एक पुरुष कहता है—

'आज रविवार है,

मेरा भाई मुझसे तीन वर्ष बडा है,

इसलिए कुनाइन मैलेरिया ज्वर का अच्छा इलाज है।'

यहाँ तीनो वाक्य सत्य हो, तो भी 'इसलिए' शब्द का प्रयोग निरर्थक है, पहले दो वाक्यो का तीसरे से कोई सम्बन्ध नही। अनुमान मे, 'इसलिए' आवश्यक शब्द होता है, आधार वाक्यो की स्वीकृति हमें निष्कर्ष को मानने पर बाधित कर देती है।

(२) वाद का दूसरा लक्षण यह है कि जो कुछ सिद्ध करना है वह सिद्धान्त (प्रमाणित धारणा, सत्य) के विरुद्ध न हो। सत्य का बडा भडार विद्यमान है। कोई धारणा, जो इसके प्रतिकूल हो, सत्य स्वीकृत नही हो सकती।

यह लक्षण आगमन अनुमान में विशेष महत्त्व का है।

(३) वाद का तीसरा लक्षण यह है कि यह पचअवयवी के किसी नियम की अवज्ञा न करे।

अनुमान से न्याय में प्राय निगमन अनुमान समझा जाता है।

पचअवयवी का एक विख्यात उदाहरण यह है—

'पर्वत पर अग्नि है,

क्योकि वहाँ धुआँ है।

जहा कही धुआँ होता है, वहाँ अग्नि होती है।

पर्वत पर धुआँ है,

इसलिए, वहाँ अग्नि है।'

तीन अन्त के वाक्य हमारे लिए पर्याप्त हैं।

हेत्वाभास में, आधार वाक्यो में पहला या दूसरा दूषित होता है और वाद को दूषित कर देता है।

सूत्र १ २ ४ में कहा है—

'सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, अतीतकाल, यह पाँच हेत्वाभास है।'

अगले पाँच सूत्रो में इनकी व्याख्या की गयी है।

१. 'सव्यभिचार'

'जहा व्यभिचार और अनैकान्तिकता मिले हो, वहा सव्यभिचार दोष होता है।'

'व्यभिचार' मार्ग-भ्रष्टता है, यह सहचार के प्रतिकूल है। जब क और ख एक साथ मिलते हैं, तो उनका सम्बन्ध सहचार कहलाता है। यह साथ एकतरफा होता है और दोतरफा भी। दोतरफा सहचार में हम कहते है—

जहाँ क है, वहाँ ख है, जहाँ ख है, वहाँ क है। एकतरफा सहचार में हम यह तो कह सकते हैं कि 'जहाँ क है, वहाँ ख हैं, परन्तु यह नही कह सकते कि 'जहाँ ख है, वहाँ क है।' कल्पना करें कि क को गोली लगना है, और ख मृत्यु है। गोली लगने से मृत्यु हो जाती है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि जो कोई मरता है, वह गोली लगने से मरता है। यह एकतरफा सहचार है।

हम कहते हैं—'मनुष्य बुद्धियुक्त प्राणी है', हम यह भी कहते है—'बुद्धियुक्त प्राणी मनुष्य है।' यह दोतरफा सहचार है। एकतरफा सहचार को ही सूत्र में 'अनैकान्तिकता' कहा है। मृत्यु के अनेक कारण हो सकते है, इसलिए किसी एक कारण को हर हालत में मृत्यु का कारण समझना 'सव्यभिचार दोष' है।

ऊपर दिये उदाहरण को लें।

हम कहते है—'जहाँ धुआँ है, वहा अग्नि है।' और इससे अनुमान करत है कि 'जहाँ अग्नि है, वहाँ धुआँ है।' यह अनुमान दूषित है, क्योकि धुएँ का कारण यह है कि जलने वाली वस्तु गीली होने के कारण पूर्णयता जलती नही। हर हालत मे जलने वाली वस्तु गीली नही होती।

२. 'विरुद्ध'

'जिस सिद्धान्त को मानकर चलें, उसके विरुद्ध हेतु का प्रयोग करना 'विरुद्ध' दोष है।'

कई बार ऐसा होता है कि साध्य के पक्ष मे जो हेतु दिया जाता है, वह वास्तव में साध्य के प्रतिकूल जाता है। जब अमेरिका ने इग्लैण्ड से स्वाधीन होना चाहा, तो कुछ लोग कहते थे कि मातृभूमि और नयी बस्तियो का सम्बन्ध माता और सन्तान का सम्बन्ध है, इसलिए अमेरिका को अलग नही होना चाहिये। यह लोग न जानते हुए, अमेरिका को स्वतन्त्रता के पक्ष में एक हेतु दे रहे थे। पुष्ट होने पर सन्तान माता-पिता से अलग होकर नये परिवार बनाती है।

३ 'प्रकरणसम'

जब किसी धारणा के पक्ष और विपक्ष दोनो में युक्तियाँ दी जा सकें, तो नतीजे

पर पहुँचना कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था मे हम प्रकरण में ही उलझे रहते हैं और आगे बढ नही सकते। न्यायालय मे किसी पुरुष पर दोष लगाया जाता है। न्यायकर्त्ता का काम यह निर्णय करना है कि अभियुक्त पुरुष दोषी है या नही। वह एक या दूसरा निर्णय करने पर बाधित होता है, अन्य पुरुषो के लिए दोनो तरफ की दलीले एक जैसी सबल होती है। ऐसी हालतो मे एक पक्ष की दलील 'प्रकरण दोष' या प्रकरण हेत्त्वाभास कहलाती है। कभी-कभी एक दलील दोनो ओर लग सकती है। यह भी प्रकरण हेत्त्वाभास है।

४ 'साध्यसम'

हेतु साध्य की सिद्धि का आधार है, इसे प्रयुक्त करते समय हम फर्ज कर लेते है कि यह आप तो प्रमाणित है। यदि हेतु ऐसा वाक्य हो, जो आप ही प्रमाणित नही, अपितु साध्य की तरह सिद्धि का मुहताज है, तो हेतु की स्थिति मे इसका कुछ मूल्य नही। ऐसे हेतु के प्रयोग से जो अनुमान होता है, वह दूषित होता है और साध्यसम हेत्त्वाभास कहलाता है।

प्रयोजनवादी कहता है—'ससार में प्रयोजन विद्यमान है, क्योंकि इतिहास निरन्तर प्रगति का सूचक है।'

इस दलील की बाबत कह सकते है कि प्रयोजन तो विद्यमान होगा, परन्तु जिस हेतु से इसे प्रमाणित किया गया है, वह आप प्रमाण की माग करती है। इतिहास मानव की उन्नति को, या उसकी अवनति को प्रकट करता है, या अनिश्चित गति है—यह बात तो असदिग्ध नही।

अनुमान ज्ञात से अज्ञात की ओर चलना है। साध्यसम हेत्त्वाभास मे हम अज्ञात से अज्ञात की ओर जाना चाहते है। यह क्रिया दूषित अनुमान है।

५ 'कालातीत'

'निगमन' न्याय में हमारा काम यही देखना होता है कि अनुमान मे कोई आन्तरिक विरोध नही, ऐसी दलील में काल का कोई महत्त्व नही। आगमन न्याय मे कारण-कार्य सम्बन्ध परीक्षा का विषय होता है। इस सम्बन्ध मे काल असगत नही। आगमन का मौलिक नियम—कुदरत की एकरूपता—कहता है कि यदि क एक बार ख का कारण है, तो वह समान स्थिति मे सदा उसका कारण होगा। 'समानस्थिति मे', परन्तु स्थिति तो काल की गति के साथ बदलती जाती है। जो अनुमान इस परिवर्तन की उपेक्षा करता है और हेतु का प्रयोग अयुक्त समय पर करता है, वह दूषित है। ऐसे दूषित अनुमान को 'कालातीत' कहते हैं—उस हेतु के प्रयोग का समय बीत चुका

है। जो हेतु वालकपन में व्यवहार को निश्चित कर सकता था, वह यौवन के व्यवहार पर लागू नही हो सकता, जो यौवन के व्यवहार पर लागू होता था, वह वुढापे के व्यवहार पर लागू नही होता। काल की गति की परवाह न करना कालातीत हेत्वाभास को जन्म देता है।

तर्काभास और हेत्वाभास पर्यायवाची शब्द हैं। सूत्र में हेत्वाभास का प्रयोग किया है। इससे यह जताना अभिप्रेत है कि पाँचो दूपित युक्तियो में हेतु की कोई त्रुटि विद्यमान होती है। इस दृष्टिकोण से फिर पाँचो हेत्वाभासो को देखे।

'सव्यभिचार' में हेतु साध्य को सिद्ध करने में अपर्याप्त है, इसमे हम उस सीमा से परे चले जाते हैं, जहाँ तक जाने का हमें अधिकार है। 'विरुद्ध' में हेतु साध्य को स्थापित नही करता, उलटा उसका खडन करता है।

'प्रकरणसम' में हेतु दोनो ओर लग सकता है, इसलिए साध्य की सिद्धि में उसकी कोई कीमत नही।'

'साध्यसम' में हेतु आप ही सदिग्ध है, यह ऐसे साक्षी की तरह है, जिसे पहले सावित करना है कि वह विश्वास का पात्र है।

'कालातीत' में इस हेतु के प्रयोग का समय वीत चुका है, स्थिति-परिवर्तन ने इसे वेकार वना दिया है।

अनुमान के यह दोप हेतु के दोष हैं। वाद में हेतु एक अश होता है, दृष्टान्त आदि अन्य अवयव भी होते हैं। इनके दोपो से भी दलील में दोष आ जाता है। पाँचवें अध्याय में 'जाति' और 'निग्रहस्थान' दो दोपो के विविध रूप लवी सूचियो में वयान किये गये हैं। इन्हें आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है। तर्काभास के प्रमुख आकार वही हैं, जिनका ऊपर वर्णन किया गया है।

वैशेषिक दर्शन

१. दर्शन का विषय

'वैशेषिक दर्शन' कणाद मुनि का दार्शनिक सिद्धान्त है। इसमे दस अध्याय है और प्रत्येक अध्याय के दो भाग है।

इस दर्शन मे विशेषो की बाबत दार्शनिक विवेचन किया गया है। 'विशेष' का अर्थ क्या है?

कोई वस्तु जो अन्य वस्तुओ से पृथक् हो, जिसका अपना विशिष्टत्व हो, विशेष कहलाती है। जिस 'कुर्सी' पर मैं बैठा हूँ, वह विशेष है, मैं आप भी विशेष हूँ। पिछली मनुष्य-गणना के फलस्वरूप घोषणा की गयी कि भारत में ३६ करोड से कुछ अधिक मनुष्य हैं। उनमें से हर एक दूसरो से अलग है। किसी मनुष्य की बाबत सन्देह नही हो सकता कि वह एक है, या अनेक है, न ही किन्ही दो मनुष्यो की बाबत सन्देह हो सकता है कि वह दो हैं, या एक ही मनुष्य के दो भाग है। प्रत्येक का एकत्व असन्दिग्ध है, प्रत्येक दूसरो से अलग, भिन्न है। यह विशेषत्व का तत्त्व है।

विशेष तो अगणित है। मनुष्यो के अतिरिक्त भारत में पशु-पक्षी, कीट-पतग, वृक्ष भी है। ऊपर आकाश में असख्य तारे भी दिखाई देते हैं। ज्ञान की कोई शाखा सभी विशेषो का अध्ययन कैसे कर सकती है? इसके अतिरिक्त दर्शन का तो विषय हीऐसे अध्ययन से भिन्न है। एक साधारण मनुष्य को जाते-जाते एक भूषण मिलता है। वह जानना चाहता है कि यह सोना है या पीतल है। उसकी परीक्षा एक विशेष पदार्थ की परीक्षा है। जब वैज्ञानिक प्रयोगशाला में सोने की परीक्षा करता है तो उसकी मेज पर सोने का विशेष टुकडा होता है, परन्तु उसके परीक्षण का उद्देश्य ऐसे गुणो का जानना होता है जो सोने के प्रत्येक टुकडे में पाये जाते है। जिस परीक्षण का फल ऐसा सामान्य ज्ञान नही होता, उसका मूल्य बहुत कम होता है। चित्रकार का काम कैमरा के काम से भिन्न होता है। कैमरा की सहायता से हम किसी विशेष वस्तु की फोटो लेते है, यह फोटो उस विशेष वस्तु की ठीक नकल होती है। चित्रकार घोडे का चित्र खीचता है, तो वह इस या उस घोडे को नही, अपितु 'घोडे' को हमारे सम्मुख रखता है। वह विशेष में सामान्य को देखता और दिखाता है। दार्शनिक

चित्रकार से भी एक पग आगे जाता है, वह विशेषो से दृष्टि हटाकर सामान्य को ही देखता है। राम, गोपाल, कृष्ण नही, अपितु, मनुष्य इसके अध्ययन का विषय बनता है। सारे मनुष्य मनुष्य-जाति के अन्तर्गत आते हैं, परन्तु यह जाति भी सजीव प्राणियो की एक उपजाति है, और सजीव प्राणी आप प्राणियो मे एक भाग हैं। क्या हम इस तरह ऊपर जाते ऐसी जातियो तक पहुँच सकते हैं, जो किसी अन्य जाति की उपजातियाँ नही? यदि ऐसी जातियाँ हैं, तो वे परतम जातियाँ हैं। यह विशेषता उन्हें अन्य जातियो से अलग करती है, यह उनका अपूर्व विशेषण है। ऐसी जातियो को हम, उनकी इस विशेषता के कारण, विशेष अर्थो में 'विशेष' कह सकते हैं। वैशेषिक दर्शन ऐसे विशेषो का ही विवरण है। अग्रेजी में परतमजाति के लिए 'कैटेगोरी' शब्द का प्रयोग होता है। वैशपिक दर्शन परतम जातियो या उच्चतम श्रेणियो की परीक्षा है। वैशेपिक दर्शन मे इनके लिए 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग हुआ है।

२. न्याय और वैशेषिक

न्याय और वैशपिक एक दूसरे के बहुत निकट हैं।' न्याय दर्शन के पहले सूत्र में कहा है कि १६ विचार-विपयो के तत्त्व-ज्ञान से नि श्रेयस की प्राप्ति होती है। भाप्यकार प्राय इनके लिए पदार्थ शब्द का प्रयोग करते है, परन्तु सूत्र में इस शब्द का या किसी अन्य शब्द का प्रयोग नही हुआ, केवल इतना कहा है—'इन १६ के तत्त्व-ज्ञान से।' यह तो स्पप्ट ही है कि न्याय के विचार-विपयो और वैशेपिक के पदार्थो में भेद है। न्याय के विचार-विपयों में प्रथम स्थान 'प्रमाण' को दिया है, वैशेपिक के पदार्थो मे इसके लिए स्थान नही।

न्याय में लक्ष्य नि श्रेयस या परमगति की प्राप्ति है। वैशपिक में भी लक्ष्य यही है। दोनो में लक्ष्य की प्राप्ति का साधन तत्त्व-ज्ञान है, यद्यपि, जैसा ऊपर कह चुके हैं, तत्त्व-ज्ञान का विपय दोनो में एक ही नही। न्याय तुरत तत्त्व-ज्ञान के विपयो की गणना करता है और विवेचन आरभ कर देता है। वैशेपिक में पदार्थो की गणना चौथे सूत्र में की है। पहले तीन सूत्र सूत्रकार के दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हैं। सूत्र ये है—

(१) 'अव धर्म का व्याख्यान होता है।'
(२) 'धर्म वह है जिससे अभ्युदय और नि श्रेयस की प्राप्ति होती है।
(३) 'धर्म का प्रतिपादक होने के कारण वेद प्रमाण है।'

चौथे सूत्र में कहा है कि धर्म विशेष से प्रसूत छ पदार्थों के तत्त्व-ज्ञान से नि-श्रेयस की प्राप्ति होती है।

दोनों दर्शनों में दृष्टिकोण का भेद यह है कि वैशेषिक के अनुसार धार्मिक वृत्ति तत्त्व-ज्ञान की प्रेरणा करती है। इस वृत्ति का महत्त्व इतना है कि कणाद ने पहले सूत्र में धर्म की व्याख्या को ही अपना ध्येय बताया है। प्रथम तीन सूत्रों के बाद, सूत्रकार तत्त्व-ज्ञान में लग जाता है और फिर छठे अध्याय में धर्म की बाबत कुछ कहता है।

३ परतम जातियाँ या 'पदार्थ'

सूत्र १ १ ४ में कहा है कि छ पदार्थ जिनके साधर्म्य और वैधर्म्य के तत्त्व-ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, निम्न है—

'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय।'

पश्चिम में भी परतम जातियो के सबन्ध में आरभ से विचार होता रहा है। हम यहा चार विचारको के विचारो की ओर सकेत करेंगे—प्लेटो, अरस्तू, स्पिनोजा और काट।

प्लेटो के सम्मुख प्रश्न वही था जो कणाद के सम्मुख था। वह भी जानना चाहता था कि समग्र सत्ता को देखें, तो उसमें मौलिक पक्ष क्या दीखते है। उसके अनुसार यह पक्ष पाँच है—

'द्रव्य, अनन्यत्व, विभिन्नता, गति, अगति।'

द्रव्य का प्रत्यय मौलिक प्रत्यय है। कुछ विचारक एक द्रव्य का जिक्र करते ह, कुछ एक से अधिक द्रव्यो का। दूसरे विचार के अनुसार कुर्सी, मेज, गौ, घोडा आदि सभी द्रव्य है। जब हम किसी द्रव्य का जिक्र करते है, तो हमारे मन में प्रमुख ख्याल यह होता है कि उस वस्तु का अपनापन है—'प्रत्येक वस्तु वही है, जो वह है और कोई अन्य वस्तु नही।' इसे ही प्लेटो ने 'अनन्यत्व' कहा है। द्रव्य के प्रत्येक में ही यह निहित है कि इसकी कोई निश्चित प्रकृति है। एक से अधिक द्रव्य हो तो उनमें प्रत्येक की अपनी प्रकृति होती है, अन्य शब्दो में, उनमें कुछ भेद होता है। जिन दो वस्तुओ में पूर्ण समानता हो, उन्हें दो कहने का कोई अर्थ ही नही। अनन्यता और विभिन्नता गुण-अभेद और गुण-भेद ही है। गति को प्राचीन यूनानी परिवर्तन के अर्थ में लेते थे, सीमित अर्थों में यह स्थान-परिवर्तन है। प्राचीन काल मे कुछ लोग कहते थे कि सत्ता परिवर्तन-विहीन है, इसके विरुद्ध दूसरा दल कहता था कि सत्ता मे परि-वर्तन के अतिरिक्त कुछ है ही नही। प्लेटो ने गति और अगति दोनो को स्वीकार

क्रिया है। गति क्रिया का रूप है। इस ख्याल से प्लेटो की दो अन्तिम परतम-जातिया क्रिया और इसका अभाव ही हैं।

इस तरह प्लेटो की पाँच परतम-जातियाँ वैशेषिक के पहले तीन पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म) के वहुत निकट आ जाती है। आगे चलकर हम देखेंगे कि प्लेटो की सूची में वैशेषिक की अन्तिम तीन जातियो की उपेक्षा क्यो की गयी है।

अरस्तू न भी द्रव्य को अपनी सूची में प्रथम स्थान दिया, परन्तु उसका दृष्टिकोण प्लेटो के दृष्टिकोण से भिन्न था। प्लेटो सत्ता के स्वरूप को देखना चाहता था, उसका दृष्टिकोण तात्त्विक था। अरस्तू ने द्रव्य को निर्णय या वाक्य के उद्देश्य के रूप मे देखा, उसका दृष्टिकोण नैयायिक का दृष्टिकोण था। उसने देखना चाहा कि हम किसी द्रव्य की वावत क्या कह सकते है। जो कुछ कह सकते हैं, वह द्रव्य के गुणो के अन्तर्गत आ जाता है। इस तरह, कुछ लोगो के विचारानुसार, अरस्तू वास्तव में द्रव्य और गुण को ही परतम जातियाँ मानता था। उसकी अपनी सूची में दस निम्न-जातियो का वर्णन है—

'द्रव्य, गुण, मात्रा, सम्वन्ध, क्रिया, आक्रान्ता, देश, काल, स्वामित्व, स्थिति।'

अरस्तू का आशय स्पष्ट करने के लिए, हम एक उदाहरण लेते हैं। हम रामलाल की वावत क्या कह सकत हैं?

वह पढा लिखा (गुण), लवे कद का है (मात्रा), श्रीकृष्ण का भाई है (सम्वन्ध), पुस्तक पढ रहा है (क्रिया), भिड से कट रहा है (आक्रान्तता), वरामदे में अभी आया है (देश और काल), हाथ में छडी लिये है (स्वामित्व), और आराम कुर्सी पर लेटा है (स्थिति)।

तात्त्विक दृष्टिकोण से इस सूची का कोई महत्त्व नही, तो भी इतना तो स्पष्ट है कि इसमें भी द्रव्य, गुण और क्रिया सम्मिलित हैं।

नवीन काल में स्पिनोज़ा ने द्रव्य के प्रत्यय को अपने विवेचन में केन्द्रीय प्रत्यय वनाया। उसने कहा कि सारी सत्ता एक द्रव्य ही है। उसमे अनन्त गुण है, परन्तु हम अपनी सीमाओ के कारण केवल दो गुणो से परिचित हैं—चिन्तन और विस्तार। यह दोनो गुण असख्य आकृतियो में प्रकट होते हैं। चिन्तन की आकृति को आत्मा और विस्तार की आकृति को प्राकृत पदार्थ कहते हैं। इस तरह, स्पिनोज़ा ने कारण-द्रव्य और कार्य-द्रव्य के भेद को मिटा दिया और दृष्ट पदार्थो और जीवात्माओ को द्रव्यत्व से वचित कर दिया। स्पिनोज़ा ने चिन्तन को भी विस्तार के साथ गुण का पद दिया, परन्तु चिन्तन एक प्रकार की क्रिया है। इस तथ्य को ध्यान में रखें तो कह सकते हैं कि स्पिनोज़ा ने भी सत् में वैशेषिक के तीन प्रथम पदार्थों को ही देखा।

(२) अप्राकृत-अचेतन काल, देश,
(३) चेतन आत्मा, मन।
इन्हें अलग-अलग इसी क्रम में लें।

१ प्राकृत द्रव्य

यही सूची अन्य दर्शनो मे भी मान्य है। यह साख्य के पांच महाभूत हैं। इनका भेद भी गुणो के भेद पर आश्रित है। यहां एक प्रश्न उठ खडा होता है 'क्या एक द्रव्य मे एक से अधिक मौलिक गुण हो सकते हैं? इसके साथ जुडा हुआ दूसरा प्रश्न यह है—'क्या एक से अधिक द्रव्यो में एक ही सर्व सामान्य गुण हो सकता है?'

प्रतीत तो ऐसा होता है कि प्रत्येक द्रव्य मे एक ही मौलिक गुण होना चाहिए और प्रत्येक मौलिक गुण एक ही द्रव्य का तत्त्व होना चाहिए। कई विचारको का यही मत है। स्पिनोज़ा कहता है कि यदि दो वस्तुओ मे गुण-भेद न हो, तो उनमें द्विवाभाव आ ही नही सकता। वैशेषिक का मत भी यही है। उपर्युक्त पांचो द्रव्यो में अपना मौलिक गुण एक-एक ही है, जहां एक से अधिक गुण एक साथ दिखाई देते हैं, वहा द्रव्य एक दूसरे से सयुक्त होते हैं। पांच द्रव्यो के गुण ये हैं—

आकाश का अपना गुण शब्द है। इसमे किसी अन्य द्रव्य का गुण नही होता।

वायु का अपना गुण स्पर्श है, परन्तु तेज और जल के योग से उष्णता और शीतता भी इसमें पाये जाते हैं।

तेज का स्वाभाविक गुण रूप है, परन्तु वायु के योग से स्पर्श भी इसमें विद्यमान हो जाता है।

जल का स्वाभाविक गुण शीतता है, अन्य द्रव्यो के योग से रूप, रस और स्पर्श भी इसमें प्रकट हो जाते हैं।

पृथिवी में गन्ध अपना गुण है, इसमे रूप, रस और स्पर्श अग्नि, जल और वायु के योग से हैं।

इस बयान में यह बात ध्यान के योग्य है कि आकाश न किसी अन्य द्रव्य से उसका गुण लेता है, न किसी को अपना गुण देता है।

यह बात कि प्रत्येक महाभूत का एक ही मौलिक गुण या तत्त्व होता है, एक सिद्धान्त है। कुछ पश्चिमी विचारक भी इसे स्वीकार करते हैं, और हम इसे समझ सकते हैं। इस सिद्धान्त की स्वीकृति के बाद प्रश्न उठता है कि विविध भूतो की हालत में यह मौलिक गुण क्या है? यह सिद्धान्त का प्रश्न नही, इसमें तथ्य प्रधान है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द से हम सब वाकिफ हैं, पांच भूतो की बाबत भी कुछ

जानते हैं। प्रश्न किसी द्रव्य और उसके स्वाभाविक गुण का है, और यह जटिल प्रश्न है।

आकाश का स्वाभाविक गुण शब्द है। इसका अर्थ यह है कि जब कोई शब्द उत्पन्न होता है, तो वह सारे जगत् में फैल जाता है। यह धारणा एक रहस्य थी। १९२० के करीब इटली के निवासी मारकोनी ने कहा कि शब्द भी प्रकाश की तरह १,८६००० मील प्रति सेकेन्ड के वेग से आकाश में चलता है। अब रेडियो पर हम पृथिवी के हर एक भाग से १/१५ सेकेन्ड में शब्द सुन सकते हैं। मारकोनी के काम ने इस कथन को स्पष्ट कर दिया है कि शब्द आकाश का गुण है।

अग्नि या प्रकाश वस्तुओ के रूप को दर्शाता है।

जल का गुण रस है। इसका अर्थ क्या है? शरीर विज्ञान बताता है कि किसी वस्तु का रस अनुभूत होने से पहले आवश्यक है कि वह वस्तु जिह्वा के जल में तरल हो जाय। जो पदार्थ तरल नही हो सकता, जल-रूप नही बन जाता, उसके रस का ज्ञान हमें हो नहीं सकता।

गन्ध मे, सुगन्धित वस्तु के परमाणु, उससे अलग होकर हमारे नासिका-छेद में पहुँचते हैं और वहाँ घ्राण-इन्द्रिय को उत्तेजित करते हैं। यह परमाणु ठोस अवस्था में ही अपना काम कर सकते हैं। शायद इसी ख्याल से गन्ध को पृथिवी के साथ सम्बद्ध किया है।

वायु को हम देखते नही, सुनते नही, सूँघते नही, चखते नही, इसका बोध स्पर्श से होता है।

२. काल और देश (दिक्, दिशा)

काल और देश में गहरा सम्बन्ध है। हमारे लिए एक घटा वह समय है जिसमें घडी की सुई एक निश्चित अन्तर तै कर लेती है। वर्ष वह समय है जिसमें पृथिवी सूर्य के गिर्द एक चक्कर काटती है।

इसी तरह दो स्थानो के अन्तर की बाबत भी हम कहते है—

'यह दो घटो का अन्तर है।' अब तो आइनस्टाइन ने कह दिया है कि देश और काल के स्थान में हमें देश-काल की बाबत ही कहना चाहिए।

देश और काल मे कुछ भेद स्पष्ट दिखाई देते हैं। देश (अवकाश, स्पेस) में हम तीन दिशाएँ देखते हैं—आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे। सारी गति अवकाश में होती है, परन्तु स्वय देश के किसी भाग का स्थान-परिवर्तन नही होता, इसके सारे भाग एक साथ रहते हैं। काल की स्थिति इसके विपरीत है। काल निरन्तर गति या

(२) अप्राकृत-अचेतन काल, देश,
(३) चेतन आत्मा, मन।
इन्हें अलग-अलग इसी क्रम मे लें।

१. प्राकृत द्रव्य

यही सूची अन्य दर्शनो मे भी मान्य है। यह सास्य के पांच महाभूत है। इनका भेद भी गुणो के भेद पर आश्रित है। यहां एक प्रश्न उठ खडा होता है 'क्या एक द्रव्य मे एक से अधिक मौलिक गुण हो सकते है?' इसके साथ जुडा हुआ दूसरा प्रश्न यह है—'क्या एक से अधिक द्रव्यो में एक ही सर्व सामान्य गुण हो सकता है?'

प्रतीत तो ऐसा होता है कि प्रत्येक द्रव्य मे एक ही मौलिक गुण होना चाहिए और प्रत्येक मौलिक गुण एक ही द्रव्य का तत्त्व होना चाहिए। कई विचारकों का यही मत है। स्पिनोज़ा कहता है कि यदि दो वस्तुओ में गुण-भेद न हो, तो उनमे द्विवाभाव आ ही नही सकता। वैशेषिक का मत भी यही है। उपर्युक्त पांचो द्रव्यो में अपना मौलिक गुण एक-एक ही है, जहां एक मे अधिक गुण एक साथ दिखाई देते हैं, वहा द्रव्य एक दूसरे से सयुक्त होते हैं। पाँच द्रव्यो के गुण ये हैं—

आकाश का अपना गुण शब्द है। इसमे किसी अन्य द्रव्य का गुण नही होता।

वायु का अपना गुण स्पर्श है, परन्तु तेज और जल के योग से उष्णता और शीतता भी इसमें पाये जाते हैं।

तेज का स्वाभाविक गुण रूप है, परन्तु वायु के योग से स्पर्श भी इसमें विद्यमान हो जाता है।

जल का स्वाभाविक गुण शीतता है, अन्य द्रव्यो के योग से रूप, रस और स्पर्श भी इसमें प्रकट हो जाते हैं।

पृथिवी में गन्ध अपना गुण है, इसमे रूप, रस और स्पर्श अग्नि, जल और वायु के योग से हैं।

इस वयान में यह बात ध्यान के योग्य है कि आकाश न किसी अन्य द्रव्य से उसका गुण लेता है, न किसी को अपना गुण देता है।

यह बात कि प्रत्येक महाभूत का एक ही मौलिक गुण या तत्त्व होता है, एक सिद्धान्त है। कुछ पश्चिमी विचारक भी इसे स्वीकार करते हैं, और हम इसे समझ सकते हैं। इस सिद्धान्त की स्वीकृति के बाद प्रश्न उठता है कि विविध भूतो की हालत मे यह मौलिक गुण क्या है? यह सिद्धान्त का प्रश्न नही, इसमें तथ्य प्रधान है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द से हम सब वाकिफ हैं, पांच भूतो की बाबत भी कुछ

जानते है। प्रश्न किसी द्रव्य और उसके स्वाभाविक गुण का है, और यह जटिल प्रश्न है।

आकाश का स्वाभाविक गुण शब्द है। इसका अर्थ यह है कि जब कोई शब्द उत्पन्न होता है, तो वह सारे जगत् में फैल जाता है। यह धारणा एक रहस्य थी। १९२० के करीब इटली के निवासी मारकोनी ने कहा कि शब्द भी प्रकाश की तरह १,८६००० मील प्रति सेकेन्ड के वेग से आकाश में चलता है। अब रेडियो पर हम पृथिवी के हर एक भाग से १/१५ सेकेन्ड में शब्द सुन सकते है। मारकोनी के काम ने इस कथन को स्पष्ट कर दिया है कि शब्द आकाश का गुण है।

अग्नि या प्रकाश वस्तुओ के रूप को दर्शाता है।

जल का गुण रस है। इसका अर्थ क्या है? शरीर विज्ञान बताता है कि किसी वस्तु का रस अनुभूत होने से पहले आवश्यक है कि वह वस्तु जिह्वा के जल में तरल हो जाय। जो पदार्थ तरल नही हो सकता, जल-रूप नही बन जाता, उसके रस का ज्ञान हमें हो नही सकता।

गन्ध में, सुगन्धित वस्तु के परमाणु, उससे अलग होकर हमारे नासिका-छेद में पहुँचते है और वहाँ घ्राण-इन्द्रिय को उत्तेजित करते हैं। यह परमाणु ठोस अवस्था में ही अपना काम कर सकते हैं। शायद इसी ख्याल से गन्ध को पृथिवी के साथ सम्बद्ध किया है।

वायु को हम देखते नही, सुनते नही, सूँघते नही, चखते नही, इसका बोध स्पर्श से होता है।

२. काल और देश (दिक्, दिशा)

काल और देश में गहरा सम्बन्ध है। हमारे लिए एक घटा वह समय है जिसमें घडी की सुई एक निश्चित अन्तर तै कर लेती है। वर्ष वह समय है जिसमें पृथिवी सूर्य के गिर्द एक चक्कर काटती है।

इसी तरह दो स्थानो के अन्तर की बाबत भी हम कहते हैं—

'यह दो घटो का अन्तर है।' अब तो आइनस्टाइन ने कह दिया है कि देश और काल के स्थान में हमें देश-काल की बाबत ही कहना चाहिए।

देश और काल में कुछ भेद स्पष्ट दिखाई देते है। देश (अवकाश, स्पेस) मे हम तीन दिशाएँ देखते हैं—आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे। सारी गति अवकाश में होती है, परन्तु स्वय देश के किसी भाग का स्थान-परिवर्तन नही होता, इसके सारे भाग एक साथ रहते हैं। काल की स्थिति इसके विपरीत है। काल निरन्तर गति या

परिवर्तन का नमूना है। यह गति एक दिशा मे ही होती है—भूत मे वर्तमान, वर्तमान से भविष्य। काल के कोई दो क्षण भी एक साथ विद्यमान नही होते, वर्तमान का विस्तार एक क्षण से अधिक नही।

वर्तमान का ज्ञान तो असदिग्ध है। अभी जब कि मै लिख रहा हूँ, अगणित अन्य घटनाएँ भी हो रही है, इनके घटने का काल एक है। वर्तमान क्षण के पहले जो काल वीत चुका है, वह सब भूत है। बीती हुई घटनाओ का स्मरण भी होता है। इस भूत मे हम घटनाओ को दूर और निकट रखते है, जो कुछ कल हुआ था, वह १० दिन पहले की घटनाओ की अपेक्षा वर्तमान से निकट है। काल की गति एक वेग मे होती है, परन्तु देश के साथ मिलकर काल अन्य पदार्थो की गति के सम्बन्ध मे शीघ्रता और विलम्ब का ज्ञान देता है। जितने काल में घटे की सुई कुछ अन्तर तै करती है, उतने काल में मिनट की सुई १२ गुना अन्तर तै कर लेती है, हम कहते है कि एक सुई तेज चलती है, दूसरी धीमी चलती है। सूत्र २ २ ६ मे कहा है कि घटनाओ का एक साथ घटना, उनका वर्तमान मे निकट या दूर होना और गति का तेज़ या आहिस्ता होना काल के लिंग है।

देश और काल के सम्बन्ध मे वस्तुवाद और अध्यात्मवाद का विवाद प्रसिद्ध है। साधारण मनुष्य समझता है कि वह देश और काल मे विचरता है, वह न था तब भी ये विद्यमान थे, जब वह न रहेगा, तो भी विद्यमान होगे। यही वस्तुवाद का मत है। इसके विपरीत, अध्यात्मवाद कहता है कि देश और काल मेरे बाहर नहीं, मेरे अन्दर हैं। काट के अनुसार रूप, रस आदि उपलब्धो को हम अपनी मानसिक बनावट के कारण देश और काल में देखते हैं, हम उपलब्धो को इन दो साचो में से गुजारकर इन्हें वस्तुओ का ज्ञान बनाते हैं। देश और काल मानवी आकृतिया हैं, बाह्य जगत् के अश नही। वैशेषिक दर्शन में इन दोनो को द्रव्यो में गिनकर, इनके वस्तुगत अस्तित्व को स्वीकार किया है।

काल के सम्बन्ध मे सूत्र २ १ ९ में कहा है कि यह प्रत्यय प्रकटनो के जगत् मे प्रयुक्त होता है, क्योकि प्रकटन ही एक दूसरे के पीछे प्रकट होते हैं, उनमें ही कारण-कार्य सम्बन्ध होता है। नित्य सत्ता के सम्बन्ध मे काल सज्ञा नही होती, क्योकि वह परिवर्तन से परे है। नवीन विचारको में भी यही विचार मान्य है।

सूत्र २ २ १० मे कहा है कि यह-वह, यहाँ-वहाँ का भेद दिशा या देश का लिंग है। दिशा की वावत हम सूर्य की स्थिति से निश्चय करते हैं। जिस ओर से सूर्य उदय होता है, वह पूर्व दिशा है, जिधर अस्त होता है, वह पश्चिम है। उदय-समय सूर्य को देखें, तो दायें और वायें की दिशाएं दक्षिण और उत्तर हैं।

३. आत्मा और मन

तीसरे अध्याय में आत्मा और मन को विवेचन का विपय बनाया है।

वाह्य पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियो और अर्थ के सम्पर्क मे होता है। इन्द्रियो का ज्ञान कैसे होता है?

इन्द्रियो को विशेप शक्तियो या योग्यताओ के अर्थ में लें, तो उनका ज्ञान उनके प्रयोग से होता है। मुझमें देखने की शक्ति है, क्योकि मै देखता हूँ, सुनने की शक्ति है, क्योकि सुनता हूँ। इस वात में क्या प्रमाण है कि मै देखता और सुनता हूँ? मेरे पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नही, क्योकि ऐसे ज्ञान से अधिक विश्वसनीय कोई अन्य कसौटी है ही नही, जिससे प्रत्यक्ष ज्ञान की जाँच हो सके। इन्द्रियो को शरीरागो के अर्थ में ले, तो भी इनका अस्तित्व स्वय इन्द्रियो से ही प्रमाणित हो सकता है। मै आँख, कान आदि को छूता हूँ, शरीर का एक भाग दूसरे भाग को स्पर्श का विपय वनाता है। इन्द्रियो के विपय या अर्थ की वावत दार्शनिको में मतभेद है, कुछ उसे भी असदिग्ध मानते हैं, कुछ उपलब्धो से उसका अनुमान करते हैं, और यह मानने पर तैयार हैं कि यह अनुमान अयथार्थ हो सकता है। वैशेपिक के अनुसार, 'इन्द्रिय और अर्थ दोनो ही प्रसिद्ध हैं।' (३ १ १) जो कुछ पहले ही प्रसिद्ध हो, उसकी सिद्धि का यत्न न आवश्यक है और न सफल ही हो सकता है।

आत्मा समस्त ज्ञान का आश्रय है। इन्द्रियजन्य ज्ञान इन्द्रिय और विपय के सम्पर्क का फल है, परन्तु इस सम्पर्क से पहले मन और इन्द्रिय का सम्पर्क होना आवश्यक है। मन आप एक कारण है और आत्मा की प्रेरणा पर काम करता है। सूत्र ३ १ २ में कहा है कि 'इन्द्रिय और अर्थ की प्रसिद्धि इनसे अन्य पदार्थ (आत्मा) की प्रसिद्धि में हेतु है।' सावारण शब्दो में, ज्ञान ज्ञाता की सिद्धि में लिंग है, आत्मा ज्ञान का आधार है।

परन्तु हमारा सारा ज्ञान इन्द्रिय-जन्य ज्ञान नही। जव हम अपना ध्यान अन्दर की ओर फेरते हैं, तो हमें एक नयी दुनिया दीखती है। सूत्र ३ १ १९ में कहा है कि इन्द्रियो के प्रयोग से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह आत्मा के स्वरूपभूत ज्ञान से भिन्न है। अहम्-भाव, 'मै' का ख्याल केवल आत्मा के लिए ही सभव है। यह वात विवाद का विपय है कि यह भाव आत्मा का प्रसिद्ध (साक्षात्) ज्ञान है, या इन्द्रिय-जन्य ज्ञान की भाति लिंग का पद ही रखता है। सूत्रकार का मत ऐसा प्रतीत होता है कि अहम्-भाव भी दूसरे ज्ञान की तरह आत्मा के अस्तित्व में एक हेतु है।

यह दो आत्मा की सिद्धि में दो प्रमुख लिंग है। सूत्र ३ २ ४ में लिंगो की सूची दी है—

'प्राण, अपान, आँख बन्द करना और खोलना, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर विकार, सुख, दुख, इच्छा, प्रयत्न आदि आत्मा के लिंग हैं।'

न्यायदर्शन मे आत्मा के छ लिंगो का वर्णन है—इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, प्रयत्न, ज्ञान। वैशेषिक में ज्ञान का वर्णन तो अलग हो चुका है, क्योंकि उसका महत्त्व अन्य लिंगो से अधिक है। अन्त में 'आदि' शब्द से हम इच्छा के साथ द्वेष को भी ले सकते हैं। इस तरह वैशेषिक में न्याय के छ लिंगो को स्वीकार किया है, परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ अन्य लिंगो का वर्णन भी किया है। न्याय के लिंगो का ज्ञान स्वय ज्ञाता को होता है, किसी दूसरे को नही होता। मै अपनी इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, प्रयत्न, ज्ञान की बाबत स्पष्ट जानता हूँ, परन्तु मेरा अनुभव अन्य पुरुषो के लिए ऐसे ज्ञान का विषय नही होता। हम अन्य आत्माओ के अस्तित्व मे भी विश्वास करते हैं, सारा सामाजिक व्यवहार इस विश्वास पर ही आधारित है। इस विश्वास की नीव ऐसी प्रक्रियाओ पर होती है, जो अन्य आत्माओ के लिए अदृष्ट नही होती। इन प्रक्रियाओ को वैशेषिक ने तीन श्रेणियो में विभक्त किया है—

जीवन-सम्बन्धी—प्राण, अपान, जीवन,

शरीर-क्रिया सम्बन्धी—आँख बन्द करना, आँख खोलना,

शरीर-मन सम्बन्धी—मनोगति, इन्द्रियान्तर विकार (कान्डीशड रीफ्लैक्स)।

प्रत्येक श्रेणी में नमूने के तौर पर कुछ प्रक्रियाओ का वर्णन किया है। इन प्रक्रियाओ को देखकर हम निश्चय करते है कि अन्य मनुष्यो के शरीरो में भी आत्मा विद्यमान है।

इस सम्बन्ध मे दो और प्रश्न उठ खडे होते हैं—

क्या प्रत्येक शरीर में एक ही आत्मा है?

क्या सभी शरीरो में एक ही आत्मा नियन्ता नही?

इन दोनो पर भी वैशेषिक ने विचार किया है।

कुछ अध्यात्मवादी कहते हैं कि विश्व में चेतना व्यापक है, परन्तु इसकी तीव्रता हर कही समान नही, यह कही अधिक होती है, कही कम। जिन क्षेत्रो में यह चेतना विशेष तीव्रता ग्रहण कर लेती है, उन्हें हम जीवात्मा का नाम देते है। आत्मा की स्थिति नित्य, पृथक् द्रव्य की नही, केवल चेतना-क्षेत्र में विशेष तीव्रता की है। वैशेषिक इस विचार को स्वीकार नही करता, इसके अनुसार आत्मा नित्य द्रव्य है।

प्रत्येक शरीर में एक ही आत्मा प्रेरक है, क्योकि प्रत्येक शरीर में सुख-दुख आदि अनुभव एक ही अनुभवी के अनुभव दीखते हैं, किसी जीवन के व्यक्तित्व का अर्थ यही है।

यही नही कि व्यक्ति के अनुभव में एकता है, अपितु यह भी प्रसिद्ध है कि विविध पुरुषो के अनुभव भिन्न-भिन्न होते हैं, एक ही घटना एक मनुष्य को सुखी, दूसरे को दुखी करती है, और तीसरे पर कोई प्रभाव नही डालती। इसी तरह मनुष्यो की प्रवृत्ति और निवृत्ति (इच्छा और द्वेष) मे भी असमानता है। वैशेपिक अनेकवाद का समर्थक है।

अध्याय के अन्तिम सूत्र में कहा है—

'शास्त्र सामर्थ्य से भी जीवो का नानात्व सिद्ध होता है।'

शास्त्र सामर्थ्य से अभिप्राय शब्द प्रमाण का अधिकार है। सूत्रकार ने कोई विशेप उदाहरण नही दिया, परन्तु वेदो और उपनिपदो में अनेक मत्र और श्लोक नानावाद के पक्ष में मिलते हैं।

वैशेपिक में मन को भी एक स्वतन्त्र द्रव्य माना है, परन्तु इसकी स्थिति एक कारण की स्थिति है। यह आत्मा से प्रेरित होकर इन्द्रियो से युक्त होता है। जीवात्मा का स्वाभाविक गुण अविशेप चेतना है, मन किसी विशेप के ज्ञान का कारण है। मन का विशेपण यह है कि यह चेतना को एक-विन्दु वनाता है। इन्द्रियो पर अनेक विपयो के आक्रमण एक साथ होते हैं, परन्तु एक साथ हमें अनेक वोव नही होते। सूत्र ३ २ १ में कहा है—

'आत्मा की आज्ञा में, इन्द्रियो के विपयो के साथ सवन्व होने पर भी एक प्रकार का ज्ञान होना और अन्य प्रकार का ज्ञान न होना मन का लिंग है।'

साधारण अवस्था में ऐसा एक-विन्दुत्व दिखाई नही देता, परन्तु कभी-कभी हम ऐसे एक-विन्दुत्व के वहुत निकट पहुँच जाते हैं। जिस अवस्था को हम मन की अनुपस्थिति कहते हैं, वह वास्तव में मानसिक क्रिया को तीव्र रूप में प्रस्तुत करती है।

५. मूल कारण और कार्य जगत्

दृष्ट जगत् में वहुत्व और परिवर्तन प्रसिद्ध है। सूत्र ४ १ १ में कहा है कि जगत् का मूल कारण नित्य और अकारण है, उसके लिए उत्पत्ति और विनाश नही, और वह आप किसी कारण का कार्य नही। कार्य-जगत् कार्य होने से उसका लिंग है। जो लोग कहते हैं कि सारी सत्ता अनित्य है, वे आप ही अपनी धारणा का खडन करते हैं, क्योकि 'अनित्य' का प्रत्यय 'नित्य' की अपेक्षा में ही सार्थक प्रत्यय वन सकता है। जो वस्तु अनित्य है, वह केवल इसलिए अनित्य है कि उसमें नित्य वस्तु के कुछ गुण विद्यमान नही। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुणो का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है,

इसी के साथ इन गुणो की आधार वस्तुओ का प्रत्यक्ष भी होता है। अरूपी द्रव्यो का प्रत्यक्ष नही होता।

हम आँख से किसी विशेष रग को देखते है, त्वचा से जानते है कि मक्खी हमारे माथे पर चल रही है। सूत्र ४ १ १३ में कहा है कि जिस इन्द्रिय से किसी विशेष गुण या कर्म का प्रत्यक्ष होता है, उसी से उस गुण-जाति (रग) और उस कर्म-जाति (शरीर पर किसी पदार्थ की गति) का प्रत्यक्ष भी होता है।

पृथिवी आदि कार्य द्रव्य (दृष्ट जगत्) में तीन प्रमुख भाग है—विषय, शरीर और इन्द्रिय। कार्य जगत् में जो कुछ मेरे शरीर से बाहर है, वह मेरे लिए 'विषय' है। मेरा शरीर भी मेरे लिए विषय ही है, परन्तु मुझे इसका ज्ञान इस शरीर के प्रयोग से ही होता है, मै अपने हाथ को किसी दूसरे की आँख से देख नही सकता, न अपनी आँख को किसी दूसरे के हाथ से छू सकता हूँ। इस तरह प्राकृत जगत् में प्रत्येक के लिए उसके अपने शरीर का विशेष स्थान है। मै अपने शरीर को अन्य वस्तुओ से कैसे अलग करता हूँ?

(१) मै जहाँ कही होता या जाता हूँ, मेरा शरीर मेरे साथ होता या जाता है। प्राकृत जगत् के किसी दूसरे भाग की यह स्थिति नही।

(२) मेरा शरीर मेरे भोग और मेरी क्रिया के साथ विशेष सम्बन्ध रखता है।

(३) असदिग्ध ज्ञान के लिए स्पर्श का विशेष महत्त्व है। जब मै मेज को छूता हूँ तो मुझे सक्रिय स्पर्श का बोध होता है, जब कोई दूसरा मुझे छूता है तो मेरा स्पर्श क्रियाहीन होता है। जब मै अपने आपको छूता हूँ तो मुझे सक्रिय और क्रियाहीन दोनो प्रकार के स्पर्श का बोध एक साथ होता है। प्राकृत जगत् मे मेरा शरीर ही मुझे ऐसा दुहरा स्पर्श-बोध दे सकता है।

बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क में, शरीर की इन्द्रियाँ विशेष महत्त्व रखती हैं। विषयो के साथ शरीर और इन्द्रियो को कार्य-द्रव्य में सम्मिलित करके, वैशेषिक ने जड, जीवित और चेतन के भेद को प्रमुख किया है। प्रकृतिवाद के अनुसार जो कुछ भी दृष्ट जगत् में है, भूतो के सयोग का फल है। वैशेषिक के अनुसार पचभूतो का सयोग ही शरीर का कारण नही, क्योकि शरीर का प्रत्यक्ष होता है, और प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भूतो के सयोग का प्रत्यक्ष नही होता।

जीवित पदार्थो की दो श्रेणियाँ है—योनिज और अयोनिज। पशु-पक्षी योनि से उत्पन्न होते हैं, वृक्ष बीज से पैदा होते हैं। पशुओ और पक्षियो का जन्म भी एक प्रकार से नही होता।

यह व्यवस्था आज दिखाई देती है। आदि सृष्टि में वृक्ष आदि सूक्ष्म तत्त्वो के सयोग से वने, और 'वर्मविशेप के कारण' कुछ मनुष्य अयोनिज पैदा हुए। पूर्व जन्मो के 'धर्मविशेष' ने इन्हें यह विशेप पद दिया था।

६ गुण

१. गुण क्या है ?

सूत्र १ १ १६ में गुण का लक्षण यो किया है—

'जो द्रव्य के आश्रित हो, जो आप गुणरहित हो, जो सयोग और वियोग का उत्पादक कारण न हो, और जो किसी अन्य गुण की अपेक्षा न करे, वह गुण है।'

द्रव्य और गुण सापेक्ष पद हैं। द्रव्य और गुण सदा एक साथ मिलते हैं, इनमें द्रव्य प्रधान और गुण अप्रधान या गौण है। गुण के लक्षण में प्रमुख वात यही है कि यह द्रव्य पर आश्रित है। कोई गुण किसी अन्य गुण का आश्रय नही होता, क्योकि ऐसा होने पर यह द्रव्य वन जायगा, गुण नही रहेगा। हरापन, नीलापन रग के गुण नही, रग के विविध प्रकार हैं, मिठास और कडुआपन रस के गुण नही, इसके आकार हैं। एक ही रग में मात्रा का भेद हो सकता है, दर्दों में तीव्रता का भेद होता है, परन्तु मात्रा और तीव्रता गुण नही।

गुण सयोग-वियोग का कारण नही होता। वाह्य जगत् में जो कुछ होता है, उसे हम सयोग-वियोग के रूप में देख सकते है, हर्वर्ट स्पेन्सर ने इसे प्रकृति और शक्ति के नए विभाजन के रूप में ही देखा था। यह सयोग-वियोग क्रिया का फल है, गुणो का परिणाम नही। किसी वस्तु को द्रव्य कहने में हम इतना ही कहते हैं— 'वह है', उसके गुणो की ओर सकेत करने में कहते है—'वह क्या है?' गुण (विशेपण) अविशेप को विशेष वना देते है।

गुण का चौथा लक्षण सूत्र में यह दिया है कि वह किसी अन्य गुण की अपेक्षा नही करता। गुण द्रव्य पर आश्रित होते हैं, परन्तु वे एक दूसरे पर आश्रित नही होते। गुणो की स्थिति में, वे एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। यदि खाँड में सफेदी न हो तो उसकी मिठास पर कोई प्रभाव नही पडेगा, और उसकी मिठास जाती रहे, तो उसके साथ उसकी सफेदी भी नही चली जायगी। दोनो गुण एक दूसरे की अपेक्षा नही करते।

२. गुणो की सूची

सूत्र १ १ ६ में कहा है—

इसी के साथ इन गुणो की आधार वस्तुओ का प्रत्यक्ष भी होता है। अरूपी द्रव्यो का प्रत्यक्ष नही होता।

हम आँख से किसी विशेप रग को देखते हैं, त्वचा से जानते हैं कि मक्खी हमारे माथे पर चल रही है। सूत्र ४ १ १३ में कहा है कि जिस इन्द्रिय से किसी विशेष गुण या कर्म का प्रत्यक्ष होता है, उसी से उस गुण-जाति (रग) और उस कर्म-जाति (शरीर पर किसी पदार्थ की गति) का प्रत्यक्ष भी होता है।

पृथिवी आदि कार्य द्रव्य (दृष्ट जगत्) में तीन प्रमुख भाग हैं—विपय, शरीर और इन्द्रिय। कार्य जगत् में जो कुछ मेरे शरीर से बाहर है, वह मेरे लिए 'विषय' है। मेरा शरीर भी मेरे लिए विषय ही है, परन्तु मुझे इसका ज्ञान इस शरीर के प्रयोग से ही होता है, मै अपने हाथ को किसी दूसरे की आँख से देख नही सकता, न अपनी आँख को किसी दूसरे के हाथ से छू सकता हूँ। इस तरह प्राकृत जगत् में प्रत्येक के लिए उसके अपने शरीर का विशेष स्थान है। मै अपने शरीर को अन्य वस्तुओ से कैसे अलग करता हूँ?

(१) मै जहाँ कही होता या जाता हूँ, मेरा शरीर मेरे साथ होता या जाता है। प्राकृत जगत् के किसी दूसरे भाग की यह स्थिति नही।

(२) मेरा शरीर मेरे भोग और मेरी क्रिया के साथ विशेप सम्बन्ध रखता है।

(३) असदिग्ध ज्ञान के लिए स्पर्श का विशेष महत्त्व है। जब मै मेज को छूता हूँ तो मुझे सक्रिय स्पर्श का बोध होता है, जब कोई दूसरा मुझे छूता है तो मेरा स्पर्श क्रियाहीन होता है। जब मैं अपने आपको छूता हूँ तो मुझे सक्रिय और क्रियाहीन दोनो प्रकार के स्पर्श का बोध एक साथ होता है। प्राकृत जगत् में मेरा शरीर ही मुझे ऐसा दुहरा स्पर्श-बोध दे सकता है।

बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क मे, शरीर की इन्द्रियाँ विशेप महत्त्व रखती हैं। विपयो के साथ शरीर और इन्द्रियो को कार्य-द्रव्य में सम्मिलित करके, वैशेपिक ने जड, जीवित और चेतन के भेद को प्रमुख किया है। प्रकृतिवाद के अनुसार जो कुछ भी दृप्ट जगत् में है, भूतो के सयोग का फल है। वैशेषिक के अनुसार पचभूतो का सयोग ही शरीर का कारण नही, क्योकि शरीर का प्रत्यक्ष होता है, और प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भूतो के सयोग का प्रत्यक्ष नही होता।

जीवित पदार्थों की दो श्रेणियाँ है—योनिज और अयोनिज। पशु-पक्षी योनि से उत्पन्न होते हैं, वृक्ष बीज से पैदा होते हैं। पशुओ और पक्षियो का जन्म भी एक प्रकार से नही होता।

यह व्यवस्था आज दिखाई देती है। आदि सृष्टि मे वृक्ष आदि सूक्ष्म तत्त्वो के सयोग से वने, और 'धर्मविशेष के कारण' कुछ मनुष्य अयोनिज पैदा हुए। पूर्व जन्मो के 'धर्मविशेष' ने इन्हें यह विशेष पद दिया था।

६ गुण

१. गुण क्या है ?

सूत्र १ १ १६ में गुण का लक्षण यो किया है—

'जो द्रव्य के आश्रित हो, जो आप गुणरहित हो, जो सयोग और वियोग का उत्पादक कारण न हो, और जो किसी अन्य गुण की अपेक्षा न करे, वह गुण है।'

द्रव्य और गुण सापेक्ष पद हैं। द्रव्य और गुण सदा एक साथ मिलते हैं, इनमें द्रव्य प्रधान और गुण अप्रधान या गौण है। गुण के लक्षण में प्रमुख वात यही है कि यह द्रव्य पर आश्रित है। कोई गुण किसी अन्य गुण का आश्रय नही होता, क्योंकि ऐसा होने पर यह द्रव्य वन जायगा, गुण नही रहेगा। हरापन, नीलापन रग के गुण नही, रग के विविध प्रकार हैं, मिठास और कड़ुआपन रस के गुण नही, इसके आकार हैं। एक ही रग में मात्रा का भेद हो सकता है, दर्दों में तीव्रता का भेद होता है, परन्तु मात्रा और तीव्रता गुण नही।

गुण सयोग-वियोग का कारण नही होता। वाह्य जगत् में जो कुछ होता है, उसे हम सयोग-वियोग के रूप में देख सकते हैं, हर्वर्ट स्पेन्सर ने इसे प्रकृति और शक्ति के नए विभाजन के रूप मे ही देखा था। यह सयोग-वियोग क्रिया का फल है, गुणो का परिणाम नही। किसी वस्तु को द्रव्य कहने में हम इतना ही कहते हैं—'वह है', उसके गुणो की ओर सकेत करने में कहते हैं—'वह क्या है?' गुण (विशेषण) अविशेष को विशेष वना देते हैं।

गुण का चौथा लक्षण सूत्र में यह दिया है कि वह किसी अन्य गुण की अपेक्षा नही करता। गुण द्रव्य पर आश्रित होते हैं, परन्तु वे एक दूसरे पर आश्रित नही होते। गुणो की स्थिति में, वे एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। यदि खाँड में सफेदी न हो तो उसकी मिठास पर कोई प्रभाव नहीं पडेगा, और उसकी मिठास जाती रहे, तो उसके साथ उसकी सफेदी भी नही चली जायगी। दोनो गुण एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करते।

२. गुणों की सूची

सूत्र १ १ ६ में कहा है—

'रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, दूरी, समीपता, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न गुण है।'

भाष्यकारो ने अन्तिम 'च' की व्याख्या में कुछ और गुण भी जोड दिये है, परन्तु स्वय सूत्रकार ने गुणो की परीक्षा में इन १७ गुणो को ही लिया है।

गुण के लक्षण में प्रमुख वात यह कही है कि यह द्रव्य पर आश्रित होता है। गुणो की सूची तैयार करने में स्वभावत द्रव्यो की ओर ध्यान जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार की हालत में भी ऐसा ही हुआ। जैसा हम देख चुके हैं, वैशेषिक ने द्रव्यो को तीन श्रेणियो में बाँटा है—

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश,
काल और दिशा (देश),
आत्मा और मन।

गुणो में पहले चार गुण—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—तेज, जल, पृथिवी और वायु के गुण है। आकाश के गुण, शब्द की गणना इस सूची में नही की। इसका कारण स्पष्ट नही, भाष्यकार इसे अन्तिम 'च' में ले लेते है।

इन गुणो को रखनेवाले पदार्थों में प्रत्येक का विशिष्टत्व है, वह अन्य पदार्थों से पृथक् है—उनसे सीमित होता है और उन्हें सीमित करता है। इस पृथक्त्व के कारण हम पदार्थों की गिनती कर सकते है। यह विशिष्टत्व जीवित पदार्थ आप प्राप्त कर लेते है, जड पदार्थों को हम अपनी सुविधा के लिए ऐसा विशिष्टत्व दे देते है। मिट्टी के ढेर में मात्रा का परिमाण है, हम उसकी ५० ईंटें वनाते है। यहाँ मात्रा के स्थान में सख्या प्रमुख हो गयी है। जव हम अपने वातावरण की ओर देखते है तो सख्या, परिमाण और पृथक्ता का वोध होता है, प्रत्येक वस्तु एक है, कुछ परिमाण रखती है और अन्य वस्तुओ से स्वतन्त्र अपना अस्तित्व रखती है। ये तीन गुण गुणो की दूसरी श्रेणी वनाते है।

अव द्रव्यो में देश और काल को लें।

देश में सभी पदार्थ स्थित है, काल में सभी घटनाएं घटती है। पदार्थो में सयोग-वियोग होता है। मैं इस समय कुर्सी पर वैठा हूं, कुर्सी से मेरा सयोग है, चारपाई से वियोग है। घटनाओ में भी सयोग-वियोग सम्वन्व है। मेरी चेतना में प्रत्येक अवस्था अपने से पहले और पीछे आनेवाली अवस्थाओ से सयुक्त है, अन्य सभी अवस्थाओ मे वियुक्त है। देश और काल दोनो में जहाँ वियोग है, वहाँ अन्तर मापा जा सकता है—क ख की अपेक्षा ग से दूर है, या निकट है। मयोग, विभाग, दूर होना,

निकट होना—ये गुण पदार्थो में देश और काल के सबन्ध में होते है। यह गुण गुणो की तीसरी श्रेणी है।

अन्तिम द्रव्य आत्मा और मन है। मन की स्थिति एक करण की स्थिति है, इसलिए सूत्रकार ने गुणो की चौथी श्रेणी में आत्मा के उन छ लक्षणो को रखा है, जिन्हें न्याय ने माना है, और जो आम तौर पर माने जाते है। इन गुणो मे पहला गुण वुद्धि है, इसे वोध या ज्ञान के अर्थ में लेना चाहिये।

३. गुणों की परीक्षा

द्रव्यो में कारण-द्रव्य और कार्य-द्रव्य का भेद किया गया है। मूल प्रकृति नित्य है, जो कुछ इससे वनता है, वह अनित्य है। नित्य द्रव्य के गुण भी नित्य होते हैं, अनित्य द्रव्य के गुण अनित्य होते हैं। फूल आज टहनी पर प्रकट होता है, कुछ दिन रूप, रस, गन्व, स्पर्श का विपय वनता है, और फिर नष्ट हो जाता है। इसका रग-रूप भी वदलता रहता है। यह आप अनित्य है, इसके गुण भी अनित्य हैं। फूल में नित्यता का भी अश है या नही? फूल प्रकट होता है और अप्रकट हो जाता है, परन्तु यह प्रकट होना और अप्रकट होना उत्पत्ति और विनाश नही। मूल प्रकृति नित्य है। उसके भी कुछ गुण हैं या नही?

पश्चिम में भी गुणो का आपसी भेद विवेचन का विपय वना रहा है। जॉन लॉक ने इनमें प्रधान और अप्रधान का भेद किया। प्रधान गुण विस्तार, आकृति और ठोसपन हैं, अप्रधान गुण रूप, रस, गन्ध, ताप और शब्द है। लॉक के विचारानुसार अप्रधान गुण वास्तव में वाह्य पदार्थो में विद्यमान नही, ये हमारी मानसिक अवस्थाएं हैं, जो प्रधान गुणो की प्रक्रिया का परिणाम होती है। कोई सुननेवाला न हो तो शब्द भी नही होगा, कोई देखनेवाला न हो तो रग भी नही होगे, परन्तु ज्ञाता हो न हो, प्राकृत पदार्थो में विस्तार होगा, उनकी आकृति होगी, और प्रत्येक पदार्थ जिस स्थान को व्याप्त करेगा, उसमें किसी अन्य पदार्थ को घुमने नही देगा। वैशेपिक के पहले चार गुण लॉक के अप्रधान गुणो के अन्तर्गत आते है, अगले तीन गुण—सख्या, परिमाण और पृथक्ता (व्यक्तित्व) लॉक के प्रधान गुणो के वहुत निकट पहुँचते हैं। जव हम किसी वस्तु के परिमाण का चिन्तन करते हैं तो उसके विस्तार का चित्र हमारे सामने आता है। ठोस वस्तुओ की हालत में उनकी आकृति भी मात्रा से युक्त होती है। ईंट का परिमाण क्या है? हम यही कहते हैं कि वह इतनी लवी, इतनी चौडी, इतनी मोटी है, और उसकी आकृति ऐसी है। सख्या और पृथक्ता का गहरा सम्वन्ध है। जव हम कहते है कि कमरे में १० मनुष्य हैं तो यह

इस लक्षण में कहा है कि कर्म की कोई स्वतन्त्र सत्ता नही, यह सदा किसी कर्ता पर आश्रित होता है, इसमें कोई गुण नही होता, और यह सयोग-विभागरूपी परिवर्तन का कारण है। गुण कर्म नही कर सकता, और कर्म गुण-रहित है, दोनो द्रव्य पर आश्रित हैं। इसका अर्थ यह है कि वैशेषिक के पहले तीन पदार्थों में द्रव्य मुख्य है, और गुण और कर्म दोनो गौण हैं। गुण और कर्म का सम्बन्ध केवल इतना ही है कि यह दोनो द्रव्य में पाये जाते हैं और स्वतन्त्र स्थिति नही रखते। जो परिवर्तन जगत् में होता है, वह कर्म का और कर्म का ही फल है।

२ कर्म के रूप

सूत्र १ १ ७ में कर्म के पाँच रूप वताये हैं—

(१) उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना),

(२) अवक्षेपण (नीचे फेंकना),

(३) आकुचन (सिकुडना),

(४) प्रसारण (फैलाना),

(५) गमन (जाना, स्थान परिवर्तन)।

इस सूची में प्राय मनुष्य के दृष्ट कर्मों को ध्यान में रखा है, परन्तु व्याख्या में इस रोक की उपेक्षा भी कर ली है।

जब मै कोई क्रिया करता हूँ तो यह प्रकृति का नया सयोग-विभाग होता है। प्रकृति के जिस अश में मैं परिवर्तन करता हूँ, वह असख्य वाह्य पदार्थों में कोई पदार्थ हो सकता है, या स्वय मेरा शरीर होता है। वाह्य पदार्थों में प्रत्येक कही स्थित है। ऐसा क्यो होता है? क्यो कमरे की पुस्तकें, कुर्सी, मेज़ आदि पदार्थ एक स्थान पर टिके रहना पसन्द करते हैं? यह उनकी पसन्द पर निर्भर नही, वह तो विवश हुए अपने स्थान पर जकडे हैं। उनका वोझ उन्हें पृथ्वी से चिपकाये रखता है। जब मैं किसी पदार्थ को उठाता हूँ तो पृथ्वी के आकर्पण का मुकावला करता हूँ। गेंद को वायुमडल में फेंकता हूँ तो पृथ्वी का मुकावला करने में अधिक शक्ति का प्रयोग करता हूँ। परन्तु थोडे समय के वाद ही मेरी क्रिया विफल हो जाती है और गेंद फिर पृथ्वी पर आ टिकता है। पृथ्वी समतल नही, कोई स्थान ऊँचा है, कोई नीचा है। मैं पर्वत के पक्ष मे पत्थर को सरका देता हूँ, उसका वोझ ही उसे तल तक पहुँचा देता है। पहले दो प्रकार के कर्मों में हमारा व्यवहार केवल किसी पदार्थ से ही नही होता, पृथ्वी की आकर्पण शक्ति से भी होता है—एक हालत में हम उससे लडते हैं, दूसरी हालत मे उससे सहायता लेते हैं।

सिकोडने और फैलाने में हमें पदार्थ से ही निपटना पडता है। प्रत्येक पदार्थ मिश्रित है, उसके अशो में थोडा-बहुत अन्तर होता है। इस अन्तर की मात्रा घट-बढ सकती है। पदार्थ की मात्रा में परिवर्तन किये विना, उसके अशो के अन्तर को कम करना उसे सिकोडना है, उस अन्तर को वढाना उसे फैलाना है। रेलगाडी में सामान एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाता है। जहा सभव होता है, उसे सिकोडा जाता है, ताकि जितना अधिक सामान जा सकता है, ले जाया जाय। खिलौने-वैलून का प्रसरण किया जाता है, ताकि वह उड सके।

कर्म का पाँचवाँ रूप गमन है, मनुष्य अपने शरीर को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाता है। जड पदार्थों में भी यह गमन होता रहता है। सूर्य के ताप से जल भाप का रूप ग्रहण करता है, वायु उसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचा देती है। वह वर्षा के रूप में नीचे गिरता है, और अपने साथ अनेक पदार्थो को नीचे वहा ले जाता है।

मनुष्य की क्रिया को हम मनोवैज्ञानिक या नैतिक दृष्टिकोण से देख सकते हैं। वैशेपिक में इसे दोनो दृष्टिकोणो से देखा है, पाँचवें अध्याय में मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोण और छठे अध्याय में नैतिक दृष्टिकोण प्रधान है।

३ कर्म की परीक्षा

चेतना और क्रिया का गहरा सवन्ध है। निद्रा में प्राण चलता रहता है, मेदा, फेफडे और हृदय काम करते रहते हैं। यह सब मनोविज्ञान के क्षेत्र से वाहर हैं, वास्तव मे इनकी स्थिति घटनाओं की है, क्रिया की नही। क्रिया आत्मा की प्रेरणा से होती है। छोटा वच्चा हाथ पाँव हिलाता है, हाथ पाव आप नहीं हिलते, वच्चे की क्रिया है। वडो की क्रिया में तो ज्ञान और सकल्प दीखते ही है। एक विशेप क्रिया की ओर सूत्रो में सकेत किया गया है, जिसमें ज्ञान तो रहता है, परन्तु सकल्प की मात्रा वहुत कम होती है। यह प्रसुप्त पुरुप का चलना फिरना है। साहित्य में इस प्रकार की क्रिया का वर्णन होता है, और यह वहुतेरो के अनुभव में भी आता है। सूत्र ५. १ १३ में कहा है कि ऐसी क्रिया में यत्न का अभाव होता है। प्रसुप्त पुरुप जागता भी है और सोया हुआ भी होता है। उसकी क्रिया मे यत्न नही होता, परन्तु अपनी रक्षा वह भी करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सकल्प आवश्यकता पडने पर प्रयुक्त हो सकने के लिए विद्यमान रहता है।

अव मनोविज्ञान के क्षेत्र से निकल कर, नीति के क्षेत्र में प्रविष्ट होते है।

८. धर्म और उसका फल

१ धर्म का लक्षण

सूत्र १ १ २ में कहा है—

'जिससे अभ्युदय और नि श्रेयस की सिद्धि होती है, वह धर्म है।'

अभ्युदय का अर्थ उदय होना, आगे बढना है, इसे जीवन-सफलता भी कह सकते हैं। नि श्रेयस का अर्थ वह अवस्था है, जिससे परे कुछ नही, यह परमगति है। हम कह सकते हैं कि नि श्रेयस गन्तव्यस्थान है और अभ्युदय उस स्थान तक पहुँचने की यात्रा है।

सूत्र १ १ ३ में कहा है कि धर्म का प्रतिपादन करने के कारण वेद प्रमाण है। सूत्र ६ १ १ में कहा है कि वेद में धर्म की बाबत जो उपदेश दिया गया है, वह बुद्धि पूर्वक है।

न्याय दर्शन में कहा है कि तत्त्व-ज्ञान से नि श्रेयस की प्राप्ति होती है। वैशेषिक का भी यही मत है, परन्तु इसके अनुसार तत्त्व-ज्ञान की जिज्ञासा धर्म में प्रवृत्त होने का फल है।

सूत्रो में ब्राह्मण और क्षत्रिय के धर्म (कर्त्तव्य) का विशेष रूप में जिक्र किया गया है।

वर्णो में ब्राह्मण को ही दान लेने का अधिकार है। उसका जीवन-कार्य ही ऐसा है कि वह अपने निर्वाह के लिए किसी और तरह कमा नहीं सकता। उसका काम विद्या पढाना और यज्ञ कराना है। आजकल विद्या बेची जाती है। प्राचीन भारतीय विचार के अनुसार यह बेचने की चीज नही, यह दान दी जाती है, इसे अन्य सभी दानो से श्रेष्ठ माना गया है। जो दान ब्राह्मण को दिया जाता था, वह ऋण का चुकाना था, किसी दीन पर दया करना न था। ब्राह्मण के लिए दान लेना अनादर का प्रतीक न था। दान लेने के साथ ब्राह्मण के लिए दान देना भी कर्त्तव्य बताया गया है, यहाँ दान दीन की सहायता का रूप ग्रहण करता है।

यज्ञो के सबन्ध में ब्राह्मण को दक्षिणा दी जाती थी। वैशेषिक में दृष्ट और अदृष्ट में भेद किया गया है। यज्ञ के अदृष्ट फल को दृष्ट फल से अधिक महत्त्व दिया जाता था। यज्ञ यजमान करता है और कुछ ब्राह्मण इस क्रिया में भाग लेते है। जहाँ यज्ञ कर्म को इतना महत्त्व दिया जाय, वहाँ यह प्रश्न तो उठता ही है कि इसके अदृष्ट फल का भागी कौन है? जैसा हम आगे देखेंगे, यह प्रश्न मीमासा की दोनो शाखाओ में उठाया गया है। सूत्र ६ १ ५ में कहा है कि कर्म का फल करने वाले को ही मिलना है, इसलिए वेदविहित कर्म प्रत्येक को आप करना चाहिये।

ब्राह्मण के लिए शुद्ध आहार भी आवश्यक है। उसका आहार दूषित नही होना चाहिये, और जहाँ तक बन सके, उसे दूषित आहारवालो के घर में भोजन न करना चाहिये। सूत्र ६ १ ११ में कहा है कि यदि ऐसा भोजन न मिल सके तो 'साधारण' और 'हीन' भोजनों पर ही गुजारा कर ले।

यहाँ तक कर्म को बाहर से देखा है, परन्तु कर्म के सबन्ध में भाव का प्रश्न भी महत्त्व रखता है। सूत्र ६ २ ४ में कहा है कि जिन कर्मों में भावदोष होना है, वह उपाधिरूप होते हैं, जिनमें भावदोष नही होता, वह शुभ कर्म हैं।

क्षत्रिय का काम युद्ध में लडना है। उसके लिए आत्मसम्मान का नियम यह है कि वह—

अपने से निर्बल पर आक्रमण न करे,

जो बराबर का हो, उसके साथ युद्ध में मरने मारने पर उद्यत रहे,

अपने से बलवान् के साथ लडना ही पडे, तो आत्म-त्याग से झिझके नही, युद्ध करे।

युद्ध के दिनो में, क्षत्रिय के लिए नियत कर्मों का करना अनिवार्य नही, परन्तु उस अवस्था में भी, उसे आहार में सावधान रहना चाहिये।

यहाँ कर्म की व्याख्या समाप्त होती है।

वैशेषिक दर्शन में पहले तीन पदार्थो—द्रव्य, गुण, कर्म—पर अधिक ध्यान दिया है; दूसरे त्रिक को इतना महत्त्व नही दिया। अब हम उनकी ओर फिरते हैं।

९. सामान्य और विशेष

'सामान्य' और 'विशेष' से क्या अभिप्रेत है?

आम बोल चाल में सामान्य का अर्थ साधारण, मामूली है, विशेष का अर्थ असाधारण, खास है। मैं सामान्य पुरुषो में हूँ, मेरे जैसे अनेक मनुष्य सडको पर, बाजारो में घूमते हैं। कुछ पुरुष ऐसे भी हैं जिनके चित्र समाचारपत्रो मे छपते हैं, वे विशेष पुरुष हैं। दर्शन में सामान्य-विशेष का प्रयोग समूहो का सबन्ध या समूह और व्यक्ति का सबन्ध प्रकट करने के लिए किया जाता है।

द्रव्य गुण और कर्म इन्द्रियों का विषय है। मैं घोड़े को देखता हूँ, उसका रग देखता हूँ, उसे दौडता देखता हूँ। यह तीनो प्रत्यक्ष का विषय हैं। प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सयोग का फल है। सूत्र ८ २ ३ में कहा है—'इस दर्शन में, 'अर्थ' से द्रव्य, गुण और कर्म तीनो अभिप्रेत हैं।'

सामान्य और विशेष इन अर्थों में 'अर्थ' नहीं, वे इन्द्रिय-जनित ज्ञान का भाग नही। सूत्र १ : २ : ३ में कहा है—

'सामान्य और विशेष का भेद बुद्धि की अपेक्षा से होता है।' हम पदार्थों को व्यवस्था में लाने के लिए समानता और असमानता की नीव पर उनकी श्रेणियाँ बनाते हैं। जो श्रेणी किसी अन्य श्रेणी का भाग है, उसे विशेष कहते है, जिस श्रेणी के अन्तर्गत यह आती है, उसे सामान्य कहते हैं। सबसे ऊपर तो 'सत्ता' है, जो द्रव्य, गुण और कर्म में भी विद्यमान है, सब से नीचे जो वस्तु है, वह किसी अन्य वस्तु के लिए सामान्य नही हो सकती। 'सत्ता' और 'निरपेक्ष विशेष' के मध्य में प्रत्येक श्रेणी ऊपर की श्रेणी की अपेक्षा विशेष, और नीचे की श्रेणी की अपेक्षा सामान्य है। निरपेक्ष विशेष परमाणु है। चूँकि परमाणु असख्य है, इसलिए उनमें से हर एक का कोई विशेषण माना जाता है।

१० समवाय

सूत्र ७ २ २४ में समवाय का लक्षण यो किया है—

"'इसमे यह है'—इस प्रकार की बुद्धि जिस कारण से कार्य-कारण में होती है, उसे समवाय कहते हैं।"

यहाँ कार्य-कारण को विस्तृत अर्थों मे लिया है। साधारण अर्थों में आगे-पीछे आने का प्रत्यय इस सबन्ध मे अनिवार्य भाग होता है, यहाँ सबन्ध की व्यापकता को पर्याप्त समझा है।

यह सबन्ध दो वस्तुओ का व्यापक समागम है। ऐसे समागम में कही काल का दखल होता है, कही नही होता। हम पहले देख चुके हैं कि गुण गुणी पर आश्रित होते हैं, और क्रिया कर्त्ता पर। गुणी और गुणो का सबन्ध समवाय सबन्ध है। यह दोनो सदा एक साथ रहते हैं। इसी तरह कर्त्ता और क्रिया का सबन्ध भी समवाय सबन्ध है।

कार्य-कारण सबन्ध समवाय सबन्ध का प्रमुख उदाहरण है। कारण और कार्य के स्वरूप के सबन्ध में मतभेद रहा है।

आम विचार के अनुसार कारण और कार्य दोनो द्रव्य हैं मिट्टी कारण है, घडा कार्य है। एक दूसरे विचार के अनुसार, कारण (कर्त्ता) तो द्रव्य है, परन्तु कार्य एक नयी स्थिति है, जो सयोग-वियोग का रूप लेती है।

उपर्युक्त उदाहरण में कारण कुम्हार है, उसका कार्य मिट्टी के भागों को एक नया सयोग देना है।

कुछ विचारक इससे आगे जाते हैं और कहते हैं कि कारण और कार्य दोनो घटनाएं ही हैं। ये सयुक्त होती हैं, परन्तु इनमे कोई अनिवार्य सवन्ध नही होता। जव दो घटनाएँ हमारे अनुभव में सदा एक दूसरी के वाद आती हैं, तो हम पहले आनेवाली घटना को कारण और पीछे आनेवाली घटना को कार्य कहते हैं।

वैशेपिक के अनुसार कारण क्रियावान् है, और क्रिया द्रव्य मे ही हो सकती है।

मूल की ओर देखें, तो यह सिलसिला कही आरम होता है, या इमका आरभ नही? सूत्र ४ · १ १ में कहा है—

'अकारण नित्य सत्ता जगत् का मूल कारण है।'

सूत्र ४ १ २ में कहा है—

'दृष्ट जगत् उस मूल कारण का लिंग (चिह्न) है।'

यह मूल कारण अव्यक्त प्रकृति है।

दृष्ट जगत् में, कारण-कार्य सवन्व की वावत निम्न सूत्रो में वैशेपिक विचार व्यक्त किया है—

(१) 'कारण के होने से कार्य होता है।' (४ १ ४)

(२) 'कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है।' (१ २ १)

(३) 'कार्य के अभाव से कारण का अभाव नही होता।' (१ २ २)

उद्धरण (१) और (२) कारण-कार्य सवन्ध का लक्षण ही हैं। जव हम क को ख का कारण कहते हैं, तो हम वास्तव में यही कहते हैं कि जहाँ क विद्यमान है वहाँ ख विद्यमान होगा, और क के अभाव में ख विद्यमान नही हो सकता। यदि ऐसा न हो, तो क और ख को कारण और कार्य कहना अर्थहीन है।

उद्धरण (३) में कहा है कि कार्य के अभाव से हम यह अनुमान नही कर सकते कि कारण विद्यमान नही। क्यो?

यह सभव है कि जिसे हम कार्य का अभाव कहते हैं, वह वास्तव में उसका व्यक्त न होना है, क्योकि हमारी ज्ञानेन्द्रियो मे उसे पहिचानने की योग्यता नही। शब्द तो हो रहा है, परन्तु इतना धीमा है कि हम उसे सुन नही सकते।

यह भी सभव है कि कारण के कार्य में प्रकट होने का अभी समय नहीं आया। कुछ कारणो की हालत में कार्य तुरन्त प्रकट हो जाता है, कुछ की हालत में ऐसा नही होता।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक कारण को दूसरा कारण निरर्थक कर देता है। दो मनुष्य विपरीत दिशाओ में रस्से को खींचते हैं। उनकी शक्ति वरावर है। यहाँ कार्य (रस्से का इधर-उधर होना) व्यक्त नही होता, परन्तु कारण का भाव है।

इन दोनो पर कुछ विचार करें।

सुख और दुख

सूत्र १० १ १ में कहा है—

'सुख और दुख एक दूसरे से भिन्न हैं, क्योकि वे जिन इष्ट और अनिष्ट कारणों से उत्पन्न होते हैं, एक दूसरे से भिन्न हैं, और इन दोनो में विरोध पाया जाता है।'

सूत्र २ १ २४ मे कहा है कि 'जो गुण कारण में होते हैं, वही कार्य में होते हैं।' सुख और दुख के कारणो में भेद होता है, इसलिए कारणो के फल (सुख और दुख) में भी भेद है। दूसरा हेतु यह दिया है कि सुख और दुख का परीक्षण उनमें परस्पर विरोध दिखाता है। सुख दुख का अभाव नही, न ही यह दुख की कम मात्रा है, यह तो दुख के विरुद्ध अवस्था है।

अनुभूति और ज्ञान के भेद को बताने के लिए सूत्र १० १ २, ३, ५, ६ में निम्न हेतु दिये गये है—

(१) ज्ञान निर्णय रूप होता है या सशयरूप होता है। सुख और दुख इन दोनो (निर्णय और सशय) के अन्तर्गत नही आते, इसलिए ये ज्ञान से भिन्न हैं।

(२) प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सयोग से होता है, अनुमान लिंग और लिंगी का सबध देखना है। सुख-दुख भी इन्द्रिय और अर्थ के सम्पर्क से उत्पन्न होता है, और अर्थ के लिंग (चिह्न) से भी उत्पन्न हो जाता है। भाव और ज्ञान दोनो की योग्यता समान है। भाव को ज्ञान का विशेषण समझने का कोई कारण नही।

(३) भाव अपने आप को मुख और अन्य अगो की स्थिति में प्रकट करता है, हम किसी मनुष्य को देख कर कह सकते हैं कि वह प्रसन्न है या अप्रसन्न है। ज्ञान शरीर में इस प्रकार का परिवर्तन नही करता। यह भेद भी ज्ञान और भाव को भिन्न बताता है।

(४) जहाँ ज्ञान का विषय विद्यमान नही होता, वहाँ भी भाव प्रकट हो जाता है। हमें कोई मित्र मिलता है, और पूछता है—'क्या हाल है?' हम कहते हैं—'बहुत अच्छा है।' आन्तरिक अग अपना काम निर्विघ्न कर रहे हैं, हमें प्रसन्नता होती है, परन्तु चेतना में ज्ञान प्रधान नही होता।

वैशेषिक दर्शन का अन्त भी इसके आरभ की तरह धर्म की ओर सकेत करता है, परन्तु दर्शन का प्रमुख विषय छ पदार्थों का व्याख्यान ही है।

पूर्व मीमांसा

१. मीमासा की दो शाखाएँ

भारत के दर्शनो मे साख्य और योग का एक जोडा है, न्याय और वैशेपिक दूसरा जोडा, और पूर्व और उत्तर मीमासा तीसरा जोडा है। इन दोनो का घनिप्ट सवन्ध इनके नामो मे ही स्पप्ट है, भेद 'पूर्व' और 'उत्तर' का है। यह भेद काल का भेद नही। हम यह नही कह सकते कि दोनो शाखाओ मे पूर्व मीमासा की रचना पहले हुई, इसकी पूर्वता तार्किक पूर्वता है। उपनिपदो में अनेक वार कहा गया है कि व्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति ऐसे पुरुप के लिए ही सभव है, जिसका जीवन सयमी हो और जिसके दोप क्षीण हो चुके हो। उत्तर मीमासा का विपय 'व्रह्मजिज्ञासा' है, पूर्व-मीमासा का विपय 'धर्मजिज्ञासा' है। धर्म का अर्थ नियत कर्म या कर्त्तव्य है। नैयायिक दृप्टिकोण से धर्मजिज्ञासा व्रह्मजिज्ञासा से पहले आनी चाहिये।

पूर्वमीमासा का रचयिता जैमिनि है, उत्तर मीमासा वादरायण की रचना है। जैमिनि वादरायण का शिप्य था। जहाँ तक काल का सवन्ध है, हम आशा कर सकते हैं कि वादरायण का सिद्धान्त जैमिनि को अपनी मीमासा की रचना करने से पहले ज्ञात था। वह अपने सिद्धान्त की पुप्टि में वादरायण की ओर सकेत करता है। मीमासा के पाँचवें सूत्र में ही ऐसा सकेत विद्यमान है। कुछ प्रकरणो मे, 'जहाँ दोनो सहमत हैं, जैमिनि अपने विचार के पक्ष मे कोई हेतु नही देता, ऐसा प्रतीत होता है कि वह वादरायण की युक्तियो को स्वीकार करता है, और उन्हें दुहराना अनावश्यक समझता है। दूसरी ओर, वादरायण भी अनेक स्थानो में जैमिनि की ओर सकेत करता है।' इन सकेतो में अधिकतर ऐसे हैं, जिनकी वावत जैमिनि के सूत्रो में कुछ पता नही चलता। इससे कुछ लोगो को सन्देह होता है कि वादरायण किसी अन्य जैमिनि की ओर सकेत करता है। कुछ लोग समझते हैं कि जैमिनि ने कुछ और भी लिखा होगा, और वह लेख अव मिलते नही। वादरायण और जैमिनि सहयुगी थे, दोनो को एक दूसरे के विचारो का ज्ञान था। जैमिनि ने अपने सूत्रों में जो कुछ उपयोगी समझा, वह लिख दिया। वादरायण ने उसके अन्य विचारो की ओर भी सकेत कर दिया।

यह बोध हो जाता है ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि हम में से हर एक को यह बोध हर एक काम के सबन्ध में होता है। इस धारणा में दो कठिनाइया हैं—

(१) यदि हमें ऐसा बोध तुरन्त हो जाता है तो हम मे से किसी को किसी कर्म के भला-बुरा होने की बाबत सन्देह नही होना चाहिये। अनुभव इसके प्रतिकूल जाता है।

(२) यदि हम में से हर एक को ऐसा बोध होता है तो कर्मों के भला-बुरा होने की बाबत मतभेद नही होना चाहिये। परन्तु, ऐसा मतभेद होता है। यदि नीति में कोई व्यापक अश विद्यमान है तो नैतिक निर्णय व्यक्ति का बोध नही हो सकता।

इन कठिनाइयो के कारण कुछ लोग ऊपर की धारणा को बदले हुए रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके विचार मे व्यक्ति प्रत्येक कर्म को देखते ही यह नही कह सकता कि वह अच्छा है या बुरा है, परन्तु उसे नैतिक नियमो की बाबत ऐसा बोध होता है, और बुद्धि के प्रयोग से वह जान सकता है कि कोई विशेष कर्म किस श्रेणी के अन्तर्गत आता है। हम यह जानते हैं कि झूठ बोलना बुरा है, बुद्धि हमें बताती है कि कोई विशेष कथन झूठ है या नही। यह निश्चय बहुत आसान नही होता। झूठ में अनिवार्य अश यह है कि यह अयथार्थ कथन होता है। परन्तु क्या किसी कथन की अयथार्थता उसे झूठ बनाने के लिए पर्याप्त है ? मार्ग पर चलते समय, कोई मनुष्य मुझ से समय की बाबत पूछता है। मैं घडी को देख कर कहता हू—'तीन बजे हैं'। पीछे पता लगता है कि मेरी घडी १० मिनट तेज थी। इसके अतिरिक्त मेरी घडी में उस समय तीन बजने में अभी १॥ मिनट बाकी रहता था। मेरे कथन में एक अयथार्थता तो ऐसी थी जिसका मुझे ज्ञान न था, दूसरी अयथार्थता ऐसी थी जिसका मुझे ज्ञान था। ऐसा होने पर भी, मैं यह मानने को तैयार नही होता कि मैंने झूठ कहा। न्यायालयो में जो विवाद होते हैं, वे प्राय इसी बात पर होते हैं कि कोई विशेष क्रिया किस श्रेणी के अन्तर्गत आती है। जहा तक सामान्य नियमो का सबन्ध है, उनकी बाबत भी मत-भेद होता है।

धर्म के सबन्ध में व्यक्ति का निर्णय असदिग्ध निर्णय नही।

जैमिनि इस नतीजे को स्वीकार करता है, और कहता है कि धर्म के आदेश व्यापक और न बदलनेवाले होने चाहिये। ऐसे आदेश वेद में मिलते हैं। वेद का प्रमाण किसी अन्य सहारे की अपेक्षा नही करता, वेदवाक्य स्वत प्रमाण है। सूत्र १ १ ५ में कहा है—

'वेदवाक्य के पदो का अर्थों से स्वाभाविक और नित्य सबन्ध है, इसी से वे सत्य ज्ञान का साधन हैं। यह ज्ञान प्रत्यक्ष आदि से प्राप्त नही होता, यह उपदेश है,

और विरोध से विमुक्त है। बादरायण के अनुसार वेदवाक्य किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नही करता; यह स्वत प्रमाण है।

इस तरह जैमिनि और बादरायण दोनो शब्द प्रमाण का सहारा लेते है। दोनो के विचार-विषय भिन्न हैं, इसलिए 'शब्द' को वे एक ही अर्थ में नही लेते। जैमिनि धर्म को कर्मकाड के अर्थ में लेता है और इसलिए वेद और ब्राह्मणो के वाक्यो की व्याख्या करता है, बादरायण प्राय. उपनिषदो के मत का प्रसार करने का यत्न करता है।

४. वेद-प्रमाण की आलोचना

जैमिनि कहता है कि —

धर्म (कर्मकाड) वेद का आदेश है,

यह प्रत्यक्ष और उस पर आधारित अनुमान का विषय नही,

वैदिक शब्द और अर्थ का सबन्ध स्वाभाविक और नित्य है,

वेद का प्रमाण किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नही करता। इन धारणाओ की आलोचना होनी चाहिये। जैमिनि प्रतिपक्ष के आक्षेपो को बयान करता है, और उनके समाधान का यत्न करता है।

जिन आक्षेपो का समाधान किया गया है, वे यह हैं—

(१) धर्म उपदिष्ट कर्म है, और वेद का आदेश उस में प्रमाण है। वेद ऐसे आदेशो का सग्रह ही नही, इसमें उपासना के मन्त्र है और सिद्धान्तो का वर्णन भी है। मीमासा के दृष्टिकोण को अपनायें तो जो भाग कर्मकाड से असबद्ध है, वे अप्रमाण हैं।

(२) वेद के शब्द और अर्थ का सबन्ध स्वाभाविक और नित्य बताया जाता है, परन्तु वेद मे बहुतेरे वाक्य अर्थहीन हैं, और जो अर्थहीन नही, उनका प्रयोग भी अर्थ समझे बिना ही हो सकता है। जिस फल के देने की उनमें क्षमता है, वह फल तो वे दे ही देंगे, चाहे उनका पाठ बिना समझे ही किया जाय।

(३) वेद को नित्य और स्वत प्रमाण कहना ठीक नही, क्योकि—

(१) वेद मन्त्रो के रचयिता भी मनुष्य ही थे, और उनके नाम मन्त्रो के साथ दिये हैं;

(२) मन्त्रो में अनेक मनुष्यो के नाम भी आते है,

(३) वेद में ऐसी घटनाओ का जिक्र भी आता है जो विशेष काल में हुईं। ऐसी अनित्य घटनाओ का वर्णन करनेवाली पुस्तक नित्य नही हो सकती।

जैमिनि इन आक्षेपो की आलोचना करता है और इन्हें महत्त्व-विहीन बताता है।

ऐसे नाम विशेष गुणो के कारण मिल जाते हैं, परन्तु अधिक सख्या की हालत में, जन्म के थोडी देर बाद माता पिता यह नाम दे देते हैं। यदि रामनाथ अपने बालक को दीन-वन्धु का नाम देता है तो इसका यह अर्थ नही कि बालक अपने जीवन मे दीनो का बन्धु होगा, और यदि हो भी, तो इसका अर्थ यह नही कि 'दीनबन्धु' अब से रामनाथ का पुत्र है और अपने यौगिक अर्थ को खो बैठा है। यही हम 'विश्वमित्र', 'जनक', शाहजहाँ, 'औरगजेब' आदि नामो के सबन्ध में कह सकते है। जैमिनि कहता है कि वेद मे जो नाम आये हैं, वे किसी विशेष के नाम नही, अपितु 'सामान्य मात्र' हैं, उन्हें उनके यौगिक अर्थों में लेना चाहिये।

दूसरे आक्षेप के साथ ही मिला हुआ यह आक्षेप भी है कि वेद में इतिहास है, यदि वेद में ऐसी घटनाओ का जिक्र है, जो किसी विशेष काल में हुई, तो वेद नित्य नही। जैमिनि इस आक्षेप को भी निर्मूल कहता है। उसके विचार में यह भ्रम भी इसलिए होता है कि वेदवाक्यो को यौगिक अर्थों में नही लिया जाता। वेद में प्राकृतिक प्रक-टनो का वर्णन होता है, परन्तु किसी ऐसी घटना का ज़िक्र नही, जिसे ऐतिहासिक कह सकें।

वेद के नित्यत्व के सबन्ध में जिन आक्षेपो की ओर जैमिनि ने सकेत किया है, वे आज भी विवाद का विषय हैं। कुछ लोग वेद को पौरुषेय वताते हैं, कुछ अन्य इसे अपौरुषेय मानते हैं। नवीन काल में पश्चिमी आलोचक भी प्रतिपक्षियो के दल में शामिल हैं। जैमिनि के मत का सबसे बडा समर्थक स्वामी दयानन्द है, जो ऋपियो को मत्र-द्रष्टा समझता है, वेदार्थ में शब्दो का यौगिक अर्थ करता है, और वेद में इति-हास को अस्वीकार करता है।

५ स्वत प्रमाण और परत प्रमाण

धर्म (विहित कर्म) के निश्चित करने में वेद प्रमाण है। अन्य पुस्तको मे भी ऐसे कर्मो का विधान है। इन विधानो की स्थिति क्या है? पहले अध्याय के तीसरे पाद में इस प्रश्न पर विचार किया है। ब्राह्मण ग्रन्थो, कल्प सूत्रो, स्मृतियो में भी कर्म-काड की वावत कहा है। जैमिनि के अनुसार, इन पुस्तको मे जो कुछ वेद के अनुकूल है, वह प्रमाण है, जो वेद के प्रतिकूल है, वह अप्रमाण है। यहाँ तक तो कोई कठिनाई नही, परन्तु इन पुस्तको में ऐसे विधान भी हैं जो न स्पष्ट रूप में वेद के अनुकूल हैं, न प्रतिकूल हैं। जैमिनि कहता है कि ऐमे विधानो में, जो विधान वैदिक कर्म का व्याख्यान या विस्तार है, उन्हें स्वीकार करना चाहिये, जो विधान वैदिक विधि से सर्वथा अस-गत हैं, उनका प्रमाण अमान्य है, विशेष कर ऐमी पुस्तको के स्वतन्त्र विधान जिनमें

वैदिक विधि के प्रतिकूल भी कुछ मिलता है। निष्कर्ष यह है कि जैमिनि इन पुस्तकों को न सर्वथा अप्रमाण मानता है, न इन्हें वेदविधि का पद देने को तैयार है। वेदानुकूल होने की हालत में, वेद-विधि का व्याख्यान होने की हालत में, ऐसी विधि का ब्योरा होने की हालत में, वह इन्हें परत प्रमाण स्वीकार करता है।

६. प्रधान कर्म और गौण कर्म

जिन कर्मों के करने का आदेश श्रुति में मिलता है, वे नित्य, नैमित्तिक और काम्य—तीन प्रकार के हैं। दैनिक होम नित्य कर्म है, नैमित्तिक कर्म विशेष अवसरों पर किये जाते हैं। यह दोनो आदेश के रूप में हैं और इन्हें करना ही चाहिये। काम्य कर्म विशेष कामनाओ के पूरा करने के लिए किये जाते हैं। जो मनुष्य कामनाओं से ऊपर है, उसे इनकी आवश्यकता नही। प्रत्येक कर्म मे कुछ अश प्रधान होते है, कुछ गौण होते हैं। यज्ञ में 'द्रव्य' और 'देव' दो प्रधान अश हैं। पहला अश यह है कि द्रव्य (सामग्री) का त्याग किया जाय, दूसरा अश यह है कि यज्ञ-क्रिया में मत्रो का पाठ किया जाय। इन दोनो में से किसी अश का अभाव भी क्रिया को याग बनने नही देता। मैं केवल मत्र पाठ कर लेता हूँ, इससे मुझे कुछ ज्ञान मिलता है, भले कर्मों में प्रेरणा भी होती है, परन्तु यह पाठ यज्ञ नही, क्योकि इसमें द्रव्य-त्याग सम्मिलित नही। दूसरी ओर, यदि मैं हवन-सामग्री को कुड की अग्नि में डालता हूँ, परन्तु उसके साथ मत्रो द्वारा ईश्वर-पूजा नही करता, तो मेरा कर्म यज्ञ नही। वायुमडल की शुद्धि होगी और इसमे कुछ उपकार होगा, परन्तु उपासना से जो आत्म-उन्नति हो सकती थी, मैं उससे वचित रहा हूँ।

कुछ लोग द्रव्य-त्याग और मत्रो द्वारा पूजा को एक स्तर पर नही रखते। पूर्व-मीमासा में एक पूर्व पक्ष की ओर सकेत किया है जिसके अनुसार मत्रो का पाठ भी प्रधान क्रिया नही, अपितु गौण है। जैमिनि इससे सहमत नही, उसके विचार में द्रव्य-त्याग और मत्र-पाठ दोनो प्रधान कर्म हैं।

जिस द्रव्य या सामग्री का त्याग करना है, उसकी जाँच करनी चाहिये, कुरबानी का तत्त्व तो यही है कि जिस वस्तु का त्याग किया जाता है, वह हमारी दृष्टि में बहुमूल्य है। ऐसी वस्तु को भी सस्कृत करने की आवश्यकता होती है। यज्ञ के लिए चावल तो अच्छे हैं, परन्तु उनमें कुछ धूलि मिली है, धोकर उसे दूर करना चाहिये। द्रव्य के सबन्ध में, 'गुण' और 'सस्कार' दोनो महत्त्व रखते हैं। जिन वेद मत्रो का पाठ किया जाता है, वह अवसर मे सगत होने चाहिये।

यज्ञ करने के लिए यज्ञशाला का तैयार करना, आमन्त्रित बन्धु-मित्रो के सत्कार

का प्रवन्ध करना भी आवश्यक होता है। जैमिनि के विचार में यह सब कुछ गौण है। यज्ञ का केन्द्र द्रव्य-त्याग और मत्रो द्वारा उपासना करना है।

द्रव्य के सवन्ध में एक तीव्र विवाद का विषय पशु-वलि है। कुछ लोग कहते हैं कि अन्न, ओषधि, दूध, घी की तरह पशुओ के अगो की भी आहुति होती थी, दूसरे पक्ष के अनुमार, पशु दान में दिये जाते थे। जहाँ यज्ञ के पूर्व पशुओ के गुण और सस्कार की वावत कहा है, वहाँ अभिप्राय यही है कि जो पशु दान में दिया जाय, वह गुणी हो और उमे सजा लिया जाय। वाझ, वूढी, वीमार गौ का दान लेने वाले के लिए वोझ होता है, उसके वोझ को कम नही करता। नित्य कर्म व्यक्ति आप कर सकता है, नैमित्तिक कर्मों में कई मनुष्यो को भाग लेना होता है। जो पुरुष यज्ञ करता है, वह यजमान है। जो अन्य विद्वान् यज्ञ में सहायक होते हैं, उन्हें दक्षिणा दी जाती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यज्ञ का फल केवल यजमान को मिलता है या दूसरो का भी इसमे भाग है।

यज्ञ के फल को हम कई पहलुओ से देख सकते है।

यज्ञ का प्राकृतिक फल वायुमडल की शुद्धि है। प्रचड अग्नि अपने ऊपर की और आस पास की वायु को गर्म करके उसे ऊपर ढकेलती है। शून्य को भरने के लिए, इधर-उधर से ठडी वायु कुड की ओर खिची आती है, और गर्म होकर वह भी ऊपर जाती है। यह चक्कर जारी रहता है। इस क्रिया में जो हानिकारक जन्तु इधर उधर पडे होते है, वे कुड पर से गुजरते हुए भस्म हो जाते है। जो कोई भी इस परिवर्तन-क्षेत्र में होता है, उसे वायु की शुद्धि का फल मिल जाता है। मत्रो का पाठ सभी यज्ञ करनेवालो को उन्नत करता है। यहाँ तक यज्ञ-कर्म का जो फल है, उसका सवन्ध वर्तमान से है। परन्तु मीमासा के अनुसार विहित कर्मो का प्रमुख फल अदृप्ट और पारलौकिक होता है। यह लाभ किसका भाग है?

जैमिनि के विचार में, यह फल यजमान का भाग है, वही यज्ञ पर व्यय करता है, वही दक्षिणा और दान देता है। जो अन्य विद्वान् यज्ञ में सहायक हुए है, उन्होने अपने श्रम की कीमत धन या धन्यवाद के रूप में ले ली है। उनकी क्रिया यज्ञ का प्रधान अग नही, गौण अश है।

७ धर्म के अनुष्ठान मे दो कठिनाइयाँ

पूर्व मीमामा का विषय धर्म-जिज्ञासा है, और धर्म से वह कर्म अभिप्रेत है, जिनकी विधि वेद में वर्णन की गयी है। इन कर्मो का फल अवश्य मिलता है, यही नही कर्म फल की प्राप्ति के लिए किये जाते है। मीमासा (३ १ ५–६) के शब्दो मे 'फल

मनुष्य के लिए हैं, और मनुष्य कर्म के लिए है।' भले कर्म की प्रेरणा इसलिए की जाती है कि ऐसा कर्म कल्याणकारी होता है। हमारी नैतिक भावना की माग यह है कि पुण्यकर्म और सुख का मेल हो, और पाप और दुख का मेल हो। यहाँ दो कठिनाइयाँ हमारे सामने आ जाती हैं—

(१) नैतिक भावना की कथित माग केवल मानव की इच्छा है, हम चाहते हैं कि धर्म पर आचरण करनेवाले को सुख मिले, परन्तु देखना तो यह है कि जिस दुनिया में हम आ गिरे हैं, वह इस इच्छा की परवाह भी करती है या नही। प्रतिपक्षी कहता है कि अनुभव यह नही बताता कि विश्व की शक्तियाँ हमारी इच्छा की परवाह करती हैं। ससार अन्धी या अनैतिक शक्तियो का कर्मक्षेत्र है, हम इस धारणा के साथ चल नही सकते कि शुभ कर्म का फल शुभ होगा।

(२) नैतिक भावना को एक ओर रखें, तो भी कारण-कार्य नियम को मानना पडता है। इस नियम के अनुसार कारण कार्य को उत्पन्न करता है, या उसमें परिणत होता है। दोनो हालतों में कारण और कार्य की सन्धि होनी चाहिये। यदि कोई कारण समाप्त हो गया है, तो अपनी समाप्ति के बाद इसमें कुछ करने की योग्यता ही नही रहती, यह आप है ही नही, कुछ कर कैसे सकता है? यज्ञ करने का फल अभी तो कुछ हो मकता है, परन्तु इसमें, चिरकाल के बाद, पारलौकिक फल देने की क्षमता नही, क्योकि काल का अन्तर कर्म और उसके कल्पित फल को असबद्ध बना देता है।

पहले आक्षेप के सबन्ध मे, जैमिनि इस धारणा को स्वीकार नही करता कि शुभ कर्म का फल शुभ नही होता। उसके विचार में अनुभव उसके पक्ष की पुष्टि करता है। श्रुति भी इसकी पुष्टि करती है।

दूसरा आक्षेप विज्ञान और दर्शन के लिए एक समस्या है। विज्ञान कहता है कि आम बोलचाल और व्यवहार में हम 'कारण' और 'कार्य' का प्रयोग शुद्ध नही करते। एक मनुष्य को ज्वर है, वह औषध खाता है और ४–५ घटो के बाद उनका ज्वर उतर जाता है। हम कहते हैं, औषध खाने से ज्वर उतर गया। यदि औषध खाने को क और ज्वर उतरने को घ कहें तो इन दोनो के मध्य में अगणित घटनाएँ—क', क", क"' ग, ग', ग", ग"' हुई है। यहाँ एक कारण और एक कार्य नही, अपितु अगणित कारण और कार्य हैं, क" अपने मे पूर्व घटना क' का कार्य है, और अपने पीछे आने वाली घटना क"' का कारण है। अन्तिम कार्य का कारण उसमे जुडा हुआ है। ऐसा समाधान पारलौकिक फल को सुबोध नही बना सकता। जैमिनि, इस कठिनाई को पार करने के लिए, 'अपूर्व' का सहारा लेता है।

'अपूर्व' का अर्थ यहाँ विलक्षण नही, केवल ऐसा तत्त्व है जो पहले (पूर्व) मौजूद न था। प्रत्येक कर्म एक ऐसी शक्ति को जन्म देता है, जो उस 'कर्म के पीछे भी स्थिर रहती है, और उचित समय आने पर कर्म फल को प्रस्तुत कर देती है। इस शक्ति को जैमिनि 'अपूर्व' का नाम देता है। यह एक कडी है, जो कर्म और कर्मफल को मिलाती है, यह एक पुल है, जो कर्म और कर्मफल के बीच की खाई को पाटता है।

यह शक्ति रहती कहाँ है ? कर्म में तो रहती नही, क्योकि कर्म आप ही नही रहा, कर्त्ता में भी नही रहती, क्योकि उसे कर्मफल निश्चित करने और देने का अधिकार ही नही। उपनिषदो में परमात्मा को 'कर्मों का अध्यक्ष' कहा है, वह कर्मों का फल निश्चित करता है, और उसी की व्यवस्था में यह फल मिलते हैं। जैसा हम देखेंगे, उत्तर मीमासा में उपनिषदो के विचार को स्वीकार किया है। जैमिनि का समाधान गुत्थी को सुलझाता नही, उलझन बनी रहती है।

८ शब्द नित्य है

पूर्व मीमासा धर्म की जिज्ञासा है, परन्तु इसमें आरभ में ही एक ऐसे प्रश्न पर विचार हुआ है, जिसका स्पष्ट रूप में धर्म के साथ कोई सबन्ध नही दीखता। सूत्र १ : १ ५ मे कहा है कि वेद का प्रत्येक पद अपने अर्थ से स्वाभाविक सबन्ध रखता है। एक बालक को उसके माता-पिता 'गोपाल' नाम देते हैं, वे चाहते, तो उसे जेम्स या जार्ज नाम भी दे सकते थे। इस नाम में और इसके अर्थ (बालक) में कोई स्वाभाविक सबन्ध नही। वेद-पदो और उनके अर्थ में स्वाभाविक सबन्ध है, इसीलिए वेदार्थ में इन पदो का यौगिक अर्थ लिया जाता है। यही ख्याल प्रकट करने के लिए कहा जाता है कि वेद नित्य है, वेद ज्ञान ही नही, वेद पद भी नित्य है। इस स्थिति से जैमिनि एक बडा पग उठाता है और कहता है कि वेद वाक्य ही नही, स्वय शब्द भी नित्य है। यह एक साहसी दावा प्रतीत होता है। देखें कि इसका अभिप्राय क्या है, और जैमिनि इसके समर्थन में क्या कहता है।

मेरे मकान के पास से अभी एक गाडी गुजरी है। मैंने उसकी आवाज़ सुनी, अब उसे नही सुनता। जो लोग नगर के दूर के भागो में रहते है, उन्होंने गाडी के शब्द को नही सुना। आम ख्याल यह है कि शब्द देश और काल दोनो में सकुचित क्षेत्र में बन्द है, मैं जो कुछ बोलता हूँ, वह 'यहा' और 'अब' सुना जाता है। देश के सबन्ध में, नवीन काल में इस ख्याल को ठोकर लगी है। जो कुछ कोई मनुष्य लदन में बोल रहा है, मैं उसे अभी रेडियो की सहायता से सुन सकता हूँ। इसका अर्थ यह है कि ध्वनि लदन में व्यक्त होते ही आकाश में फैल जाती है। जो कोई शब्द कही भी हो रहा है,

वह मेरे कमरे में भी सुना जा सकता है, आवश्यकता इतनी ही है कि वोलनेवाले के सामने माइक्रोफोन मौजूद हो और मैं अपने रेडियो का प्रयोग कर सकूं। हमारे दार्शनिको ने शब्द को आकाश का गुण वताया है। जैमिनि इसी प्रकार का प्रश्न काल के सवन्ध में उठाता है। क्या शब्द वर्तमान की सीमाओ में वन्द है? इसके उत्तर में वह कहता है कि शब्द व्यक्त वर्तमान में होता है, परन्तु व्यक्त होने के पहले भी विद्यमान था, और अप्रकट होने के वाद भी विद्यमान रहेगा।

इसे एक उदाहरण से कुछ स्पष्ट कर सकते है।

एक कमरे में कुछ वस्तुएँ पडी हैं, उनमें से हर एक का अपना रूप-रग है। कमरा अघेरा है। जो लोग वहां वैठे है, वे कुछ देख नही सकते। प्रकाश की किरण कमरे में प्रविष्ट होती है और वे पदार्थों के रग-रूप को देखने लगते हैं। प्रकाश की किरण इन रग-रूपो को उत्पन्न नही करती, यह मौजूद तो पहले ही थे, प्रकाश ने इन्हें प्रसिद्ध कर दिया है। जैमिनि के विचार में, शब्द की स्थिति भी इसी प्रकार की है, यह उत्पन्न या विनष्ट नही होता, केवल प्रकट या अप्रकट होता है।

जैमिनि उन आक्षेपो के साथ आरभ करता है,जो प्रतिपक्षी इस धारणा के विरुद्ध प्रस्तुत कर सकता है।

१ १ ६–११ सूत्रो में इन आक्षेपो को यो वयान किया है —

(१) शब्द कार्य है, इसमें प्रयत्न पाया जाता है।

जो क्रिया प्रयत्न का फल हो, वह प्रयत्न से पहले विद्यमान नही होती। प्रयत्न का परिणाम होने के कारण शब्द अनित्य है।

(२) शब्द अस्थिर है, यह उच्चारण काल के वाद कायम नही रहता।

पहले आक्षेप में कहा था कि शब्द उच्चारण के पूर्व विद्यमान नही था, दूसरे आक्षेप में कहा है कि यह उच्चारण के वाद कायम नही रहता। यह वर्तमान मे वन्द है, इसलिए अनित्य है।

(३) मनुष्यो के शब्द विशेष व्यक्ति के शब्द होते हैं।

पहले आक्षेप में कहा था कि शब्द प्रयत्न का फल है। यह एक सामान्य निर्णय है। इस आक्षेप में धारणा को निश्चित करने के लिए कहा है कि विशेष शब्द विशेष मनुष्यो की क्रिया होते हैं। जव वह मनुष्य ही न थे, तो उनके उच्चारण किये हुए शब्द कैसे हो सकते थे?

(४) विविध स्थानो में कई मनुष्य एक ही शब्द को एक समय में सुनते है।

इस आक्षेप का आशय अस्पष्ट सा है। कुछ व्याख्याकार कहते है कि शब्द के नानात्व की ओर यहा सकेत है, और जहा नानात्व है, वहा अस्थिरता भी होती है।

(५) शब्द के सबन्ध में प्रकृति-विकृति भाव की उपलब्धि है, इसलिए भी शब्द अनित्य है ।

जिस वस्तु में परिवर्तन होता है, उसे प्रकृति कहते हैं, प्रत्येक परिवर्तन विकृति है। यदि शब्द नित्य हो, तो इसमें प्रकृति-विकृति भेद नही होना चाहिये, परन्तु ऐसा भेद होता है।

शब्दो में एक अक्षर के स्थान में दूसरा अक्षर आ जाता है। यह आक्षेप व्याकरण से सबन्ध रखता है।

(६) शब्द बोलनेवालो की अधिकता से अधिक हो जाता है।

किसी सभा में जो शब्द १० मनुष्यो के ताली बजाने से होता है, वह २० मनुष्यो के ताली बजाने से बढ जाता है। जो वस्तु मनुष्यो के यत्न के बढने घटने पर बढ घट सकती है, वह नित्य नही होती, अनित्य होती है।

अगले छ सूत्रो (१ १ १२–१७) में ऊपर कहे आक्षेपो का उत्तर देने का यत्न किया है।

पहले दो आक्षेपो में कहा गया है कि शब्द का उच्चारण प्रयत्न का परिणाम होता है और उच्चारण काल बीत जाने के बाद शब्द सुनाई नही देता। जैमिनि कहता है कि वह इस तथ्य को स्वीकार करता है, परन्तु प्रश्न तो तथ्य के समाधान का है। इस विषय मे प्रतिपक्ष और सिद्धान्त पक्ष एक ही स्थिति में हैं—प्रतिपक्ष के अनुसार शब्द की उत्पत्ति हुई है, सिद्धान्त के अनुसार प्रयत्न ने शब्द को केवल प्रकट या प्रसिद्ध किया है। सूत्र १ १ १२ में कहा है—

'शब्द को नित्य और अनित्य माननेवालो में, शब्द का क्षण मात्र के लिए दर्शन होना एक समान है।'

इस सबन्ध में दोनो समाधानो में कोई भेद नही। इसी तरह, उच्चारण के बाद शब्द का सुनाई न देना इसके विनष्ट होने या अप्रकट हो जाने का फल हो सकता है।

इस कथन में आक्षेपो का खडन नही होता, केवल इतना ही कहा जाता है कि प्रतिपक्षी अपने दावे को प्रमाणित नही कर सका। सूत्रकार ने प्रतिपक्ष को अपना पक्ष बयान करने का अवसर पहले दिया है। सभव है, यह इसी ख्याल से किया हो कि प्रमाण का भार उस पर डाल दिया जाय।

तीसरा आक्षेप भी पहले का रूपान्तर ही है—पहले में यत्न की ओर सकेत है, तीसरे मे यत्न के फल क्रिया की ओर सकेत है। सूत्रकार कहता है कि यह क्रिया शब्द को उत्पन्न नही करती, केवल उसे व्यक्त करती है।

चौथा आक्षेप यह है कि एक ही शब्द के अनेक स्थानो पर अनेक मनुष्यो के सुने

जाने से शब्द का नानात्व सिद्ध होता है। सूत्रकार इसे स्वीकार नही करता। सूत्र १ १ १५ मे कहा है कि सूर्य अनेक स्थानो पर अनेक मनुष्यो को दिखाई देने पर भी एक ही है, इसी तरह,एक शब्द के अनेक स्थानो पर सुने जाने से शब्द का नानात्व सिद्ध नही होना।

पाचवें आक्षेप की वावत कहा है कि परिवर्तन मे एक अक्षर दूसरा नही वनता, अपितु, एक का स्थान एक अन्य अक्षर लेता है। यह विकार नही।

छठे आक्षेप की वावत कहा है कि अधिक मनुष्यो के एक साथ वोलने से शब्द की वृद्धि नही होती, केवल 'नाद' में भेद पडता है। शब्द तो अव्यय है, इसमे वृद्धि या कमी होने का कोई अर्थ ही नही।

अनित्यवादियो के आक्षेपो का समाधान करने के वाद सूत्रकार अपने पक्ष की सिद्धि मे निम्न हेतु देता है—

(१) शब्द का उच्चारण (वाणी) श्रोता के ज्ञान के लिए है। इस ज्ञान के लिए आवश्यक है कि श्रोता जो शब्द सुनता है, उन्हें पहले भी सुन चुका हो और उन्हें पहिचान ले। इस पहिचान के विना उनका अर्थ समझा नही जा सकता। यह स्मृति और पहिचान उसी हालत में सभव है, जव कि जो शब्द पहले सुना था, वह नष्ट न हो गया हो। शब्द की स्थिरता शब्द को नित्य सिद्ध करती है।

(२) सख्या के भाव से भी शब्द नित्य सिद्ध होता है।

हम एक ही शब्द को वार वार उच्चारण कर सकते है। स्मृति उच्चारण किये गये शब्द को पहिचानना है, शब्द का वार वार वोलना उसे अप्रकट अवस्था से वाहर खीचकर प्रकट करना है। ऐसा खीचना सभव है, क्योकि शब्द स्थायी है।

(३) शब्द के विनाश का कोई कारण दिखाई नही देता।

शब्द वर्तमान मे मौजूद है—यह तो असदिग्ध ही है। सुना जाने के वाद इसके विनष्ट हो जाने का कोई कारण नही दीखता। हमारा अनुभव निरपेक्ष उत्पत्ति और विनाश की वावत कुछ नही वताता, हम केवल अवयवो के जोड तोड को ही देखते है। शब्द मिश्रित पदार्थ नही, इसलिए इसके विनाश का कोई अर्थ नही।

(४) वेद मे शब्द के नित्यत्व के चिह्न मिलते है।

वेदज्ञान आरभ मे वेदवाक्यो के द्वारा ऋषियो को मिला। वेद-वाक्य तो पहले विद्यमान ही थे। इन शब्दो का नित्य होना तो मान्य है, यही मान्यता समस्त शब्द को भी दे सकते है।

९ उत्तर मीमासा और जैमिनि

पूर्व मीमासा दर्शनो मे सवसे वडा है। इसके १२ अध्याय है, परन्तु दार्शनिक

विवेचन का अधिकाश पहले अध्याय के १४९ सूत्रो में ही आ जाता है। पीछे आने वाले अध्यायो में प्राय वेद मन्त्रो का व्याख्यान, और यज्ञ आदि विहित कर्मों की विधि ही प्रमुख विषय हैं।

जो सक्षिप्त वर्णन ऊपर दिया गया है, वह पूर्व मीमासा के प्रमुख विचारो को प्रकट करता है। वर्तमान अध्याय यहा समाप्त हो सकता है, परन्तु जैमिनि के मत की बावत कुछ और कहना भी सभव है। जैसा हम अगले अध्याय में देखेंगे, बादरायण को अन्य विचारको की ओर सकेत करने में विशेष अनुराग है। वह अनेक बार जैमिनि की ओर सकेत करता है, कही अपने मत की पुष्टि के लिए ऐसा करता है, कही मत-भेद प्रकट करने के लिए। पहले प्रकार के सकेत प्राय यह जताने के लिए हैं कि जिन अर्थों मे वह उपनिषद्-वाक्यो को लेता है, उन्ही अर्थो में जैमिनि भी लेता है। हमारे लिए यहा दूसरे प्रकार के सकेत अधिक महत्त्व के हैं, वे जैमिनि के मत पर प्रकाश डालते हैं, और इस तरह पूर्व मीमासा के पूरक हैं।

अगले अध्याय में हमें इन विचारो की बावत कुछ विस्तार से देखने का अवसर मिलेगा, यहा उन्हें सक्षेप में एक साथ देना ही पर्याप्त है।

(१) कर्मकाड का अधिकार मनुष्यो की तरह देवो को भी है। पशु-पक्षियो को यह अधिकार नही, वे न आदर्श का चिन्तन कर सकते हैं, न वर्तमान उत्तेजन का मुकाबला करने की क्षमता रखते हैं। देवो के लिए यह बाधाएँ विद्यमान नही।

(२) कर्म में यह शक्ति है कि वह उचित समय पर अपने फल को प्रस्तुत कर दे। इसके लिए परमात्मा के हस्तक्षेप की आवश्यकता नही।

(३) विहित कर्मो का करना धर्म है। इनके करने के लिए ज्ञान सहायक होता है, इसलिए ज्ञान कर्म का अग है। ज्ञान की अपेक्षा कर्म का पद ऊचा है, कर्म साध्य है, ज्ञान साधन है।

(४) कर्मकाड गृहस्थ आश्रम में होता है, वानप्रस्थ और सन्यास में इसकी सुविधा प्राप्त नही होती। गृहस्थ का पद सन्यास से ऊचा है।

(५) जो पुरुष गृहस्थ को त्याग कर सन्यास लेता है, उसे फिर गृहस्थ में लौट आने का अधिकार नही।

(६) मुक्त आत्मा ब्रह्म में लुप्त नही हो जाती, यह ब्रह्म के सदृश हो जाती है। इसका अपना अस्तित्व बना रहता है।

(७) मुक्त आत्मा में ज्ञान के साथ अनुभूति का भाव भी होता है। अनुभूति शरीर के प्रयोग पर निर्भर होती है। मोक्ष में आत्मा शरीर-सहित विचरती है।

उत्तर मीमांसा

प्राक्कथन

(१) उत्तर मीमांसा को 'ब्रह्मसूत्र' भी कहते हैं, परन्तु इस शाखा का प्रसिद्ध नाम 'वेदान्त दर्शन' है।

इस दर्शन को व्यास की रचना बताया जाता है। स्वयं सूत्रों में, अन्य सिद्धान्तों की ओर संकेत करने के बाद, सूत्रकार कहता है—'बादरायण का सिद्धान्त यह है।' इससे अनुमान किया जाता है कि सूत्रों का रचयिता बादरायण है, जो अपनी ओर तृतीय पुरुष में संकेत करता है। बादरायण का अर्थ बादरि की सन्तान है। जिन अन्य विचारकों की ओर सूत्रों में संकेत किया है, उनमें बादरि का नाम भी प्रसिद्ध है। कुछ लोग इस गुत्थी को सुलझाने के लिए कहते हैं कि सूत्रकार का निज नाम व्यास था, और बादरि का सूत्र होने के कारण वह बादरायण भी कहलाता था। यह ख्याल कि व्यास और बादरायण एक ही पुरुष के नाम हैं, नया नहीं, चिर काल से कुछ लोग ऐसा कहते रहे हैं।

अन्य विचारकों के नामों में, जो उत्तर मीमांसा में आते हैं, जैमिनि का नाम अधिक आता है। जैमिनि बादरायण का शिष्य था। जैसा हम देख चुके हैं, जैमिनि के पूर्व मीमांसा में भी बादरायण का नाम आता है। ऐसा मालूम होता है कि बादरायण के जीवन काल में ही, जैमिनि के विचारों ने महत्त्व प्राप्त कर लिया था—इतना महत्त्व कि बादरायण उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। इस सम्बन्ध में सूत्रों में बादरि का नाम आना भी महत्त्व रखता है। यहाँ हम दादा गुरु, गुरु और शिष्य को एक साथ पाते हैं। यह स्थिति हमें प्राचीन यूनान में सुकरात, प्लेटो और अरस्तू की याद दिलाती है। प्लेटो ने अपने संवादों में सुकरात को प्रमुख वक्ता बनाया है और अपने मन्तव्य को सुकरात के मुख से कहलवाया है। प्लेटो की शिक्षा में सुकरात का मत और प्लेटो का अपना मत मिले-जुले हैं। प्लेटो के जीवनकाल में ही, अरस्तू की स्थिति ऐसी हो गयी थी कि स्वयं प्लेटो के अन्तिम संवादों में अरस्तू के विचारों का प्रभाव दीखता है। बादरायण ने जहाँ अपने गुरु और शिष्य की ओर संकेत किया है, वहाँ दृष्टिकोणों को स्पष्ट कर दिया है; प्लेटो की तरह भ्रम या सन्देह की गुंजाइश रहने नहीं दी।

विवेचन का अधिकाश पहले अध्याय के १४९ सूत्रो में ही आ जाता है। पीछे आने वाले अध्यायो मे प्राय वेद मन्त्रो का व्याख्यान, और यज्ञ आदि विहित कर्मों की विधि ही प्रमुख विषय हैं।

जो सक्षिप्त वर्णन ऊपर दिया गया है, वह पूर्व मीमासा के प्रमुख विचारो को प्रकट करता है। वर्तमान अध्याय यहा समाप्त हो सकता है, परन्तु जैमिनि के मत की वावत कुछ और कहना भी सभव है। जैसा हम अगले अध्याय में देखेंगे, वादरायण को अन्य विचारको की ओर सकेत करने मे विशेप अनुराग है। वह अनेक बार जैमिनि की ओर सकेत करता है, कही अपने मत की पुष्टि के लिए ऐसा करता है, कही मत-भेद प्रकट करने के लिए। पहले प्रकार के सकेत प्राय यह जताने के लिए है कि जिन अर्थों में वह उपनिषद्-वाक्यो को लेता है, उन्ही अर्थो में जैमिनि भी लेता है। हमारे लिए यहा दूसरे प्रकार के सकेत अधिक महत्त्व के है, वे जैमिनि के मत पर प्रकाश डालते हैं, और इस तरह पूर्व मीमासा के पूरक हैं।

अगले अध्याय में हमें इन विचारो की वावत कुछ विस्तार से देखने का अवसर मिलेगा, यहा उन्हें सक्षेप में एक साथ देना ही पर्याप्त है।

(१) कर्मकाड का अधिकार मनुष्यो की तरह देवो को भी है। पशु-पक्षियो को यह अधिकार नही, वे न आदर्श का चिन्तन कर सकते हैं, न वर्तमान उत्तेजन का मुकावला करने की क्षमता रखते है। देवो के लिए यह बाधाएँ विद्यमान नही।

(२) कर्म मे यह शक्ति है कि वह उचित समय पर अपने फल को प्रस्तुत कर दे। इसके लिए परमात्मा के हस्तक्षेप की आवश्यकता नही।

(३) विहित कर्मों का करना धर्म है। इनके करने के लिए ज्ञान सहायक होता है, इसलिए ज्ञान कर्म का अग है। ज्ञान की अपेक्षा कर्म का पद ऊचा है, कर्म साध्य है, ज्ञान साधन है।

(४) कर्मकाड गृहस्थ आश्रम में होता है, वानप्रस्थ और सन्यास मे इसकी सुविधा प्राप्त नही होती। गृहस्थ का पद सन्यास से ऊचा है।

(५) जो पुरुप गृहस्थ को त्याग कर सन्यास लेता है, उसे फिर गृहस्थ में लौट आने का अधिकार नही।

(६) युक्त आत्मा ब्रह्म में लुप्त नही हो जाती, यह ब्रह्म के सदृश हो जाती है। इसका अपना अस्तित्व बना रहता है।

(७) युक्त आत्मा में ज्ञान के साथ अनुभूति का भाव भी होता है। अनुभूति शरीर के प्रयोग पर निर्भर होती है। मोक्ष में आत्मा शरीर-सहित विचरती है।

उत्तर मीमांसा

प्राक्कथन

(१) उत्तर मीमासा को 'ब्रह्मसूत्र' भी कहते हैं, परन्तु इस शाखा का प्रसिद्ध नाम 'वेदान्त दर्शन' है।

इस दर्शन को व्यास की रचना वताया जाता है। स्वय सूत्रो में, अन्य सिद्धान्तो की ओर सकेत करने के वाद, सूत्रकार कहता है—'वादरायण का सिद्धान्त यह है।' इससे अनुमान किया जाता है कि सूत्रो का रचयिता वादरायण है, जो अपनी ओर तृतीय पुरुष में सकेत करता है। वादरायण का अर्थ वादरि की सन्तान है। जिन अन्य विचारको की ओर सूत्रो में सकेत किया है, उनमें वादरि का नाम भी प्रसिद्ध है। कुछ लोग इस गुत्थी को सुलझाने के लिए कहते हैं कि सूत्रकार का निज नाम व्यास था, और वादरि का सूत्र होने के कारण वह वादरायण भी कहलाता था। यह ख्याल कि व्यास और वादरायण एक ही पुरुष के नाम हैं, नया नही, चिर काल से कुछ लोग ऐसा कहते रहे हैं।

अन्य विचारको के नामों में, जो उत्तर मीमासा में आते हैं, जैमिनि का नाम अधिक आता है। जैमिनि वादरायण का शिष्य था। जैसा हम देख चुके हैं, जैमिनि के पूर्व मीमासा में भी वादरायण का नाम आता है। ऐसा मालूम होता है कि वादरायण के जीवन काल में ही, जैमिनि के विचारो ने महत्त्व प्राप्त कर लिया था—इतना महत्त्व कि वादरायण उनकी उपेक्षा नही कर सकता था। इस सवन्ध में सूत्रो में वादरि का नाम आना भी महत्त्व रखता है। यहाँ हम दादा गुरु, गुरु और शिष्य को एक साथ पाते हैं। यह स्थिति हमें प्राचीन यूनान में सुकरात, प्लेटो और अरस्तू की याद दिलाती है। प्लेटो ने अपने सवादो में सुकरात को प्रमुख वक्ता वनाया है और अपने मन्तव्य को सुकरात के मुख से कहलवाया है। प्लेटो की शिक्षा में सुकरात का मत और प्लेटो का अपना मत मिले-जुले हैं। प्लेटो के जीवनकाल में ही, अरस्तू की स्थिति ऐसी हो गयी थी कि स्वय प्लेटो के अन्तिम सवादो में अरस्तू के विचारो का प्रभाव दीखता है। वादरायण ने जहाँ अपने गुरु और शिष्य की ओर सकेत किया है, वहाँ दृष्टिकोणो को स्पष्ट कर दिया है, प्लेटो की तरह भ्रम या सन्देह की गुजाइश रहने नही दी।

उत्तर मीमासा में चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद है। अध्यायो मे सूत्रो की सख्या क्रमश १३५, १५७, १८६ और ७८ है। पूर्व मीमासा की अपेक्षा यह एक छोटा दर्शन है।

उत्तर मीमासा पर अनेक भाष्य लिखे गये हैं। इनमे सबसे प्रसिद्ध भाष्य शकराचार्य का 'शारीरिक-भाष्य' और रामानुजाचार्य का 'श्री भाष्य' हैं। इन दोनो का दृष्टिकोण जुदा है। शकर भाष्य ने इतना महत्त्व प्राप्त कर लिया है कि अब आमतौर पर शकर का मत ही वेदान्त समझा जाने लगा है। साधुओ में शकर का दृष्टिकोण बहुत मान्य है, और इसलिए सर्व-साधारण के लिए भी यही ब्रह्म सूत्रो का प्रामाणिक व्याख्यान है। सूत्रो को ध्यान से पढने पर पता लगता है कि शकर की अपेक्षा रामानुज बादरायण के अधिक निकट हैं।

(२) दर्शन शास्त्र के दो प्रमुख भाग तत्त्व-ज्ञान और ज्ञान-मीमासा हैं। ज्ञान मीमासा में प्रमाणो का विषय प्रधान विषय है। साख्य और योग ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को प्रमाण माना है। न्याय में इनके अतिरिक्त उपमान को भी चौथा प्रमाण स्वीकार किया है। साख्य ने शब्द को प्रमाण माना है, परन्तु उसका विषय ऐसा है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से उसका काम चल जाता है। योग का विषय चित्त-वृत्तियो का निरोध है, यहाँ अनुशासन प्रमुख है। ब्रह्म सूत्रो में पहला सूत्र कहता है कि यहाँ 'ब्रह्म-जिज्ञासा' विवेचन का विषय है। इस दर्शन में प्रमाणो पर विवेचन नही हुआ। यह असाधारण सी बात है। पश्चिमी विचारक कहते हैं कि प्रत्यक्ष और अनुमान दृष्ट जगत् को समझने में हमारी सहायता कर सकते हैं, और वेदान्त का सिद्धान्त ही यह है कि दृष्ट जगत् का कोई अस्तित्व नही। प्रत्यक्ष और अनुमान के लिए ऐसे सिद्धान्त में कोई स्थान ही नही, इसलिए बादरायण ने इनकी बाबत विचार करना असगत समझा। यह आलोचना फर्ज कर लेती है कि बादरायण का मत वही है, जैसा शकराचार्य ने इसे प्रकट किया है। बादरायण के मन्तव्य की ओर देखने के स्थान में हमें विवेचन के विषय को देखना चाहिये। इस दर्शन का काम ब्रह्म की बाबत विचार करना है। प्रत्यक्ष हमें दृष्ट जगत् की बाबत बताता है, जो अनुमान प्रत्यक्ष पर आधारित होता है, वह भी दृष्ट जगत् की सीमाओं में बन्द रहता है। ब्रह्म-जिज्ञासा के लिए हम इन प्रमाणो का सहारा स्पष्ट रूप में ले नही सकते। बादरायण को शकर ने ठीक समझा या रामानुज ने—यह प्रश्न इस बात से असगत है कि वेदान्त-सूत्रो में प्रत्यक्ष और अनुमान की उपेक्षा की गयी है। बादरायण ने अपने विवेचन में शब्द प्रमाण का आश्रय लिया। नवीन काल मे कुछ लोग 'प्राकृत ब्रह्म विद्या' पर लिखते हैं और यह बताने का यत्न करते हैं कि शब्द-प्रमाण को एक ओर रखकर, और केवल जगत् की

स्थिति को देखकर, हम ब्रह्म की वावत क्या कह सकते हैं। वादरायण का दृष्टिकोण 'प्राकृत ब्रह्म विद्या' का दृष्टिकोण नही, वह शब्द-प्रमाण का प्रयोग करता है, और नि सकोच प्रयोग करता है।

शब्द प्रमाण के सवन्ध में, 'मत्र', 'श्रुति' और 'स्मृति' का ज़िक्र होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मत्र से वेद, श्रुति से उपनिपद्, और स्मृति से अन्य प्रामाणिक ग्रथ अभिप्रेत हैं। व्याख्याकार तो गीता आदि पुस्तको को भी स्मृति के अन्तर्गत समझते है। जहाँ कही 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' का प्रयोग होता है, वहा भी इन्हे श्रुति और स्मृति के अर्थ में ले लेते हैं। वादरायण के लिए यदि किसी विपय में शब्द-प्रमाण मौजूद है, तो किसी अधिक विवेचन की आश्वयकता नही रहती। किसी प्रकरण में उसे जो कहना होता है, उसे कहकर, यदि सभव हो तो वह कहता है—'श्रुति में ऐसा देखा जाता है, इसलिए भी।' यह सूत्र तीसरे अध्याय में चार वार आता है। इसी तरह, 'और यही वात स्मृति में भी कही गयी है' सूत्र पहले तीन अध्यायो में चार वार आता है।

(३) वादरायण की मीमासा दो विशेप कठिनाइयाँ खडी कर देती है—

(१) वह मन्त्र, उपनिपद् या स्मृति से कुछ उद्धरण नही करता, वह फ़र्ज़ कर लेता है कि सुननेवाले जानते हैं कि उसके मन में श्रुति या स्मृति का कौन सा वाक्य है। सूत्र अति सूक्ष्म और गहन है, हर एक व्याख्याकार अपनी समझ के अनुसार प्रामाणिक ग्रथो में वादरायण के सकेत ढूँढता है। इसके फलस्वरूप टीकाओ में इतना मतभेद हो गया है।

(२) वादरायण का उद्देश्य यह वताना है कि जो कुछ वह कहता है, वह श्रुति और स्मृति के अनुकूल है। वहुतेरे लोग दर्शन का अध्ययन इस दृष्टिकोण से नही करते। वे यह देखना चाहते हैं कि दार्शनिक विवेचन उन्हें क्या प्रकाश देता है।

हम यहाँ यह देखने का यत्न करेंगे कि वादरायण का मत क्या है और वह आप इसके समर्थन में क्या कहता है। हमारे सीमित उद्देश्य की माग इतनी ही है।

इस सक्षिप्त प्राक्कथन के वाद हम सूत्रो की ओर देखें।

१. पहला अध्याय

पहले अध्याय को समन्वयाध्याय भी कहते हैं। इसमें यह वताया है कि श्रुतियो में सृष्टि-रचना के सवन्ध में जो विविध वयान मिलते हैं, उनमें कोई विरोध नही, वे सव एक ही सिद्धान्त का प्रतिपादन है।

पहला अध्याय इन सूत्रो के साथ आरभ होता है—

(१) 'अब ब्रह्म जिज्ञासा का आरभ होता है।'
(२) 'जिससे इस जगत् की उत्पत्ति आदि (होती हैं)'
(३) 'शास्त्रो में उसे जगत् का कारण बताया गया है, इसलिए।'
(४) 'वह इस जगत् में व्याप्त है, इसलिए भी'

पहले सूत्र में दर्शन के विषय का बयान है, ब्रह्म की विवेचना इसका मुख्य उद्देश्य है।

दूसरा सूत्र कहता है कि ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण है।

तीसरे और चौथे सूत्रो में इस दावे की पुष्टि में दो हेतु दिये हैं —

(१) शब्द प्रमाण ब्रह्म को उत्पत्ति आदि का कारण बताता है,
(२) जगत् की बनावट में ब्रह्म व्याप्त दीखता है।

हम बाहर की ओर देखते हैं, अन्दर की ओर देखते हैं, और ऊपर की ओर भी देखते हैं। बाह्य जगत्, जीव और ब्रह्म ही तीन दार्शनिक विवेचन के विषय हैं। ब्रह्म सूत्रो में ब्रह्म-जिज्ञासा लक्ष्य है, इस जिज्ञासा में ब्रह्म और जगत् का सबध, ब्रह्म और जीव का सबध स्वाभाविक ही अनुसधान का विषय बनते हैं। ब्रह्म-जिज्ञासा में तुरन्त ही सूत्रकार ने कह दिया है कि ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण है। 'आदि' से अभिप्राय धारण, सचालन और लय या विनाश है। कुछ लोग कहते हैं कि सृष्टि अनादि है, और इसलिए इसकी उत्पत्ति का प्रश्न ही नही उठता। कुछ लोग कहते हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति तो हुई, परन्तु इसमें किसी चेतन शक्ति का हाथ न था, यह जड प्रकृति का विकास ही है। आस्तिको में कुछ लोगो का विचार है कि परमात्मा ने सृष्टि की रचना तो की, परन्तु इसके बाद वह इसकी ओर से अचिन्त रहा है, यह स्वय निश्चित नियम के अनुसार चलती रही है। इसकी स्थिति ऐसी घडी की स्थिति है, जिसे घडी बनानेवाले ने बनाया है, परन्तु इसके बाद उससे सबन्ध नही रखा। सूत्र में कहा है कि दृष्ट जगत् के स्पष्ट होने के लिए ही नही, इसके सचालक के लिए भी ब्रह्म की आवश्यकता है। सचालन को तो हम देखते ही हैं, उत्पत्ति विचार का विषय है। वर्तमान स्थिति का अन्त भी विवेचन का विषय है। हम कह सकते हैं कि यह स्थिति सदा कायम रहेगी, यह भी कह सकते हैं कि सृष्टि का लय तो होगा, परन्तु इस लय का रचयिता और सचालक से कोई सबन्ध नही, यह ऐसे कारणो का परिणाम होगा, जो ब्रह्म के अधीन नही। सूत्रकार इसे भी अस्वीकार करता है, उसके विचारानुसार, ब्रह्म जगत् के जन्म, इसके सचालन और इसके लोप होने का कारण है।

इस धारणा के विरोध में दो बातें कही जा सकती हैं।

(१) ससार प्रकृति का विकास ही है।
यह प्रकृतिवाद का दावा है।
(२) सृष्टि की उत्पत्ति जीव ने की है।

आगामी सूत्रो में इन दोनो दावो का खडन करने का यत्न होगा। जैसा पहले ही सकेत कर चुके हैं, इस खडन में प्राय शब्द-प्रमाण का प्रयोग होगा।

पहले प्रकृतिवाद को लें।

उपनिषदो में आकाश, ज्योति, प्राण, गायत्री और कुछ अन्य वस्तुओ को जगत् का कारण कहा गया है। बादरायण कहता है कि यह सब शब्द ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुए हैं। आकाश सर्व व्यापक है, ब्रह्म की व्यापकता का सूचक होने के कारण इसे ब्रह्म के लिए बर्त्ता गया है। ब्रह्म ज्योतिर्मय है, इसलिए उसे ज्योति भी कह लेते हैं। प्राण और गायत्री आदि शब्दो का प्रयोग भी इसी ख्याल से किया गया है।

जगत् के कारण के लिए श्रुति में 'ईक्ष' और 'आनन्दमय' का प्रयोग हुआ है, प्रकृति इनसे अभिप्रेत नही हो सकती। यह भी कहा गया है कि जीव उपासना से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जड प्रकृति उपास्य नही हो सकती, न ही मोक्ष दिला सकती है।

जीवात्मा को सृष्टि का रचयिता मानने में क्या कठिनाई है? उपनिषदो में कई स्थानो पर 'आत्मा' को सृष्टि का रचयिता कहा गया है। बादरायण के विचारानुसार इन सब स्थलो में आत्मा से अभिप्राय परमात्मा है, जीवात्मा नही। अनेक स्थानो में आत्मा के लिए आनन्दमय और सर्वज्ञ आदि शब्दो का प्रयोग हुआ है, जीवात्मा तो अल्प है, ऐसे स्थानो में परमात्मा की ओर ही सकेत है। जहाँ सृष्टिकर्त्ता के लिए 'अगुष्ट मात्र' का प्रयोग हुआ है, वहाँ भी अभिप्राय परमात्मा से है, क्योकि जीव के साथ, हृदय-आकाश में जो अगुष्ट मात्र है, परमात्मा भी विद्यमान है। तीसरे पाद के पहले सात सूत्रो में कहा है कि आत्मा द्युलोक और पृथिवी का आधार है, मुक्त पुरुषों को प्राप्त होता है, और सब से बडा (भूमा) है। यह विशेषण जीव में पाय नही जाते। सूत्रकार कहता है कि परमात्मा और जीवात्मा को श्रुतियो में भिन्न बताया गया है, और जहाँ सृष्टि-रचना और सचालन का जिक्र होता है, वहाँ प्रकरण को देखने से यही विदित होता है कि सकेत परमात्मा की ओर है, अल्प जीव की ओर नही। इस प्रसग में कई सूत्रो में ब्रह्म और जीव के भेद पर बल दिया गया है। दोनो प्रत्येक हृदय में विद्यमान हैं, परन्तु सुख-दुख का भोग केवल जीव के लिए लिखा है; उपनिषद् के शब्दो में, 'दो पक्षियो में जो एक ही वृक्ष पर बैठे हैं, एक फल खाता और मोहित होता है, दूसरा केवल देखता है।'

मनुष्य ही साधनो के साधने पर देवो की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, या देवो की स्वतन्त्र श्रेणी है।

इन तीनो के सबन्ध में अधम योनियो की बाबत तो निर्विवाद सिद्धान्त है कि उन्हें ब्रह्मज्ञान का अधिकार नही, उनमें इसे प्राप्त करने की योग्यता नही। देवों की बाबत सूत्र १ ३ २६ में कहा है—'बादरायण के मतानुसार मनुष्य से ऊपर की योनियो को अधिकार है, क्योकि उनके लिए ऐसे ज्ञान की सभावना है।'

सूत्र १ ३ ३१ में कहा है—

'जैमिनि के अनुसार मधु-विद्या आदि में उनका अधिकार नही, क्योकि उनके लिए इसकी सभावना नही।'

जैमिनि के ख्याल में जो कुछ मनुष्य यज्ञ-कर्म और ब्रह्म-ज्ञान से प्राप्त कर सकते हैं, वह देवो को पहले ही प्राप्त है, उनके सबन्ध में इस ज्ञान के अधिकार का ज़िक्र करना ही असगत है। जब जैमिनि कहता है कि देवो को ब्रह्म-विद्या का अधिकार नही, तो उसका अभिप्राय यह नही कि देव इस अधिकार से नीचे हैं, अपितु यह कि वे इससे ऊपर हैं।

सूत्र १ ३ ३३ में फिर कहा है—

'परन्तु बादरायण उनके अधिकार का भाव (अस्तित्व) मानता है, क्योकि श्रुति में ऐसा वर्णन है।'

हमारे लिए देवो के अधिकार से अधिक महत्त्व मनुष्यो के अधिकार का है। वेदान्त दर्शन के अनुसार, ब्रह्म-ज्ञान का अधिकार शूद्र को नही। बादरायण अपने विचार के पक्ष में कहता है—

(१) उपनिषद् में लिखा है कि जब जानश्रुति ब्रह्म-ज्ञान के लिए रैक्वमुनि के पास गया, तो रैक्व ने उसे 'शूद्र' कहकर सबोधित किया। यह शब्द तिरस्कार का सूचक था, जानश्रुति के वर्ण का सूचक न था, प्रकरण से पता लगता है कि जानश्रुति क्षत्रिय था।

(२) वेदविद्या ग्रहण करने से पहले कुछ सस्कारो का होना आवश्यक है, और शूद्रो को सस्कारो का अधिकार नही।

(३) आचार्य वेदविद्या देने के पूर्व अपनी तसल्ली कर लेते है कि विद्यार्थी शूद्र नही।

सूत्र १ ३ ३८ में यह सकोच और बढ गया है। इसमें कहा है—

'शूद्र के लिए वेद के सुनने, इसका अध्ययन करने, इसका अर्थ-ज्ञान प्राप्त करने का भी निषेध किया गया है। और स्मृति से भी यही सिद्ध होता है।'

अध्याय के अन्तिम सूत्र में कहा है—

'इस विवेचन से सभी वाक्यो का व्याख्यान हो गया।'

अभिप्राय यह है कि विविध शास्त्रो में रचना-क्रम के सवन्ध में भले ही भेद हो, सब इसमें सहमत हैं कि जगत् का रचयिता ब्रह्म है।

दूसरा अध्याय

दूसरे अध्याय में प्रश्न को दूसरी ओर से देखा है। इसका मुख्य प्रयोजन उन शकाओ का समाधान है, जो उपर्युक्त सिद्धान्त के सबन्ध में की जाती हैं।

जिन आक्षेपो पर विचार किया गया है, उनमें प्रमुख ये हैं—

(१) श्रुति में कहा है कि पहले 'असद्' था, पीछे 'सद्' प्रकट हुआ। सृष्टि अभाव का भाव में परिणत होना हैं, इसमें ब्रह्म की क्रिया के लिए कोई स्थान नही।

(२) ससार प्रकृति के विकार का फल है।

(३) मनुष्य की बुद्धि जगत्-रचना जैसे प्रश्न का उत्तर देने के योग्य ही नही, यह बुद्धि की सामर्थ्य से परे है।

(४) ससार में मनुष्यो की स्थिति में हम इतना भेद पाते हैं, और इतनी निर्दयता देखते हैं। इस स्थिति को देखकर हम इसे पूर्ण ब्रह्म की रचना कैसे समझ सकत हैं?

अध्याय के पहले पाद में इन आक्षेपो का समाधान किया है। समाधान का साराश यह है—

(१) श्रुति में जहाँ 'असद्' और 'सद्' का वर्णन है, वहाँ इनका अर्थ अभाव और भाव नही। 'असद्' से अभिप्राय वह अवस्था है, जिसमें रग-रूप, आकृति विद्यमान न थी, विशेष आकार ग्रहण करने के वाद जो अवस्था हुई, उसे 'सद्' का नाम दिया गया है।

यहाँ रचना की पहली और पिछली अवस्थाओ का वर्णन है, रचना करनेवाले की वावत तो प्रश्न ही नही।

(२) प्रकृतिवाद की परीक्षा दूसरे पाद में की है। इसकी ओर अभी सकेत करेंगे।

(३) तीसरा आक्षेप सन्देहवाद का आक्षेप है।

यह तो ठीक है कि वुद्धि के प्रयोग से दार्शनिक जिन परिणामो पर पहुँचते हैं, उनमें भेद होता है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि वुद्धि विवेचन के अयोग्य है।

जब बुद्धि युक्ति की सहायता से अपनी अयोग्यता को सिद्ध करने लगती है, तो इसी यत्न में अपनी प्रतिज्ञा का खडन कर देती है।

(४) चौथा आक्षेप यह है कि परमात्मा को न्यायकारी और दयालु कहा जाता है, परन्तु सृष्टि में अन्याय और निर्दयता हर ओर दिखाई देती है।

इसी कठिनाई ने नवीन काल में जान स्टूअर्ट मिल के लिए एक भ्रमजाल प्रस्तुत कर दिया। यदि परमात्मा पूर्णतया पवित्र है, तो उसमें अभद्र को रोकने की शक्ति नही, यदि वह सर्वशक्तिमान है, तो वह बुराई से घृणा नही करता। बादरायण कहता है कि हमारी कठिनाई हमारे सकुचित दृष्टिकोण का परिणाम है। जो भेद हमें मनुष्यो की स्थिति में दिखाई देता है, वह उनकी अपनी कमाई है। वर्तमान जीवन प्रथम और अन्तिम जीवन नही, यह तो लबी जजीर की एक कडी है। जो कुछ हम पहले बो चुके हैं, उसे अब काट रहे हैं, जो कुछ अब बो रहे हैं, उसे आगे काटेंगे। नियमानुसार सारा हिसाब चुकाया जाता है, इसमें अन्याय कहा है?

निर्दयता प्राणी एक दूसरे पर करते हैं। इसका उन्हें फल मिल जाता है।

दूसरे पाद में प्रकृतिवाद की परीक्षा की गयी है।

प्रकृतिवाद

यहा प्रमुख प्रश्न व्यवस्था का है। ससार में नियम, व्यवस्था, विद्यमान है या नही? यदि विद्यमान है, तो जड प्रकृति इसका समाधान कर सकती है, या इसके लिए चेतन शासक की आवश्यकता है?

पहला प्रश्न तथ्य का है, दूसरा विवेचन का है।

जहा तक पहले प्रश्न का सबन्ध है, व्यवस्था के अस्तित्व से इनकार नही हो सकता। सारा विज्ञान इस धारणा से चलता है कि ससार में नियम की व्यापकता है। विज्ञान इस नियम को समझने का यत्न ही है।

इस नियम का आश्रय कोई नियन्ता है, या यह प्रकृति की स्वाभाविक क्रिया है?

क्रिया के लिए कर्त्ता की आवश्यकता है। अरस्तू ने आरभिक गतिदाता के अस्तित्व को मानना आवश्यक समझा था, यही बादरायण का विचार है। व्यवस्था का एक रूप यह है कि साधनो का प्रयोग विशेष प्रयोजन के साथ होता है। प्रकृतिवाद प्रयोजन को माने, तो कहता है कि यह अचेतन-प्रयोजन है। बादरायण अचेतन प्रयोजनवाद को स्वीकार नही करता। प्रयोजन किसी चेतन का प्रयोजन होता है।

जो लोग कहते हैं कि जो कुछ हो रहा है, वह प्रकृति के स्वभाव का परिणाम है, बादरायण उनसे कहता है कि स्वभाव का तत्त्व एक समान क्रिया है, परन्तु प्रकृति

की क्रिया में हम भिन्नता और विरोध देखते हैं। सयोग और वियोग, आकर्षण और विकर्षण दोनो एक साथ मिलते हैं। यदि प्रकृति का स्वभाव सयोग है, तो वियोग कहा से आ गया? यदि उसका स्वभाव वियोग है, तो सयोग नही होना चाहिये। इन दोनो का एक साथ मिलना इस वात का प्रमाण है कि प्रकृति से अलग कोई अन्य सत्ता उसे विदित क्रम से चला रही है।

वौद्ध और जैन विचारो की समीक्षा

दूसरे पाद में वौद्ध और जैन विचारो की समीक्षा करके अपने सिद्धान्त की पुष्टि की है। इस समीक्षा को देखें।

वौद्ध विचार

वौद्धो में चार प्रसिद्ध शाखाएँ हैं। इनमे वैभाषिक और सौत्रान्तिक वाह्य जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं, योगाचार और माध्यमिक वाहर और अन्दर के भेद को मिटा कर सारी सत्ता को कल्पना मात्र वताते हैं। इस विचार में मौलिक वात यह है कि द्रव्य का कोई अस्तित्व नही, सत्ता में प्रकटनो के अतिरिक्त कुछ नही। वाह्य पदार्थ प्रकटनो का समूह है, और आत्मा भी चेतना-अवस्थाओ का समुदाय ही है।

वस्तुवाद के पक्ष में वादरायण कहता है—

(१) गुण किसी गुणी में होता है, इसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही। वौद्ध विचार के अनुसार प्रत्येक पदार्थ गुण-समुदाय ही है, परन्तु समुदाय किसी दर्शक के लिए होता है, अपने आप में इसका कोई अस्तित्व नही। जिन गुणो को हम फूल या वृक्ष के गुण कहते हैं, वह एक साथ ही मिलते हैं। यदि वाह्य जगत् में असवद्ध प्रकटन ही हैं, तो स्थायी सयोग कैसे आ जाता है?

(२) गुणो को एक ओर रखें और घटनाओ को देखे। वौद्ध मत के अनुसार घटनाएँ क्षणिक हैं। ऐसी घटनाओ में कारण-कार्य सवन्ध कैसे हो सकता है? कार्य की उत्पत्ति के पहले ही कारण का लोप हो चुका है, उसमें क्रिया करने की योग्यता ही नही। जव तक कारण था, कार्य का अभाव था, जव कार्य व्यक्त हुआ, उस समय कारण लुप्त हो चुका था। इस तरह कारण और कार्य में कोई सवन्ध नही हो सकता। ऐसे सवन्ध के लिए आवश्यक है कि दोनो एक साथ विद्यमान हो। ऐसी स्वीकृति क्षणिकवाद के प्रतिकूल है।

वौद्ध विचार के अनुसार, वाह्य जगत् ही गुणो और घटनाओ का समुदाय नही, ज्ञाता भी अनुभवो का समुदाय ही है।

सूत्र २ २ २५ में इस धारणा की वावत कहा है—'पूर्व के अनुभवो का फिर स्मरण होता है।'

क्षणिकवाद के अनुसार प्रत्येक अनुभव अन्य अनुभवो से असम्बद्ध होता है, और एक ज्ञानधारा में कोई दो अनुभव एक साथ विद्यमान नही होते। इस स्थिति में स्मृति एक कठिन समस्या वन जाती है। स्मृति ऐसी सत्ता की क्रिया है, जो भूत में विद्यमान थी और अव भी विद्यमान है। यह सत्ता ही भूतकाल के अनुभव को पहिचान सकती है। नवीन काल में विलियम जेम्स ने भी कहा है कि अनुभववाद के पास स्मृति का कोई समाधान नही, इसे 'स्मृति मागनी पडती है।'

वस्तुवाद के निषेध में वौद्ध कहते हैं कि स्वप्न में पदार्थों का अस्तित्व भासता है, परन्तु उनका वास्तविक अस्तित्व होता नही। इस तरह वे जागरण और स्वप्न को एक रूप वना देते हैं। वादरायण ने इन दोनो के भेद पर विशेष वल दिया है। उपलव्व और उसके विम्व में भेद है। इस वैधर्म्य या लक्षण-भेद को २ २ : २८–३२ में यो वयान किया है—

'वस्तुओ की उपलव्धि होने के कारण उनका अभाव नही।'

'लक्षण-भेद होने के कारण उपलव्व पदार्थों को स्वप्न आदि के समान नही मान सकते।'

'उपलव्व के अभाव में, वासना (विम्व) का भाव नही हो सकता।'

'और वासना के क्षणिक होने से भी (यही परिणाम निकलता है)।'

'इस तरह वौद्धो की प्रतिज्ञा सर्वथा असिद्ध है।'

पश्चिम में डेविड ह्यूम ने वौद्धो की तरह समस्त सत्ता को प्रकटनो के रूप में देखा। उसने उपलव्व और चित्र के भेद को तीव्रता का भेद वताया, परन्तु यह भी कहा कि जिस प्रकार की ठोकर हमें उपलव्व में लगती है, उस प्रकार की ठोकर चित्र में नही लगती। यह कथन दोनो में लक्षण-भेद की स्वीकृति थी, परन्तु ह्यूम ने इसे स्पष्ट देखा नही। उससे वहुत पहले, वादरायण ने इस भेद को स्पष्ट देखा, और इसकी नीव पर प्रकटनवाद को अमान्य वताया। विम्व या चित्र उपलव्व की नकल है, स्वप्न जागरण के अनुभवो पर आश्रित होता है।

जैन विचार

दूसरे पाद के अन्तिम सूत्रो में इस विचार की परीक्षा की गयी है कि जीव ही पूर्णता को प्राप्त करके (मुक्त होकर) ईश्वर वन जाता है। वादरायण कहता है कि उन्नति निरी गति नही, यह किसी गन्तव्य की ओर चलना है। यह गति निश्चित

व्यवस्था के अनुसार होती है। इस व्यवस्था का अधिष्ठाता कौन है? जीव तो सभी एक स्थिति में हैं। वे वद्ध से मोक्ष की ओर जाते हैं। मोक्ष के बाद भी इनकी स्थिति ब्रह्म की स्थिति नही हो सकती, क्योकि ब्रह्म कभी वन्धन में पडा ही नही। वह सदा एकरस, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है।

एक से अधिक जीव मुक्त होकर ईश्वर वन जायेंगे, तो एक दूसरे की अपेक्षा उनकी स्थिति क्या होगी? उनमें किसे अधिकार होगा कि व्यवस्था बनाये रखे? और इस अधिकार का आधार क्या होगा?

ईश्वर और जीव का भेद मिट नही सकता, जीव की उन्नति जिस नियम के अधीन होती है, जीव आप उस नियम का नियन्ता नही। जो जीव मुक्त हो चुके हैं, उनमें से भी कोई इस नियम का नियन्ता नही हो सकता, क्योकि वह आप भी इसी नियम के अधीन उन्नत हुआ था।

तीसरे पाद में दो विषयो पर विचार हुआ है—

(१) सृष्टि-क्रम और प्रलय,

(२) जीवात्मा का स्वरूप।

इन्हें इसी क्रम में लें।

सृष्टि-क्रम और प्रलय

सृष्टि के सवन्ध में, साख्य की २३ विभूतियो में अहकार और ५ तन्मात्र को छोड दिया है, और ५ महाभूतो, १० इन्द्रियो, मन और वुद्धि पर विचार किया है। इनमें भी विशेष ध्यान ५ महाभूतो को दिया है। महाभूतो में पहले आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से तेज या अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी। मन, वुद्धि और इन्द्रियाँ भी ईश्वर की रचना हैं। महाभूतो के सवन्ध में उनकी उत्पत्ति का क्रम निश्चित रूप में वताया नही जा सकता, इसका वहुत महत्त्व भी नही। महाभूतो के सवन्ध में कहा गया है कि सव का निमित्त कारण ब्रह्म है, यद्यपि उनकी रचना में पूर्व भूत उत्तर भूत का उपादान कारण होता है।

सृष्टि एक प्रक्रिया है। प्रत्येक प्रक्रिया में हम आरभ, स्थिति और अन्त देखते हैं। सृष्टि भी शान्त है, जो वना है, वह अवश्य टूटता भी है। विकास के वाद प्रति-विकास होता है।

सूत्र २ · ३ १४ में कहा है कि प्रतिविकास का क्रम सर्जन क्रम से उलटा होता है। इसका अर्थ यह है कि जव विसर्जन होने लगता है, तो प्रत्येक कार्य अपने कारण में विलीन होता है। पृथिवी जल से निकली थी, उसी में लुप्त हो जाती है;

जल तेज से निकला था, उसी में लुप्त होता है, तेज वायु में विलीन होता है, और अन्त में वायु आकाश में।

उत्पत्ति-क्रम में कोई नियम दीखता है या नही ?

नैबुला-सिद्धान्त के अनुसार, प्रकृति अव्यक्त अवस्था में अति सूक्ष्म थी। विकास के साथ इसकी सूक्ष्मता कम होती गयी और स्थूलता बढती गयी। प्राकृतिक धूलि ठोस नक्षत्रो के रूप में व्यक्त हुई। वेदान्त के क्रम में भी इसी प्रकार का ख्याल दीखता है। व्यक्त जगत् में आकाश सब से अधिक सूक्ष्म वस्तु है। इससे कम सूक्ष्म वायु है, अन्य शब्दो में आकाश घना होने पर वायु का रूप धारण करता है। वायुमडल में जितना ऊपर उठते जायँ, वायु सूक्ष्म और ठडी होती जाती है। वायु के सिकुडने में हरारत पैदा होती है। स्थूलता की अगली मज़िल यह है कि प्रकृति तरल बनती है। इसके बाद प्रकृति पृथिवी का रूप धारण करती है।

इस विवरण में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) विकास एक क्रम में होता है।

(२) विनाश का क्रम विकास-क्रम के प्रतिकूल है।

जो विकास-क्रम सूत्रकार ने दिया है, उसे स्वीकार न भी करें, तो भी यह प्रकाश तो विशेप दार्शनिक महत्त्व रखता है कि विकास एक क्रम में होता है, और प्रतिविकास का क्रम इससे उलटा होता है।

नवीन काल में हर्बर्ट स्पेन्सर ने विकास और प्रतिविकास, सृष्टि और प्रलय, पर विस्तार से लिखा है। उसके विचार बादरायण के विचारो से मिलते-जुलते हैं।

जीवात्मा का स्वरूप

इस सबन्ध में निम्न प्रश्न विचार के योग्य हैं—

(१) जीवात्मा प्रकृति के प्रकटनो में एक है, या इसकी स्वतन्त्र सत्ता है ?

(२) जीवात्मा ब्रह्म का प्रकाश मात्र है, या ब्रह्म से भिन्न सत्ता है ?

(३) जीवात्मा के विशेपण क्या हैं ?

(४) एक ही जीव व्यापक है, या जीव अनेक हैं ?

इन प्रश्नो पर इसी क्रम में विचार करें।

१. जीव और प्रकृति

प्रकृतिवाद की परीक्षा में कह चुके हैं कि जीवात्मा प्रकटन नही, प्रकटनो का आश्रय और ज्ञाता है।

२. जीव और ब्रह्म

जीव और ब्रह्म का सवन्ध चिरकाल से विवाद का विषय वना रहा है। जो लोग कहते हैं कि वाह्य जगत् का निर्माण नही हुआ, रचना हुई है, वे भी यह कहने से झिझकते हैं कि जीवात्मा की भी रचना हुई। आत्मा को श्रुतियो में 'नित्य' कहा है। आत्मा सरल या अमिश्रित वस्तु है, ऐसी वस्तु का वनना या टूटना निरर्थक शब्द हैं। अद्वैतवादी कहते हैं कि आत्मा परमात्मा का अश है। यह प्रतिज्ञा भी मान्य नही। परमात्मा निरवयव है, उसका कोई अवयव या अश नही हो सकता। सूत्र २ ३ ४३ इस विवाद में निर्णायक सूत्र है। इस सूत्र में आत्मा को 'अश' कहा है, 'ब्रह्म का अश' नही कहा। अश का अर्थ असमग्र है, उसके अतिरिक्त अन्य अश भी हैं। जीवात्मा तो अल्प है ही, और जैसा हम अभी देखेंगे, जीव अनेक हैं। इस सूत्र में ब्रह्म और जीव की अभिन्नता को देखना सूत्रकार के आशय के प्रतिकूल है।

वादरायण को यह चिन्ता नही कि जीव की स्वतन्त्र सत्ता वच रहे, उसे तो यह चिन्ता है कि जीव को ब्रह्म के स्थान मे सृष्टि का कर्त्ता न समझ लिया जाय। वह वार-वार कहता है कि जहाँ सृष्टिकर्त्ता के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ परम-आत्मा अभिप्रेत है, जीव नही। जीव तो ज्ञान और शक्ति में अल्प है, और प्रकरण से भी पता लगता है कि श्रुति वाक्यो में परमात्मा की ओर सकेत है।

इस विषय पर सूत्रकार ने कई स्थलो पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। हम यहाँ केवल १ : २ के पहले सात सूत्र देते हैं—

'सभी स्थानो में, प्रसिद्ध उपदेश होने से परमात्मा ही उपास्य है।'

'और जो गुण वयान किये गये है, वे परमात्मा के सवन्ध में ही सगत होते हैं।'

'जीवात्मा में उन गुणो की सगति न होने से जगत् कर्त्ता नही।'

'जीवात्मा को प्राप्ति-क्रिया का करनेवाला, और परमात्मा को प्राप्त होनेवाला कहा है, इसलिए भी।'

'इन दोनो के लिए जो शब्द प्रयुक्त होते हैं, वे भी विशेष (अलग-अलग) हैं।'

'स्मृति भी ऐसा ही कहती है।'

'यदि कहो कि आत्मा हृदय आकाश में रहता है, और ऐसे छोटे स्थान में रहने वाला परमात्मा नही हो सकता, तो यह ठीक नही, परमात्मा छोटे से छोटे स्थान में है और आकाश के समान व्यापक भी है।'

३. जीवात्मा के विशेषण

जीवात्मा नित्य और चेतन सत्ता है। जव जन्म और मरण का वर्णन होता है

तो शरीर के सवध में होता है, विशेष शरीर के साथ सवन्ध का आरम्भ होना जन्म है, इस सवन्ध का टूटना मृत्यु है। इस मवन्ध की अवधि में, जीवात्मा शरीर की मीमाओ में वन्द रहता है, या इसके लिए कोई रोक नही होती ? यह जीवात्मा के अणु या विभु होने का प्रश्न है। इस सवन्ध में जो सूत्र मिलते हैं, उन्हें दोनो पक्षो का समर्थक समझा गया है। कुछ हेतुओ से जो दिये गये हैं, प्रतीत होता है कि वादरायण जीव को अणु मानता है। यदि प्रत्येक जीव विभु (व्यापक) है, तो जीवो में से हर एक का सवन्ध मेरे शरीर से वैसा ही है, जैसा किसी अन्य शरीर से है। जव मुझे कॉंटा चुभता है या प्यास लगती है, तो कोई कारण नही कि सभी जीव व्याकुल न हो जायें। तथ्य यह है कि एक आत्मा को पीडा होती है, अगणित जीवो को इसका पता भी नही लगता, और जिनको पता लगता है, उनमें अधिक सख्या पर इस वोध का असर नही होता।

स्वय शरीर में, आत्मा एकदेशी है, या व्यापक ? पश्चिम मे प्राय मस्तिष्क को मन का निवास-स्थान समझा जाता है, भारत में यह गौरव हृदय को प्राप्त है। हृदय-आकाश या हृदय की गुफा में जीव रहता है। यदि ऐसा है, तो शरीर के अन्य अगो में चेतना का कारण क्या है ? हाथ पर चोट लगने का वोध कैसे हो जाता है ? इसके सवन्ध में कोई हेतु तो नही दिया, दृष्टान्तो से समझाने का यत्न किया है। जिस तरह चन्दन एकदेशी होने पर अपनी सुगध फैलाता है, या दीपक का प्रकाश चारो ओर फैल जाता है, उसी तरह हृदय-आकाश में स्थित आत्मा का प्रकाश भी मारे शरीर में दिखाई देता है।

आत्मा कर्त्ता है

क्रिया में और घटनामात्र मे भेद है, क्रिया किसी सकल्प का व्यक्त रूप है। इसमे कर्त्ता किसी विचार को स्थूल आकार देता है। यहाँ शका होती है कि वाह्य जगत् में जो कुछ हो रहा है, वह घटनामात्र है, मनुष्य की क्रिया भी निरी घटना ही तो नही ?

सूत्रकार कहता है कि जीवात्मा कर्त्ता है। इसके समर्थन में निम्न हेतु दिये गय हैं—

(१) 'जीवात्मा कर्त्ता है, क्योकि ऐसा मानने से ही शास्त्र (में दिये विधि-निषेध वाक्यों) की मार्थकता सिद्ध होती है।' (२ ३ ३३) धर्म-पुस्तको में वार-वार कहा है—'ऐमा करो, ऐमा न करो।' यदि हम कुछ कर ही नही सकते, तो ऐसे आदेश निरर्थक हैं। नदी को यह कहना कि अपना वेग कुछ घीमा करे, अर्थहीन

है, नदी अपने वेग का निश्चय आप नही करती, वह नियमाधीन चलती है। शास्त्र तो कहता ही है कि हमें क्या करना और क्या न करना चाहिये, हमारे अन्त करण से भी ऐसी ही आवाज़ आती है। दार्शनिक काट के अनुसार मानव-जीवन में सब से प्रमुख बात यह है कि वही शुभ और अशुभ, भद्र और अभद्र, में भेद करता है, और उसकी नैतिक-भावना उसे शुभ और भद्र को अपनाने पर बाधित करती है। इस भावना के आदेश में यह बात निहित है कि मनुष्य में भद्र को अपनाने की शक्ति है। काट का विख्यात सूत्र यह है—

'तुम्हें करना चाहिये, इसलिए, तुम कर सकते हो।'

यही वेदातसूत्र का आशय है।

(२) जागरित अवस्था से हट कर स्वप्न की ओर आयें।

स्वप्न में कुछ पिछले अनुभवो की याद आती है और उनकी सारी सामग्री, अपने अशो में, अनुभव से प्राप्त होती है, परन्तु स्वप्न पिछले अनुभव की प्रतिलिपि ही नही होते। इनमें निर्माण का अश भी होता है। जागरण में भी हम हवा में किले बनाते हैं, परन्तु स्वप्न में तो बहुधा करते ही यह हैं। वर्तमान प्रकरण में, स्वप्न हमारी क्रिया का प्रमाण है।

सूत्र २ ३ ३४ के शब्दो में, 'स्वप्न में इच्छा-अनुसार विहार करने का भी वर्णन है।'

(३) २ ३ ३५ में कहा है—

'ग्रहण करने से।'

इसका आशय यह है कि हमारा व्यवहार उपलब्धिमात्र नही, ग्रहण है। मेरी आँखें खुली हो, तो मुझे कुछ दीखता ही है, परन्तु मैं विशेष वस्तुओ को देखने के लिए आँखो को इधर-उधर फेरता भी हूँ। हमारे ज्ञान का बडा भाग क्रियायुक्त ग्रहण है, क्रियाविहीन उपलब्धि नहीं।

जीवन के निर्वाह में क्रियायुक्त ग्रहण प्रधान है, खाने के लिए कुछ करना पडता है, शरीर को ढाँकने के लिए वस्त्र बनाने और पहनने पडते हैं।

मनुष्य के कर्त्ता होने के विरुद्ध सूत्रो में दो आक्षेपो की ओर सकेत किया है—

(१) यदि मनुष्य कर्त्ता है तो सदा हितकारी कर्म ही क्यो नही करता?

(२) यदि कर्म करना जीव के स्वभाव में है तो इससे कभी छुटकारा नही होगा, मोक्ष की सभावना ही न रहेगी।

पहले आक्षेप के सबध में कहा है कि जीव कर्त्ता तो है परन्तु कर्मो के सस्कारो से बाधित भी होता है, वर्तमान को निश्चित करने में हमारे भूतकाल का भी हाथ होता

है। इसके अतिरिक्त हम शून्य में तो नही विचरते, जिस वातावरण में रहते हैं, उसमें अनेक अन्य शक्तियाँ भी काम करती हैं। हमारी शक्ति अल्प है, इसलिए हमारी क्रिया मे हमारी सारी कामनाएँ पूरी नही होती।

दूसरी शका की बाबत कहा है कि क्रिया मनोरथ-सिद्धि के लिए होती है, इस सिद्धि के बाद क्रिया का जारी रखना अनावश्यक है। यह भी कि कोई कारीगर सदा काम में लगा नही रहता, काम और विश्राम साथ-साथ चलते हैं।

मोक्ष तो दूर की बात है, समाधि अवस्था में भी क्रिया स्थगित हो जाती है। जीव का कर्त्तापन अन्त करण आदि के सबन्ध में होता है।

४ एकवाद और अनेकवाद

सूत्र २ ३ ४३ में कहा है कि 'जीवो का अनेक होना कथन किया गया है, इसलिए जीव अश है।' अगले दो सूत्रो में कहा है कि 'मन्त्र में भी ऐसा ही वर्णन है,' 'और स्मृति में भी।'

जीवो की अनेकता का एक परिणाम यह है कि प्रत्येक जीव शरीरादि करणों से जो कुछ करता है, उसका फल उसे ही मिलता है। सूत्र २ ३ ४९ में कहा है —

'शरीर एक दूसरे से अलग और सीमित हैं, इसलिए उनमें वास करनेवाले जीवो के कर्मों का मिश्रण नही होगा।'

प्राण (जीवन)

अध्याय के चौथे पाद मे प्रमुख प्रश्न प्राण (जीवन) का स्वरूप है। साख्य के २५ तत्त्वो में मूल तत्त्व पुरुष और प्रकृति हैं, शेष तत्त्व प्रकृति के विकार हैं, जो पुरुप की दृष्टि पडने पर व्यक्त होते हैं। सत्ता के मूल तत्त्वो की बाबत यही विचार आम रहा है। नवीन दर्शन में, डेकार्ट ने भी पुरुष और प्रकृति को ही मूल तत्त्व स्वीकार किया और चेतना और विस्तार को उनके गुण बताया। पिछली शताब्दी में प्राणि-विद्या का उत्थान हुआ और उसके बाद इसका महत्त्व बढता ही गया है। इसके फलस्वरूप, जीवन का स्वरूप समझने का प्रयत्न भी हुआ। मुख्य प्रश्न यह है कि प्राण (जीवन) पुरुप का प्रकृति का प्रकटन है, या इसकी स्थिति स्वतन्त्र तत्त्व की है। कुछ लोग इसे नीचे प्रकृति के स्तर पर खीच लाते हैं, कुछ इसे ऊपर पुरुप के स्तर पर ले जाते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर ने कहा कि प्रकृति अपने विकास में जब एक मजिल पर पहुँच जाती है, तो जीवन प्रकट हो जाता है। दूसरी ओर कुछ अध्यात्मवादी प्राण और चेतना में भेद नही करते। प्राणिविद्या के विशेषज्ञ जीवन को स्वतन्त्र स्थिति

देते हैं। अब बहुतेरी पुस्तकें 'प्रकृति, जीवन और मन' पर लिखी जाती हैं। वेदान्त सूत्रो का दृष्टिकोण यही प्रतीत होता है।

इन्द्रियाँ प्राकृत हैं और आत्मा का करण हैं, यही स्थिति मन की है। इसका अर्थ यह है कि हम इन्हें न तो विशुद्ध प्रकृति कह सकते हैं, न विशुद्ध चेतना।

मेरा शरीर मुझे अन्य मनुष्यो से अलग करता है, दो मनुष्यो के शरीरो में कोई साझा (उभयगत) भाग नही हो सकता। इसी तरह मेरा जीवन या प्राण भी अन्य मनुष्यो के जीवन या प्राण से पृथक् है; इसकी सीमाएँ भी मेरी खाल से परे नही जाती। सूत्रकार के शब्दो में प्राण अणु है, अर्थात् शरीर तक सीमित है।

सूत्र २ ४ ८ में कहा है—'प्राण श्रेष्ठ भी है।' उपनिषदो में प्राण को 'ज्येष्ठ और श्रेष्ठ' कहा है। ज्येष्ठ का अर्थ 'आयु में बडा' है। अभिप्राय यह है कि इन्द्रियो के बनने से पहले ही प्राण विद्यमान होता है। अनेक प्राणी ऐसे हैं, जिनकी इन्द्रियाँ अति अविकसित हैं। प्राणो की श्रेष्ठता की बाबत उपनिषदो में कई स्थलो पर कहा है, अन्य इन्द्रियो में से किसी एक के निकल जाने पर जीवन कायम रहता है, प्राण का निकलना उन सब को भी समाप्त कर देता है। इन्द्रियो का और शरीर के अन्य अगो का काम प्राण के सहारे चलता है, यह उनका प्रेरक है। सूत्र २ ४ ९ में कहा है कि 'प्राण वायु या क्रिया नही, क्योकि इसे (उनसे) अलग बताया गया है।' जीवन निरा सास लेना नही, न ही कोई विशेष क्रिया है, यह सभी क्रियाओ का आधार है।

सूत्र २ . ४ १२ में कहा है कि जैसे मन की पाँच वृत्तियाँ हैं, वैसे ही प्राण की भी पाँच वृत्तियाँ हैं। मन की पाँच वृत्तियाँ पाँच ज्ञानेन्द्रियो की क्रियाएं हैं, प्राण की पाँच वृत्तियाँ 'प्राण', 'अपान', 'व्यान', 'समान' और 'उदान' हैं। इनकी व्याख्या में सूत्रकार ने कुछ नही कहा, अन्य शाखाओ में इनकी व्याख्या की गयी है, और हम इनकी बाबत कह ही चुके हैं। ये जीवन-सबन्धी प्रमुख प्रक्रियाएं हैं।

तीसरा अध्याय

१. मृत्यु के बाद

श्वास लेना जीवन नही, जीवन की एक प्रक्रिया है। जीवन (प्राण) और चेतना का सबध घनिष्ट है। तीसरे अध्याय के आरभ में 'प्राण' के विषय को जारी रखते हुए कहा है कि देहान्त होने पर व्यक्ति विशुद्ध चेतन के रूप में नहीं, अपितु प्राण और अन्य सूक्ष्म तत्त्वो के साथ दूसरे शरीर में जाता है। इसका अर्थ यही हो सकता है कि चेतना और जीवन एक साथ रहते हैं।

हमारा वर्तमान जीवन एक लबी जजीर की कडी है। जो कर्म हम इसमें करते है, उनका फल आगे भोगना पडता है। यह कर्म तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, निकृष्ट और मध्यम। उत्तम कर्मों मे भी कुछ ऐसे होते हैं, जो फल की कामना से किये जाते हैं, कुछ निष्काम होते हैं, जो केवल कर्तव्य की भावना से किये जाते हैं। निकृष्ट कर्म में भावना भी वुरी होती है और परिणाम भी बुरा होता है। साधारण पुरुषो की हालत में, दोनो प्रकार के कर्म मिले-जुले होते है। जिन पुरुषो के कर्म लगभग सभी पुण्य-कर्म होते हैं, परन्तु होते सकाम हैं, वह चन्द्रलोक में जाते है, इसी लोक के लिए 'स्वर्गलोक' का प्रयोग भी होता है। जिन मनुष्यो ने अपने अवसर का दुरुपयोग किया है और अपने आत्मा का हनन किया है, वे 'यमलोक' में जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वादरायण के समय में यमलोक की स्थिति की बाबत कोई निश्चित विचार न था, कुछ लोग इसे सभी मर्त्य जीवो का निवासस्थान समझते थे, कुछ केवल पापी आत्माओ को ही वहाँ भेजते थे। प्राचीन यूनान में भी, हेडीस (पाताल) की कल्पना स्वर्ग और नरक के भेद से पहले हुई, वहाँ मृत्यु के बाद सभी आत्माएँ जाती थी, पीछे भले और बुरे मनुष्यो के लिए स्वर्ग और नरक दो पृथक् स्थान नियत हुए। सूत्रो में जहाँ यमलोक की वाबत वर्णन हुआ है, वहाँ इसे सात नरको से अलग किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकालीन ईसाई विचार की तरह, स्वर्ग और नरक के अतिरिक्त एक शोधक स्थान की कल्पना हुई, इस स्थान (यमलोक) से पापी, अपने सुधार के वाद, चन्द्रलोक में चले जाते थे। जो मनुष्य न स्वर्ग में पहुँचने के योग्य थे, न इतने वुरे थे कि यमलोक में झोक दिये जायँ, उनके लिए भूलोक में जन्म-मरण का चक्कर था, जव तक कि वे चन्द्रलोक या यमलोक के भागी न वन जाय।

जो लोग सकाम शुभ कर्मों के कारण चन्द्रलोक में पहुँचते हैं, उनकी गति भी मोक्ष से भिन्न है। उन्हें अपने कर्मो का फल भोग चुकने के वाद वचे हुए कर्म-सस्कारो के साथ लौट आना पडता है। वापसी पर जीवात्मा पहले आकाश से सयुक्त होता है, उसके वाद मेघ जल से, उसके वाद मेघ जल से उत्पन्न अन्न से सयुक्त होता है। अन्न से सयुक्त पुरुप के शरीर में पहुँचता है, और अन्त में अन्न से उत्पन्न वीर्य के साथ स्त्री के गर्भ में पहुँचता है।

वादरायण ने अपने विवेचन मे शव्द-प्रमाण का ही प्राय सहारा लिया है। उपर्युक्त विवरण, जो पहले पाद का विपय है, शव्द-प्रमाण पर ही आधारित है। जहाँ किमी मतभेद की ओर सकेत होता है, वहाँ भी यही कहा जाता है कि श्रुति इसी पक्ष की ममर्थक है।

२. स्वप्न और सुषुप्ति

दूसरे पाद में हम फिर भूलोक मे आते हैं।

मानसशास्त्र के दो रूप प्रसिद्ध हैं। पहले रूप में, इसका उद्देश्य आत्मा के स्वरूप को समझना था, इसका दृष्टिकोण तात्त्विक था। दूसरे रूप में, इसका काम अनुभव की परीक्षा है, इसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक है। अव यह दृष्टिकोण प्रिय है, और मानसशास्त्र मनोविज्ञान के नाम से विख्यात है। इससे पहले हम आत्मा के तात्त्विक स्वरूप की वावत कुछ देख चुके हैं, अव चेतना-धारा के विविध रूपो की ओर तनिक ध्यान दें। जागरित अवस्था में हम वस्तुओ से घिरे रहते हैं, वस्तु-समूह में एक वस्तु की स्थिति मे विचरते हैं। वाह्य जगत् के दो प्रसिद्ध चिह्न हैं—यह स्थिर है, और अनेक ज्ञाताओ का सर्वसामान्य विषय है। स्वप्न की स्थिति जागरण से भिन्न है, इसमें अस्थिरता प्रमुख है, और प्रत्येक की स्वप्न-दुनिया दूसरो की स्वप्न-दुनियाओ से भिन्न है। जागते हुए दस मनुष्य कमरे में एक ही वस्तु-समुदाय को देखते हैं और उसे उसी रूप मे देखते रहते हैं। वे उसी कमरे में सो जाय और स्वप्न लेने लगें, तो कोई दो स्वप्न समान नही होगे और प्रत्येक स्वप्न में स्थिरता का अभाव होगा। पाद के आरभ में ही प्रश्न उठता है कि प्रत्येक की स्वप्न-दुनिया भी वास्तविक जगत् की तरह एक स्वतन्त्र दुनिया है या नही ? प्रतिपक्षी कहता है कि स्वप्न को वास्तविक दुनिया मानने में कोई कठिनाई नही, केवल इतना मानना पड़ता है कि यह दुनिया स्वप्न लेनेवाले की निजी रचना है और स्वप्न के साथ ही विनष्ट हो जाती है। आस्तिक परिभाषा का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि वाह्य सर्वसामान्य जगत् की रचना परमात्मा करता है, आन्तरिक जगत् की रचना प्रत्येक जीव कर लेता है। सूत्रकार इस ख्याल को अमान्य वताता है, क्योंकि स्वप्न की दुनिया जागरण की दुनिया से सर्वथा भिन्न नही, यह तो उसकी ऐंठी हुई नकल है। सूत्र ३ २ ३ में कहा है—

'(स्वप्न) मायामात्र है, क्योंकि स्वप्न में देखे पदार्थों का स्वरूप स्पष्ट नही होता।'

जागरण में एक इन्द्रिय दूसरी की भूल को दूर कर सकती है, एक पुरुष का प्रत्यक्ष दूसरे के मिथ्या ज्ञान को दूर कर सकता है। स्वप्न में वास्तविक पदार्थों से सम्पर्क कट जाता है, इसलिए स्वप्न का विपरीत-ज्ञान होता है। (३ २ ५) स्वप्न का दूसरा कारण शरीर की सामयिक अवस्था है। (३ २ ६) खिड़की खुली हो, और ठंडी पवन आने लगे, तो सोये हुए पुरुष के लिए यह स्वप्न स्वाभाविक है कि वह वर्षा में पड़ गया है या नहा रहा है।

स्वप्न में वस्तुओ का सम्पर्क टूट जाता है, परन्तु अनुभवो के चित्र या विम्व

विद्यमान रहते हैं। स्वप्न-रहित अवस्था में वे भी विद्यमान नही रहते। इस अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। यह तथ्य हो या न हो, हमारा ख्याल यही होता है कि हम निद्रा का बडा भाग स्वप्न-रहित अवस्था में गुज़ारते हैं। यह ख्याल ठीक है या नही ? अन्य शब्दो में, क्या सुषुप्ति स्वप्न से भिन्न अवस्था है, या ऐसा स्वप्न है जो सर्वथा भूला जा चुका है ?

नवीन काल में, जार्ज बर्कले ने कहा कि जिस तरह किसी प्राकृत पदार्थ के लिए विस्तार-रहित होना असभव है, उसी तरह आत्मा के लिए चेतना-रहित होना असभव है। वह इस नतीजे पर पहुँचा कि निद्रा में लगातार स्वप्न आते रहते हैं। इस विचार के अनुसार, सुषुप्ति कोई स्वतन्त्र अवस्था नही। भारत में सुषुप्ति को स्वतन्त्र चेतना-अवस्था माना है, परन्तु कहा है कि इस अवस्था में चेतना भावमात्र हो जाती है, ज्ञान का अश विद्यमान नही होता। ऐसी निद्रा से जागने पर हम कहते है—'खूब आनन्द से सोये।' यह ख्याल बर्कले की कठिनाई को दूर कर देता है, परन्तु बादरायण ने मूर्च्छा (बेहोशी) को भी स्वीकार किया है। इसे अर्ध-सुषुप्ति कहा है। यह स्पष्ट नही होता कि इसमें चेतना का कुछ अश भी विद्यमान रहता है या नही।

यहाँ तक हम मनोविज्ञान के क्षेत्र में हैं, अब तत्त्व-ज्ञान के क्षेत्र में प्रविष्ट होते है। सुषुप्ति में सूत्रकार के अनुसार आत्मा नाडियो (हृदय-नाडियो) में शयन करता है और वही से सीधा जागरित में आता है। यहाँ एकवाद और अनेकवाद का प्रश्न एक नये रूप में उठ खडा होता है। मै यह कैसे कह सकता हूँ कि जो आत्मा सुषुप्ति में हृदय-नाडी में गया था, वही वहाँ से लौट कर आया है, और कोई और भिन्न आत्मा नही आ गया ? यह शका आत्मा को द्रव्य तो स्वीकार करती है, परन्तु ह्यूम की आपत्ति को एक नये रूप में प्रस्तुत कर देती है। इस धारणा में क्या प्रमाण है कि हमारा जीवन एक आत्मा का ही खेल है ?

सूत्र ३ २ ९ इसके उत्तर में कहता है—

'(नाडी में शयन करनेवाला आत्मा ही) जागता है, क्योकि कर्म, अनुस्मृति, शब्द-प्रमाण और विधि (कर्त्तव्य-आदेश) से (यही सिद्ध होता है)।

मैने कल ऊपर के वाक्य के साथ अपना लेख समाप्त किया, आज उसे आगे चला रहा हूँ। इन्द्रियाँ तो करण हैं, करणो से काम लेनेवाला कर्त्ता आत्मा है। प्रात भ्रमण में, खाना खाने में, लिखने में मुझे आज नये सिरे से सीखने की आवश्यकता नही हुई, कल तक जो कुछ सीखा था, उसी का प्रयोग आज हो गया है। मेरा हस्तलेख भी पूर्व का सा ही है। मै जो कुछ लिख रहा हूँ, वह मेरी स्मृति में विद्यमान है। कर्म और अनुस्मृति दोनो इस बात का प्रमाण हैं कि जो आत्मा आज मेरी

इन्द्रियो का प्रयोग कर रहा है, और मेरे सचित ज्ञान को वर्त रहा है, वह कोई नया आत्मा नही अपितु वही है जो इस शरीर का सचालन करता आया है। तीसरा हेतु शब्द प्रमाण है, श्रुतियो में ऐसा ही कहा है। चौथा हेतु 'विधि' है। विधि का अर्थ आदेश या आज्ञा है। शास्त्रो में हमें आदेश दिया जाता है—'सत्य बोलो, धर्म पर आचरण करो, इससे कल्याण होगा।' ऐसे आदेश निरर्थक हो जाते हैं, यदि आदेश एक आत्मा को दिये जायें, और कल्याण किसी अन्य आत्मा का होना हो। करे कोई और भरे कोई—यह तो न्याययुक्त व्यवस्था नही।

३. सगुण और निर्गुण ब्रह्म

ब्रह्मविद्या में सब से कटकी प्रश्न ब्रह्म के सगुण या निर्गुण होने की बावत है। श्रुतियो में परमात्मा को दयालु, न्यायकारी आदि कहा जाता है, साथ ही यह भी कहा जाता है कि वह विशेषणो की सीमाओ में नही आता। बादरायण कहता है कि गुण सबन्ध होते हैं। श्रुतियो में कहा गया है कि यह जड-चेतन रूप जगत् उसके एक पाद में आ जाता है, शेष तीन पाद इससे परे हैं। इसका अर्थ यह है कि जो कुछ भी हम परमात्मा की बावत सृष्टि पर चिन्तन करने से जान सकते हैं, वह हमें उसे एक अश में दिखाता है, इस अश के अतिरिक्त, उसका स्वभाव हमारे लिए अज्ञेय है। जहाँ तक इस अश का सबन्ध है, ब्रह्म सगुण है, जहाँ तक उसकी शेष प्रकृति का सबन्ध है, वह, हमारी अल्प बुद्धि के लिए निर्गुण है। पश्चिम में इसी प्रकार का विचार स्पिनोजा ने प्रकट किया। स्पिनोजा के विचार में ब्रह्म के असख्य विशेषण हैं, परन्तु हमारी बुद्धि उनमें से केवल दो विशेषणो को जान सकती है। वह दो विशेषण चेतना और विस्तार हैं।

सगुण और निर्गुण के विवाद में कुछ विचारक 'गुण' को विशेषण के अर्थ में नही, अपितु सद्वृत्ति के अर्थ में लेते है। वे कहते हैं कि परमात्मा में अच्छे गुणो का भाव है और बुरे गुणो का अभाव है। सगुण उपासना में हम उन गुणो का ध्यान करते हैं, जो उसमें पाये जाते हैं, निर्गुण उपासना में उन गुणो का ध्यान करते हैं, जो उसमें मौजूद नही। दोनो में हम चिन्तन करते हैं—'परमात्मा ऐसा है, वैसा नही।'

इस प्रश्न के साथ ही मिला हुआ प्रश्न जीव और ब्रह्म का सबन्ध है। कुछ लोग दोनो की समानता पर जोर देते हैं, कुछ असमानता पर। कुछ लोग समानता को अभेद तक ले जाते हैं। सूत्रकार ने जागरण और स्वप्न का भेद बताते हुए स्वप्न को मायामात्र कहा है। इसका अर्थ यह है कि उसकी सम्मति में जागरण और उनके अनुभव मायामात्र नही। अनुभवी की सत्ता में तो सन्देह ही नही।

जीव और ब्रह्म दोनो आत्मा है—एक निरा आत्मा है, दूसरा परम आत्मा। बादरायण दोनो की असमानता पर जोर देता है। सूत्र ३ २ २६ में ब्रह्म को 'अनन्त' कहा है, सूत्र ३ २ ३१ में उसे 'परम' कहा है। पिछले सूत्र में उसे 'सेतु' और 'उन्मान' कहा है, और उसके 'सवन्ध' और 'भेद' का जिक्र किया है। यह चार विशेषण परमात्मा की श्रेष्ठता को बताते हैं। वह 'सेतु' (पुल) है, और सब को धारण करता है। वह 'उन्मान' सब से बडा मापक है—उसके एक पाद में सारा विश्व आ जाता है। वह ईश्वरो में परम महेश्वर है, चेतनो में परम चेतन है। वह सब से भिन्न है।

मनुष्यो पर परमात्मा का शासन है, 'वह उन्हें कर्मों का फल देता है, यही युक्तिसगत है' और 'श्रुति भी यही कहती है।' (३ २ ३८–९)

पाद के अन्तिम दो सूत्रो में, सूत्रकार जैमिनि के मत की ओर सकेत करता है और उसे अमान्य बताता है।

'पूर्वोक्त कारणो से, जैमिनि धर्म (कर्म) को फलदाता बताता है।'

'परन्तु बादरायण (सूत्रकार) तो पहले परमात्मा को कर्मफलदाता कह चुका है, श्रुति में ऐसा ही बताया गया है।' (३ २ ४०–४१)

जैमिनि के अनुसार बुरे भले कर्म आप ही अपना फल दे देते हैं, इसमें परमात्मा के हस्तक्षेप की आवश्यकता नही। बादरायण कहता है कि कर्मों का फल नियम या व्यवस्था के अनुसार मिलता है, नियम के लिए नियामक की, व्यवस्था के लिए व्यवस्थापक की आवश्यकता है, इसलिए जड कर्म नही, अपितु चेतन परमात्मा फलदाता है।

४ ब्रह्मधाम में पहुँचने के साधन

अध्याय के तीसरे पाद में प्रमुख विषय ब्रह्म प्राप्ति के साधन हैं। इस विषय को लेने से पहले, सूत्रकार ने पाठक को एक भ्रान्ति से बचे रहने का सुझाव दिया है। उपनिषदो में पुरुष और आत्मा का प्रयोग जीव और ब्रह्म दोनो के लिए किया गया है। असावधान पाठक को इससे भ्रम हो जाता है, परन्तु प्रकरण को देखने से पता लग सकता है कि श्रुति अल्प-पुरुष या परम-पुरुष, जीवात्मा या परमात्मा, की बाबत कह रही है। जहाँ विश्व के सिरजन, पालन-पोषण का वर्णन है, वहाँ अभिप्राय जीवात्मा से नही हो सकता, इसी तरह 'आनन्दमय' आत्मा से भी परमात्मा अभिप्रेत है। जीव और ब्रह्म के भेद के सबन्ध में सूत्र १८-२५ विशेष महत्त्व के हैं।

सूत्र १८ में कहा है कि 'ब्रह्म का कार्य बताये जाने के कारण जीव ब्रह्म नही हो

सकता,' सूत्र २१ में कहा है कि दोनों के नाम और स्थान भिन्न होने से भी, उन्हें एक नही मान सकते। सूत्र २२ और २३ में श्रुति और स्मृति को इसी ख्याल का समर्थक बताया है। सूत्र २५ में उपनिषद् के इस कथन की ओर सकेत किया है कि उपासक को, उपासना द्वारा तेज किये हुए बाण से ब्रह्म को बींधना चाहिये।

ब्रह्म प्राप्ति के दो प्रमुख साधन बताये जाते हैं—'कर्म और ज्ञान।' सूत्रकार कहता है कि शास्त्र में विविध प्रकार के कर्मों का आदेश है, इसी तरह ब्रह्मविद्या भी एक से अधिक रूपो में वर्णन की गयी है, परन्तु यह भेद मार्ग-भेद है, गन्तव्य-स्थान एक ही है। सकाम कर्म के करनेवाले को उसके सकल्प के अनुसार फल मिलता है, और फल भोगने के बाद वह फिर लौट आता है। जिस साधक के कर्म निष्काम होते हैं, वह ब्रह्मलोक में पहुँचकर दिव्य भोगो को भोगता है। इससे भी ऊँची गति उस साधक की है, जिसे ब्रह्मधाम में पहुँचने की कामना भी नही रहती। पूर्ण विवेक होने के कारण उसके भले कर्म भी यही समाप्त हो जाते है। कर्म ही न रहें तो इनकी वासना भी न रहेगी, उसे शेष जीवन में, और ब्रह्मधाम में पहुँचने पर किसी प्रकार का उपभोग—दिव्य या अदिव्य—नही होता। वह ब्रह्म में विलीन हो जाता है, उसे अपनी स्वतन्त्र सत्ता का बोध ही नही रहता।

आत्म-उन्नति मे कर्म का बड़ा महत्त्व है, परन्तु ब्रह्मज्ञान का महत्त्व उससे भी अधिक है। उपनिषदो में कहा है कि जो ज्ञानी पुरुष अपने हृदय में स्थित परमात्मा को देखते हैं, उन्हें स्थायी आनन्द प्राप्त होता है, दूसरो को नही होता। यह भी कहा है कि ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष का अकेला साधन है। वेदान्त सूत्रो में इसी विचार को माना है।

अन्तिम उद्देश्य को अभावात्मक और भावात्मक रूपो में वर्णन किया गया है। पहले रूप में, लक्ष्य दुखो और त्रुटियो से विमुक्त होना है; दूसरे रूप में यह भावात्मक स्थिति की प्राप्ति है। वेद मन्त्र में कहा है कि अविद्या (विद्या से अतिरिक्त=कर्म) से मनुष्य मृत्यु से पार होता है, विद्या से अमरत्व प्राप्त करता है। सूत्रकार ने भी यही ख्याल प्रकट किया है।

अन्तिम सूत्रो में कर्म काड के सबन्ध मे कहा है कि प्रत्येक यज्ञ के साथ मन्त्रो द्वारा उपासना की विधि है, परन्तु मत्रो का आशय एक होने से इसमें कोई आपत्ति नही कि कोई भी मन्त्र किसी यज्ञ में पढे जायँ। यज्ञ-कर्म भी विविध प्रकार के बताये गये हैं। ये सब विविध मार्गो की भाँति एक ही लक्ष्य की ओर ले जानेवाले हैं, इनमें से जौन-सा साधक को अपनी स्थिति में उपयोगी दिखाई दे, उसे अपना लेना चाहिये; 'उपासनाओ का समुच्चय बतानेवाली श्रुति नही है।' (३ ३ ६५)

कर्म योग और ज्ञान योग

अध्याय के चौथे पाद में प्रमुख प्रश्न ज्ञान और कर्म की तुलना है। जैमिनि की पूर्व मीमांसा कर्ममीमांसा है, बादरायण के ब्रह्मसूत्र ज्ञानमीमांसा हैं। परमपुरुषार्थ तो ब्रह्म की प्राप्ति है, विवाद का विषय यह है कि इस पुरुषार्थ में ज्ञान और कर्म का स्थान क्या है, और इन दोनों में पूर्वता किसकी है। प्राचीन यूनान में भी यह प्रश्न महत्त्व का प्रश्न था। प्लेटो और अरस्तू दोनों ने राजनीति को दार्शनिक विवेचन का विषय बनाया, परन्तु दोनों सामयिक राजनीति से अलग रहे, वे राजनीतिक-दार्शनिक थे, राजनीतिज्ञ न थे। इस पर भी जो महत्त्व प्लेटो ने दार्शनिक विवेचन को दिया, वह उसे अरस्तू ने नहीं दिया। जैसा एक चित्रकार ने दर्शाया है, प्लेटो की दोनों आँखें आसमान की ओर उठी थी, अरस्तू की एक आँख ऊपर उठी थी, दूसरी पृथिवी पर जमी थी। इसी प्रकार का भेद बादरायण और उसके शिष्य जैमिनि में था।

पाद के पहले दो सूत्रों में इस भेद को बयान किया है—

'पुरुषार्थ की सिद्धि ब्रह्मज्ञान से होती है, क्योंकि श्रुति ऐसा ही कहती है, यह बादरायण का मत है।' (३ ४ १)

'जैमिनि का मत यह है कि जैसे यज्ञकर्म के अन्य शेष हैं, वैसे ही ज्ञान है, और इस स्थिति में इसे पुरुषार्थ का हेतु कह लेते हैं।' (३ ४ २)

जैमिनि के विचारानुसार परम लक्ष्य की सिद्धि के लिए नियत कर्म करना आवश्यक है। कर्म करने के लिए कर्म और कर्म-विधि का जानना जरूरी है। ज्ञान का मूल्य एक सहायक का मूल्य है। हमारी आँखें देखती हैं, क्योंकि देखेबिना हम न कहीं आ जा सकते हैं, न कुछ भली प्रकार कर सकते हैं। अमेरिका में भी आजकल दार्शनिक ज्ञान को कर्म के सहायक रूप में ही देखते है।

दोनों दृष्टिकोणों का भेद वर्णन करने के बाद बादरायण उन दलीलों का जिक्र करता है, जो जैमिनि के पक्ष में दी जाती हैं। वे दलीलें ये है—

(१) '(श्रेष्ठ पुरुषों का) आचार देखने से। ऐसा ही सिद्ध होता है।' (३ ४ ३)

(२) 'श्रुति भी इसी के पक्ष में है।' (३ ४ ४)

(३) 'ज्ञान ही नहीं, कर्म भी मनुष्य के साथ जाता है, इससे भी (यही सिद्ध होता है)।' (३ . ४ ५)

(४) 'ज्ञानी पुरुष के लिए भी कर्म का विधान होने से (यही सिद्ध होता है)।' (३ . ४ ६)

(५) 'कर्म करने का स्पष्ट आदेश विद्यमान होने से (यही सिद्ध होता है)।' (३ ४ ७)

पहला हेतु यह है कि जिन लोगो ने ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर लिया, उन्होने भी नियत कर्तव्य का त्याग नही किया। शेष हेतु श्रुति का सहारा लेते है—श्रुति ज्ञान को कर्म का अश बताती है, कर्म भी मनुष्य के साथ जाते है, विवेकी पुरुषो को नियत कर्त्तव्य करने का आदेश है, और यह भी कहा गया है कि कर्म बन्धन से विमुक्त होने का उपाय भी नियत कर्म का करना ही है।

बादरायण कहता है कि श्रुतियो में कर्म की प्रशसा की गयी है, परन्तु इनकी अधिक सख्या ज्ञान के पक्ष में है (३ ४ ८)। जहाँ तक भद्र पुरुषो के आचार का सम्बन्ध है दोनो प्रकार के उदाहरण मिलते हैं और इसलिए यह नही कह सकते कि विद्या कर्म का अग है। (३ ४ ९) जिन श्रुतियो में कर्म की बहुत प्रशसा की गयी है, वे विशेष स्थितियो में महत्त्व रखती हैं, हर एक हालत में लागू नही (३ ४ १०)। ज्ञान से तात्पर्य अध्ययन मात्र नही, सत्य का साक्षात् करना है। विशुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से विवाद का विषय जहाँ था, वही रहता है, कारण यह कि बादरायण ने अपने लिए शब्द प्रमाण को अन्तिम निर्णय स्वीकार कर लिया है, और उसका यत्न इतना ही है कि उपनिषदो में उसके मत का खडन नही, जैमिनि-मत की अपेक्षा इसे अधिक समर्थन मिलता है।

साधारण विचार के अनुसार कर्मकाड गृहस्थ आश्रम के लिए है, ब्रह्म ज्ञान के लिए, व्यक्ति को गृहस्थ के झमेलो से विमुक्त होकर इसे ही अपना ध्येय बनाना होता है। सन्यास ब्रह्मविद्या प्राप्ति का काल है। इस ख्याल में दो भ्रान्तियाँ हैं और सूत्र-कार ने इन्हें दूर करने का यत्न किया है—

(१) यह विचार मिथ्या विचार है कि ब्रह्मविद्या की प्राप्ति किसी विशेष आश्रम में होती है। गृहस्थ को भी इस विद्या का उतना ही अधिकार है, जितना सन्यासी को।

(२) यह भी मिथ्या विचार है कि आश्रम बदलने पर, व्यक्ति को नियत कर्म करने की आवश्यकता नही। उपासना आदि कर्म जारी रहने ही चाहिये।

जैमिनि कर्म का समर्थक है। उसकी सम्मति में आश्रम बदलना आवश्यक नही। बादरायण का ख्याल है कि गृहस्थ की तरह दूसरे आश्रमो का अनुष्ठान भी कर्तव्य है। (३ ४ ८१, १९)

बादरायण ने अपना मत सूत्र ३ ४ २५–२६ में वर्णन किया है—यज्ञ आदि ब्रह्मविद्या में सहायक साधन हैं, ब्रह्म ज्ञान भी यज्ञ ही है, जिसमें अग्नि, समिधा, जैसी सामग्री की आवश्यकता नहीं होती।

यहाँ तक साधारण मनुष्यो और ज्ञानियो की स्थिति एक समान होती है, इसके बाद भेद होता है। ब्रह्मज्ञानी, सूक्ष्म शरीर के साथ 'देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक में पहुँचते है।' साधारण मनुष्य सूक्ष्म शरीर के साथ किसी नये स्थूल शरीर मे अपना काम फिर आरभ कर देते है। सूक्ष्म शरीर, जो वासनाओं का समुदाय होता है, स्थूल शरीर के दाह के साथ जल नही जाता। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति हर नये जीवन को कोरी स्लेट के साथ आरभ नही करता, अपितु यात्री की भाँति प्रत्येक जीवन की यात्रा वहाँ से आरभ करता है जहाँ पूर्व जन्म में पहुँचा था।

जो साधक जन्म-मरण की कैद से छूट चुका है, उसकी बाबत लबे सूत्र ४ २ १७ में कहा है—

'हृदय का अग्र भाग प्रकाशित हो जाता है, इस प्रकाश से आत्मा के बाहर निकलने का द्वार प्रकाशित होता है। ब्रह्मविद्या के प्रभाव और सस्कारो के योग से, परमात्मा के अनुग्रह से, आत्मा १०१वी नाडी (सुषुम्ना) से बाहर निकल जाता है।'

सूर्य की किरणो पर, ब्रह्मलोक में पहुँच जाता है। जहाँ या जब भी मृत्यु हो, यान पर इसका असर नही पडता।

३. ब्रह्म लोक और कार्य ब्रह्म लोक

जो साधक जन्म-मरण के बन्धन से पार हो जाते हैं, उनकी गति की बाबत मतभेद है। इस मतभेद पर तीसरे और चौथे पादो मे प्रकाश डाला गया है। ब्रह्मलोक में वह साधक पहुँचते हैं, जिनकी कोई कामना नही रही, इनके लिए किसी प्रकार के उपभोग का प्रश्न ही नही उठता। अन्य उपासको के लिए कार्य ब्रह्म या ब्रह्मा-लोक में गति कही गयी है।

परब्रह्म के लोक को प्राप्त होनेवाले ज्ञानी हर प्रकार के बन्धन से मुक्त होते हैं। वे शुद्ध आत्मा ही होते हैं, इसलिए उनकी हालत में बन्धन हो ही नही सकता। वे परमात्मा में ऐसे विलीन हो जाते है कि उन्हें अपने पृथक् होने का भाव ही नही रहता। यहाँ उनकी स्थिति की बाबत मतभेद हो जाता है। जैमिनि के अनुसार मुक्त आत्मा ब्रह्म के सदृश ही हो जाता है, उसे भी ब्रह्म का आनन्द अनुभव होता है। औडुलोमि के अनुसार, मुक्त आत्मा केवल चेतनमात्र होता है, उसमें ज्ञान का तत्त्व तो होता है, भाव का अश नही होता। बादरायण कहता है कि इन दोनो विचारो और उसके अपने विचार में कि मुक्त पुरुप को परमात्मा से पृथक् होने का बोध नही रहता, कोई विरोध नही। मुक्त आत्मा के भावानुसार तीनो में मे कोई स्थिति हो सकती है।

जो साधक परब्रह्म को प्राप्त नही करते, केवल कार्य-ब्रह्म तक ही पहुँचते हैं, उनकी स्थिति क्या होती है?

वह भोग भोगते हैं। उनके भोगो में इन्द्रियो का कोई स्थान है, या नही?

वादरि के मत में, वहाँ शरीर का अभाव है, इसलिए सारे भोग मानसिक है। स्वप्न में हमारी इन्द्रियाँ काम नही करती, तो भी मन भोग भोगता है, मुक्त पुरुषो की हालत में ये विद्यमान ही नही होती। जैमिनि के अनुसार मुक्त आत्मा के साथ शरीर का अस्तित्व होता है, इसलिए वह शारीरिक भोग भी भोग सकता है। यहाँ फिर वादरायण कहता है कि वादरि और जैमिनि दोनो के विचार ठीक हैं, शरीर का मिलना या न मिलना साधक के सकल्प पर निर्भर है।

शरीर के मिलने का अर्थ यह नही कि यह किसी वाह्य अनुग्रह से प्राप्त होता है। मुक्त आत्मा में यह शक्ति होती है कि वह अपने लिए जिस प्रकार का शरीर चाहे, वना ले। यही नही, एक ख्याल के अनुसार, वह एक साथ कई शरीर वना सकता है और उनमें प्रविष्ट होकर नाना प्रकार के भोग भोग सकता है।

मुक्त आत्मा की शक्ति वहुत होती है, परन्तु यह असीम नही होती। जगत् की रचना आदि क्रियाओं में उसका अधिकार नही होता।

पहले कह चुके हैं कि जो लोग सकाम कर्म करके चन्द्रलोक में पहुँचते हैं, वे कर्म-फल भोगने के वाद मर्त्यलोक में लौट आते हैं। जो आत्मा ब्रह्मा के लोक या परब्रह्म के लोक में पहुँचते हैं, उनका पुनर्जन्म भी होता है या नही? इस प्रश्न के उत्तर के साथ उत्तर मीमासा समाप्त होती है। अन्तिम सूत्र यह है—

'(ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए आत्मा के लिए) पुनरागमन नही होता, श्रुति वचन से ऐसा सिद्ध होता है।'

वाक्य का दुहराना पुस्तक की समाप्ति की सूचना है।

बुद्ध और बौद्ध दर्शन

१. पृष्ठ भूमि

१. सिद्धार्थ गौतम

सिद्धार्थ गौतम जो पीछे गौतम बुद्ध के नाम से विख्यात हुआ, कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के यहाँ पैदा हुआ। उसकी माता का नाम माया या महामाया था। स्वयवर में उसका विवाह यशोधरा के साथ हुआ। उनके एक पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम राहुल रखा गया।

सिद्धार्थ के जीवन के सबन्ध में तथ्य और कल्पना ऐसे ओतप्रोत हैं कि निश्चय-पूर्वक कुछ कहना कठिन है। सिद्धार्थ की शिक्षा वैसी ही हुई, जैसी किसी राजपुत्र की हालत में हो सकती थी। भोग के सारे सामान विद्यमान थे, यशोधरा की दासियाँ भी उसे घेरे रहती थी।

कहते हैं कि उसका हृदय बहुत कोमल और सूक्ष्मग्राही था। एक दिन उसने एक पुरुष को हल चलाते देखा। हल के फार से अनेक कीडे कट रहे थे, हरवाहा बैलो को कभी डडे से मारता था, कभी उनकी पूँछ को ऐंठता और खीचता था, स्वय उसका मुख पसीने से तर था। जीवन के लिए भोजन आवश्यक है, और भोजन की प्राप्ति के लिए कीडे मरते हैं, पशुओ को कष्ट दिया जाता है, और मनुष्य आप भी दुखी होता है। यह सौदा सस्ता है या महगा? फिर एक दिन वह बाहर गया और उसने एक रोगी को तथा एक वृद्ध पुरुष को देखा। आगे देखा, तो एक मृत शरीर को कुछ लोग विलाप करते दाहकर्म के लिए ले जा रहे थे। उसे बताया गया कि जीवन की यात्रा में बडे छोटे हर एक को इन मजिलो से गुज़रना होता है। इस तीव्र अनुभव से उसके कोमल हृदय पर चोट लगी। उसने निश्चय किया कि जीवन की स्थिति को समझे, और सभव हो तो रोग के इलाज़ का पता लगाये। कपिलवस्तु अपने भोग विलास के साथ इसके लिए कोई उपयोगी स्थान न था। गृहस्थ जीवन त्याग कर सन्यास लेना प्रथम अनिवार्य पग था।

सिद्धार्थ ने २९ वर्ष की उम्र में घर छोडा। उसने स्वय कई वर्ष पीछे कहा कि

मैंने पिता और अन्य सवन्धियो की इच्छा के विरुद्ध अपने बाल काट दिये, सन्यास ले लिया। परन्तु प्रचलित कथा इस परिवर्तन को मनोरजक रूप देती है। सिद्धार्थ यशोधरा के साथ सोया था, उठा, नन्हे राहुल को चूमा, और रथी छन्दक को अपने निश्चय से परिचित किया। छन्दक ने गौतम के प्रिय घोडे कथक को तैयार किया। लोहे के बडे द्वार जो तालो से बन्द थे, अपने आप खुल गये, चौकीदार आदि सब बेहोश हो गये, कथक के पाव की आवाज़ और अन्य शब्द अश्रुत हो गये। गौतम कथक पर सवार, छन्दक को साथ लिये, राजगृह से भागा। काफी दूर पहुँचने पर, उसने तलवार से अपने बाल काटे, और छन्दक को कथक और तलवार के साथ वापस किया, अपने वस्त्रो को एक भिखारी के वस्त्रो मे बदला, और अपने आपको एक उच्च उद्देश्य के साथ विशाल दुनिया में फेंक दिया।

२. जिज्ञासा के छ: वर्ष

सिद्धार्थ गौतम क्षत्रिय था और राजघर में पैदा हुआ था। उसकी शिक्षा इस प्रकार की न हो सकती थी, न थी, जो उसे सीधा प्रचार का काम करने के योग्य बनाती। साधुओ के लिए योग और तपस्या दो प्रक्रियाएँ होती थी, गौतम ने इन दोनो की ओर ध्यान दिया। अन्य साधुओं में वह 'मित्र गौतम' के नाम से पुकारा जाता था। योग क्रिया सीखने के लिए वह आलार कालाम के पास पहुँचा, और जो कुछ उससे सीख सकता था, सीखा। इसके बाद उसने उद्धक से योग-शिक्षा प्राप्त की। जैसा हम आगे देखेंगे, आलार कालाम और उद्धक की शिक्षा ने गौतम पर गहरा प्रभाव डाला, उसकी अपनी शिक्षा योग-सिद्धान्त का रूपान्तर ही है।

योग सीखने के बाद या इसके साथ ही, उसने तपस्या आरभ कर दी।

इन्द्रियाँ हमारे करण हैं, इनका काम हमें उद्देश्य की पूर्ति में सहायता देना है। जब यह शासक बनने की चेष्टा करती हैं, तो यह करण नही रहती। इसका फल पतन होता है। तपस्या का उद्देश्य ऐसे पतन का रोकना है। शरीर की क्रिया में से भोग का अश निकाल दिया जाता है। कमान को सीधा करने के लिए, उसे विपरीत दिशा में ऐंठना पडता है, इसी तरह भोग-आसक्ति का प्रभाव दूर करने के लिए, हम विपरीत दिशा मे चलते हैं, शरीर को कष्ट देते हैं, और इसकी उचित आवश्यकताओं की ओर भी उदासीन हो जाते हैं। गौतम ने भी तपस्या को इसी दृष्टिकोण से देखा। खाने में स्वाद की उपेक्षा ही नहीं की, अपितु इसकी मात्रा बहुत कम कर दी। शारीरिक अगो का टूटना तो जारी रहा, उनके स्थान में नये अगो का बनना बन्द हो गया। इसके फलस्वरूप शरीर बहुत दुर्बल हो गया। भोग-वासना को समाप्त करने के लिए

घृणित पदार्थों को आहार बनाया, कहते हैं, इनमें मल भी शामिल था। काँटो पर सोना आरभ किया। इससे उसका शरीर अस्थिपिंजर ही हो गया। एक दिन गाने-बजाने वालो की एक मडली वन में उसके पास से गुज़री। एक पुरुष सितार बजाता था और एक युवती एक मधुर गीत गा रही थी। गीत का आशय यह था—

'अपने सितार के तारो को इतना न कसो कि टूट ही जायँ, ऐसी अवस्था में उनसे राग क्या निकलेगा? न इतना ढीला रखो कि उनसे शब्द ही न निकले। यदि तुम तारो को ठीक कसोगे, तो राग सुननेवालो के दिल भी नाचने लगेंगे।'

मडली तो गुज़र गयी परन्तु जाते-जाते गौतम के जीवन मे पलटा दे गयी। उसे ख्याल आया कि गायिका गीत में उसे ही सबोधित करती थी, वह अपने शरीर के तारो को इतना कस रहा था कि बाजा ही न रहेगा। वह तो घर से कुछ करने के लिए निकला था, घोर तपस्या उसे इसके अयोग्य बना देगी। वातावरण को बदलने के लिए, उसने उस स्थान को छोडा और एक और वृक्ष के नीचे जा डेरा लगाया। सुजाता नाम की स्त्री ने उसे कुछ खाने को दिया। उसी रात, गौतम को प्रतीत हुआ कि उसके ज्ञान-चक्षु के सामने से सारे आवरण हट गये हैं और जिस बोध के लिए उसने परिव्राजक का जीवन ग्रहण किया था, वह उसे प्राप्त हो गया है। घर से निकलने पर सिद्धार्थ गौतम 'मित्र गौतम' बन गया था, बोध के बाद, मित्र गौतम 'बुद्ध' बन गया। अब गौतम बुद्ध ही उसका विख्यात नाम है।

२ बुद्ध, बोधिसत्त्व, अर्हन्त, तथागत

बुद्ध अपने लिए प्राय 'तथागत' नाम का प्रयोग करता था—'तथागत यह कहता है', 'तथागत वह कहता है।' उसके कथनो में अनेक बार यह शब्द भी आते हैं—'जब मैं 'बोधिसत्त्व' था।' बौद्ध प्रयत्न का उद्देश्य 'अर्हन्त' बनना है, अर्हन्त उन्नति की यात्रा समाप्त कर लेता है। इन चारो शब्दो के आशय को समझने की आवश्यकता है।

बुद्ध और बोधिसत्त्व

भारत के विचारानुसार, हमारा वर्तमान जीवन एक लबी जजीर की कडी है। अनेक जन्म इससे पहले बीत चुके हैं और अनेक जन्म इसके बाद बिताने होंगे। जन्म-मरण का यह सिलसिला समाप्त होना ही मोक्ष है, इसी को बौद्ध परिभाषा में निर्वाण कहते हैं। 'जातकों' में बुद्ध के अनेक पूर्व जन्मो का वर्णन है। एक जन्म में वह ब्राह्मण था, और उसने अपने आपको एक शेरनी के आगे फेंक दिया, ताकि वह कुछ खाकर

अपने भूखे बच्चो को दूध पिला सके। एक और जन्म में वह शेर था, जिसने अन्य शेरो को निढाल करके एक शेरनी को जीता था। एक भिक्षु ने बुद्ध से पूछा कि उसने यशोधरा के साथ विवाह का निश्चय क्यो किया था। बुद्ध ने कहा कि यशोधरा की साडी की धारियाँ उस शेरनी की खाल की धारियो से मिलती थी, और उसने यशोधरा में एक पूर्वजन्म की पत्नी को देखा। जब कोई मनुष्य अनेक जन्मो के प्रयत्न से पूर्णता-प्राप्ति के निकट पहुँच जाता है, तो उसे 'बोधिसत्त्व' कहते हैं—अर्थात् 'बुद्ध बनने वाला।' बोध-जन्म से पहला जन्म बोधिसत्त्व-जन्म होता है।

अन्तिम जन्म में बुद्ध ने छ वर्ष तपस्या मे गुजारे, और इस तपस्या से उसे बहुत लाभ नही हुआ। बुद्ध की हालत में, यात्रा की समाप्ति सत्ता के दर्शन का फल थी, उसे बोध हुआ और उसके सारे बन्धन टूट गये।

गौतम बुद्ध न पहला बुद्ध था, न अन्तिम बुद्ध। उससे पहले भी कुछ लोगो को बोध प्राप्त हुआ था और उसके बाद भी बोध की सभावना समाप्त नही हुई। एक आनेवाले बुद्ध 'मैतेइया' की बाबत उसने कहा कि गौतम बुद्ध के सघ में तो सैकडो भिक्षु थे, 'मैतेइया' के सघ में सहस्रो होगे।

तथागत बुद्ध अपने आपको 'तथागत' (पथिक, यात्री) कहता था। 'तथागत' का अर्थ है—'वैसे गया' या 'वैसे आया।' पहले अर्थ का आशय है—'जैसे आया, वैसे गया', दूसरे का आशय है—'जैसे उससे पूर्व बुद्ध आये थे वैसे वह भी आया।' स्वय बुद्ध ने अपने एक उपदेश में 'तथागत' के आशय पर प्रकाश डाला। उसने कहा—

'जिस दिन तथागत को पूर्ण-बोध होता है, उस दिन से देह के अन्तिम अन्त के दिन तक, तथागत जो कुछ कहता है, वह निश्चय सत्य ही होता है, सत्य के विपरीत नही होता, इसलिए वह तथागत कहलाता है।

जैसा तथागत का कथन होता है, वैसा ही उसका कर्म होता है, जैसा उसका कर्म होता है, वैसा ही उसका कथन होता है। चूँकि उसके वचन और कर्म में भेद नही होता, इसलिए वह तथागत कहलाता है। विश्व में जिसके साधु, ब्राह्मण, देव, मार (पिशाच), ब्रह्मा शामिल हैं, तथागत सर्वविजयी होता है, किसी से पराजित नही होता, वह सर्वज्ञ है और शासक है, इसलिए वह तथागत कहलाता है।'

इस कथन में, बुद्ध ने अपनी बाबत कहा कि उसे सत्य का पूर्ण ज्ञान है और उसके कथन और आचरण में भेद नही। इसके साथ यह भी दावा किया कि उसका ज्ञान और शक्ति अनन्त हैं, और वह विश्व में सब पर शासन करता है।

मरण स घृणा होने पर भी तृष्णा पीछा नही छोडती, इनसे छूटने की तृष्णा विद्यमान हो जाती है।

यदि दुख सत्ता का पृथक् न हो सकनेवाला अश होता तो स्थिति और भी भयावनी होती, परन्तु दुख तृष्णा पर आश्रित है, इसलिए इसकी निवृत्ति सभव है। इस निवृत्ति का उपाय अप्टाग आर्य मार्ग पर चलना है। इसके अनुसार आचरण करने से सारे वधन कट जाते हैं, और साधक अपने उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है।

चार आर्य सत्य ये हैं—

(१) जीवन में दुख की वडी मात्रा विद्यमान है।

(२) दुख का कारण तृष्णा है, जीवन से चिपटे रहने की इच्छा है।

(३) दुख की निवृत्ति सभव है।

(४) इस निवृत्ति का अचूक और एक मात्र उपाय अप्टाग आर्य मार्ग पर चलना है।

यहाँ हम देखते है कि बुद्ध के लिए समस्या वही थी, जो साख्य दर्शन के लिए थी। साख्यकारिका का आरभ यही है कि तीन प्रकार का दुख चोट लगाता है और इस दुख से छूटने के उपायो की बावत जानने की जिज्ञासा होती है। वुद्ध ने जिन दुखो का वर्णन किया है, वे साख्य के तीन प्रकार के दुखो से भिन्न नही। जन्म और मरण आधिदैविक या दैवाधीन दुख है, जरा आध्यात्मिक दुख है, सताप, विलाप आदि प्राय अन्य प्राणियो से आते है। साख्य ने एक प्रकार के वोध को दुख की अत्यन्त निवृत्ति का कारण वताया, योग ने कहा कि इस प्रकार के वोध के लिए कठिन और निरन्तर अनुशासन की आवश्यकता है। स्वय वुद्ध की हालत में पूर्व जन्मो के सस्कार तो विद्यमान थे, परन्तु वोध आकस्मिक प्रकाश के रूप में हुआ। ऐसा प्रकाश एक अपवाद है। साधारण अवस्था में अर्हन्त पद की प्राप्ति के लिए निरन्तर अनुशासन की आवश्यकता है। इस अनुशासन का वर्णन 'अप्टाग आर्य मार्ग' में किया गया है। इस तरह वुद्ध की समस्या और उसका समाधान साख्य और योग के वहुत निकट हैं।

प्रथम उपदेश में हम देखते हैं कि वुद्ध के सम्मुख एक व्यावहारिक प्रश्न था। उसने दार्शनिक विवेचन को कुछ पीछे ही रखा। ४५ वर्ष के लवे काल में, अपने उपदेश में उसने इसी दृष्टिकोण को अपनाया, दर्शन की उपेक्षा नही की, ऐसा करना तो सभव ही न था, परन्तु नीति की अपेक्षा इसे गौण स्थान ही दिया।

अव चार शुभ सत्यो और अप्टाग मार्ग पर कुछ विचार करें।

४ चार शुभ सत्य

इन सत्यो में पहला सत्य दुख की मौजूदगी है। दुख विद्यमान है, और काफी मात्रा में विद्यमान है, इससे तो इनकार हो ही नही सकता। परन्तु जितना महत्त्व बुद्ध ने दुख को दिया, वह अनुचित प्रतीत होता है। दुख के साथ सुख भी तो विद्यमान है। इनमें अधिक मात्रा दुख की है या सुख की है—यह विवाद का विषय बना रहा है। अभद्रवादी कहता है कि जीवन दुखमय ही है, जब कभी इसकी मात्रा कम हो जाती है तो हम उसे सुख कहते है। बुद्ध का झुकाव इसी ओर है। एक बार उसने कुछ भिक्षुओ से पूछा—'जितने आँसू तुमने (पूर्व जन्मो में) बहाये हैं, उनकी मात्रा अधिक है, या चार समुद्रो के जल की मात्रा अधिक है?' भिक्षुओ ने कहा—'जो आँसू हमने बहाये हैं, उनकी मात्रा अधिक है।' बुद्ध ने कहा—'ठीक है', और फिर पूछा—'जितना दूध तुमने माता के स्तनो से पिया है, उसकी मात्रा अधिक है, या चार सागरो के जल की मात्रा अधिक है?' भिक्षुओ ने कहा—'जो दूध पिया है, उसकी मात्रा अधिक है।' बुद्ध ने कहा—'ठीक है।'

इस वार्ता में बुद्ध ने दुख के साथ सुख के अस्तित्व को भी स्वीकार किया, परन्तु प्रतीत होता है कि आँसू तो सदा उसकी दृष्टि में रहे, माता का पिलाया दूध दृष्टि से ओझल हो गया। जन्म और मरण के दुख की बाबत इतना कुछ कहा जाता है, परन्तु जीवन का आरभ और अन्त दोनो अल्प काल में हो जाते हैं, जन्म के दुख की बाबत किसी को याद नही, और मृत्यु अभी आयी नही। कुछ लोग वृद्ध होते हैं, परन्तु बुढापे के भी अपने उज्ज्वल पक्ष हैं। रोग से हम पीडित होते हैं, परन्तु रोग का समय जीवन का अति अल्प भाग होता है। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि जो दुख दीर्घ होता है, वह तीव्र नही रहता, और जो तीव्र होता है, वह दीर्घ नही होता।

दु ख का अस्तित्व तो असदिग्ध है, इसकी चोट से बचने का यत्न करना भी हमारी प्रकृति है। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि हम तथ्य को दूसरी ओर से न देखे और दु खवादी या निराशावादी हो जायें।

बुद्ध ने अपने दूसरे शुभ सत्य में कहा कि दुख का कारण तृष्णा है। यह एक तरह से सत्य है, तृष्णा न हो, तो तृष्णा-जन्य क्रिया न होगी, और उसके सफल-असफल होने का प्रश्न ही नही उठता। जो पुरुष विवाह नही करता, उसे पुत्रो की बीमारी का दुख नही हो सकता, परन्तु यह फिर तथ्य को केवल एक ओर से देखना है। ऐसा पुरुष अपने बच्चो को चूम नही सकता, उनके साथ खेल नही सकता।

मनोविज्ञान की दृष्टि से यह कहना भी ठीक नही कि दुख तृष्णा से ही उत्पन्न

होता है। बैठे-बैठे एक मनुष्य के सिर पर पत्थर आ लगता है और वह घायल हो जाता है। यहाँ उसका दुख शारीरिक अशो के क्षय होने पर निर्भर है, इसमें तृष्णा का सबन्ध नही। तृष्णा ही दुख का अकेला कारण नही, और यह भी ठीक नही कि तृष्णा अपने आप में दुखद है। जब हमारी कामना पूरी नही होती, तो हम दुखी होते हैं। हमारी सारी कामनाएँ पूरी नही होती, परन्तु सारी असफल भी तो नही होती। बीमारी दुखद होती है, परन्तु उसका इलाज हो सके तो रोगी को ढारस बंध जाता है। बुद्ध ने दुख की निवृत्ति को सभव कहा, और अष्टाग मार्ग मे इसके इलाज को देखा। नैतिक दृष्टिकोण से, जो बुद्ध का प्रमुख दृष्टिकोण था, अष्टाग मार्ग बुद्ध की शिक्षा का केन्द्र है। अब हम इसकी ओर देखें।

५ अष्टाग आर्य मार्ग

अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए जिस अनुशासन में से गुज़रना होता है, उसके आठ निम्न अग हैं —

(१) शुभ (ठीक) विचार,

शुभ (ठीक) विचार से सत्य ज्ञान अभिप्रेत है। इसके अन्तर्गत चार सत्यो का ज्ञान आता है—दुख विद्यमान है, दुख तृष्णा से उत्पन्न होता है, दुख से छूटना सभव है, इस मोक्ष का उपाय मध्यमार्ग या अष्टाग मार्ग पर चलना है।

(२) शुभ (ठीक) उद्देश्य या लक्ष्य,

त्याग, अद्वेष, अहिसा—यह ठीक लक्ष्य है।

(३) शुभ (ठीक) वचन,

शुभ वचन में निम्न सम्मिलित है—

असत्य न कहना, चुगली न खाना, गाली न देना, व्यर्थ बकवाद न करना।

(४) शुभ (ठीक) कर्म,

इसमे 'पचशील' आते है। जो सूचियाँ दी जाती हैं, उन सब में अहिसा, दूसरे का माल बिना आज्ञा के न लेना, व्यभिचार से बचना मिलते हैं। कई सूचियो में इन तीनो का ही ज़िकर है। चौथा शील झूठ न बोलना है, और पाँचवाँ मादक द्रव्यो का प्रयोग न करना है।

(५) शुभ जीविका,

जीवन के निर्वाह के लिए कुछ करना ही होता है। अपनी कमाई को शुद्ध कमाई बनाना शुभ जीविका है।

(६) शुभ प्रयत्न,

शुभ प्रयत्न में वह यत्न आता है, जो अपने आप को सयम में रखने के लिए आवश्यक होता है। पाप में प्रवृत्ति करानेवाली स्थितियो के उदय को रोकना चाहिये, जो ऐसी स्थितियाँ प्रकट हो चुकी हैं, उन्हें त्यागना चाहिये। अच्छी स्थितियो को जिनका उदय नही हुआ, पैदा करने का यत्न करना चाहिये, और जो पैदा हो चुकी हैं, उन्हें स्थित और बलवान बनाने का यत्न करना चाहिये।

(७) शुभ ध्यान,

शरीर को अस्थिर मिश्रण समझना चाहिये, और लोभ और निराशा से बचकर उत्सुक और सयमी रहना चाहिये। इसी दृष्टि से ज्ञान, वेदना, क्रिया और सामान्य चेतना को भी देखना चाहिये, क्योकि यह सब भी अस्थिर हैं।

(८) शुभ समाधि,

समाधि मे चार मजिलें हैं। आरभ मे भोग कामनाओ और अशुभ स्थितियो से विमुक्त होकर साधक किसी वस्तु को धारणा और ध्यान का विषय बनाता है। इसके बाद धारणा और ध्यान से परे होकर वह शान्त चित्त होता है और सकल्प-शक्ति को सबल बनाता है। इस अवस्था में वह उत्साह और सुख से भरपूर होता है। तीसरी मजिल में, उत्साह क्षीण हो जाता है, उदासीनता और सयम के साथ सुख का अनुभव बना रहता है। अन्तिम अवस्था में दुख-सुख का अनुभव मिट जाता है, और पूर्ण सतुलन प्राप्त हो जाता है।

६ अष्टाग मार्ग और अष्टाग योग

सन्यास लेने पर गौतम बुद्ध ने सब से पहले आलार कालाम से योग की शिक्षा-दीक्षा ली थी। बोध प्राप्ति पर उसे पहला ख्याल यही आया कि वह आलार कालाम से मिले और उसे अपने बोध की बाबत बताये। यदि यह भेंट हो जाती, तो सभव है इसका परिणाम बहुत महत्त्वपूर्ण होता। बुद्ध के मार्ग में आठ अग है, योग के भी आठ अग हैं।

आत्म-उन्नति की दोनो योजनाओ को एक साथ रखकर उनकी तुलना की चेष्टा करना स्वाभाविक ही है।

बुद्ध का अष्टाग मार्ग	योग के आठ अग
१ ठीक विचार	१ यम
२ ठीक लक्ष्य	अहिंसा,

३ ठीक वचन	सत्य,
झूठ न बोलना,	अस्तेय (चोरी न करना),
चुगली न खाना,	ब्रह्मचर्य,
गाली न देना,	अपरिग्रह (लालच न करना)।
व्यर्थ बकवाद न करना।	२ नियम
४ ठीक कर्म (पचशील)	शौच,
अहिंसा,	सतोष,
दूसरे का माल उसकी आज्ञा के बिना न लेना,	तप,
	स्वाध्याय,
व्यभिचार न करना,	ईश्वर प्रणिधान ।
झूठ न बोलना,	३ आसन
मादक द्रव्यो का प्रयोग न करना।	४ प्राणायाम
५ ठीक जीविका	५ प्रत्याहार (विषयो से सबन्ध) तोडना
६ ठीक प्रयत्न	६ धारणा
७ ध्यान	७ ध्यान
८ समाधि	८ समाधि

बुद्ध की सूची में पहले पाँच अग नीति से सबन्ध रखते हैं, अन्तिम तीन अग योगाभ्यास की क्रिया हैं। योग के अगो में पहले दो नीति से सबन्ध रखते हैं, अगले तीन अभ्यास का आरम्भ हैं, और अन्त के तीन अग अभ्यास क्रिया हैं। जहाँ तक तीन अभ्यास अगो का सबन्ध है, वे दोनो सूचियो में एक ही हैं, अन्तिम दो अगो के लिए तो एक ही शब्दो का प्रयोग हुआ है। छठा अग भी दोनो में एक ही है—ठीक प्रयत्न और धारणा दोनो का उद्देश्य चित्त को एक बिन्दु पर टिकाना है। इसका अर्थ यह है कि योगाभ्यास क्रिया के सबन्ध में बुद्ध ने योगविधि को पूर्णतया अपनाया।

अब नैतिक अश की ओर देखें।

नीति में 'कर्त्तव्य' प्रधान प्रत्यय है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसके जीवन में वैयक्तिक और सामाजिक अशो को अलग करना सभव नही, तो भी चिन्तन के लिए इन्हें अलग-अलग देख सकते हैं। मानव के कर्त्तव्यो में कुछ ऐसे हैं, जिनका सबन्ध अधिकतर उसके अपने जीवन से होता है, कुछ ऐसे होते हैं, जिनका सबन्ध दूसरो के जीवन से अधिक होता है। जो पुरुष ऐसे द्वीप पर जा पडा है, जहाँ और कोई मनुष्य नही, उसके लिए सत्य बोलने, चोरी न करने आदि कर्मो का प्रश्न ही नही उठता, क्योंकि इस आपत्ति ने उसके जीवन को असामाजिक बना दिया है। योग

की सूची में सामाजिक और वैयक्तिक कर्त्तव्यो को यम और नियम का नाम दिया है, और यह वात महत्त्व की है कि प्रथम स्थान यमो को दिया है। बुद्ध की सूची में केन्द्रीय स्थान शुभ आचरण या पचशील का है। बुद्ध ने अपनी व्यवस्था भिक्षुओ के लिए तैयार की। साधुओ का जीवन प्राय लोकसबन्धी जीवन होता है घरवार को वह छोड चुके हैं, सवन्धियो से उनका सवन्ध टूट चुका है। अपना कुछ है ही नही, तो वैयक्तिक जीवन का सकोच अनिवार्य है। सभवत इसी ख्याल से बुद्ध ने कर्तव्यो की वावत विचार करते हुए, लोकसवन्धी जीवन को ही ध्यान में रखा। अव यमो और पचशील को एक साथ देखें।

दोनो सूचियाँ अहिसा को प्रथम स्थान देती हैं। सामाजिक जीवन की नीव ही इस नियम पर है कि व्यक्ति 'जियो और जीने दो' को आचरण की नीव वनाने के लिए तैयार हो। दूसरो की सहायता करना अच्छा है, परन्तु सभव है कि विशेष स्थिति में न मुझ में सहायता देने की क्षमता है, न दूसरो को ऐसी सहायता की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति तो कोई हो ही नही सकती, जिसमें मुझे दूसरो को हानि पहुँचाने का अधिकार हो। अहिसा के साथ सत्य भाषण और ब्रह्मचर्य भी दोनो सूचियो में दिये गये हैं। योग की सूची में, तीसरा यम चोरी न करना है, बुद्ध की सूची में इसके लिए नर्म शब्दो का प्रयोग हुआ है। 'दूसरो का माल उनकी आज्ञा के विना न लो।' सावुओ को कहना कि वे चोरी न करें, अनुचित भापा का प्रयोग है। इस तरह पाँच यमो में चार यम और पचशीलो में चार शील विलकुल एक ही है। पाँचवाँ यम 'अपरिग्रह' है। परिग्रह का अर्थ चारो ओर से समेटना है, अपरिग्रह ऐसे झुकाव से वचना है। गृहस्थो के आचरण में परिग्रह से वचे रहना एक वहुमूल्य अश है। चोरी में एक मनुष्य किसी अन्य मनुष्य के माल को अपना वनाता है, परिग्रह में यह आक्रमण किसी विशेष व्यक्ति पर नही होता। साधुओ के लिए परिग्रह का अवकाश ही नहीं होता, इसलिए बुद्ध के शीलो में इसका ज़िक्र नही। इसके स्थान में बुद्ध ने मादक द्रव्यो से वचे रहने का आदेश दिया। सभव है, उस समय भी आजकल की तरह सावुओ मे गाजा, चरस आदि का प्रयोग प्रचलित रहा हो।

वुद्ध ने अपने 'मार्ग' की वावत कहा कि यह 'सनातन मार्ग' है, जिस पर पहले भी ज्ञानी पुरुप चलते रहे हैं।

७ बुद्ध और योग-विभूतियाँ

योग दर्शन के चार पादो में एक पाद उन विभूतियो का विवरण है, जो योगी

को प्राप्त होती हैं। बुद्ध ने भी अपनी विशेष शक्तियों का वर्णन किया है। उनमें से कुछ ये हैं—

(१) वह चाहे तो शरीर के साथ ब्रह्मलोक तक जा सकता है, वह यह भी कर सकता है कि उसका अपना शरीर तो यहाँ रहे और वह जादू से बनाये शरीर के साथ ब्रह्मलोक में जा पहुँचे।

(२) ध्यान-योग से वह अपने शरीर को अति हलका कर सकता है, और रुई के परतो की तरह आकाश में विचर सकता है।

(३) वह एक रूप से अनेक रूप और फिर अनेक रूप से एक रूप बन सकता है।

(४) वह दीवारो और पर्वतो में से इस तरह गुज़र सकता है, जैसे साधारण मनुष्य वायु में से गुज़रता है।

(५) वह पानी पर चल सकता है और पक्षियो की तरह वायु पर सो सकता है।

(६) वह अपनी बाहु को उठाकर सूर्य और चन्द्र को छू सकता है।

(७) वह पूर्व जन्मो की घटनाओ को याद कर सकता है।

(८) वह दूसरों की मानसिक अवस्था जान सकता है, उनके विचारो और भावो को स्पष्ट देख सकता है।

योग दर्शन में योगी की सिद्धियो की एक लबी सूची दी है। उनमें से कुछ सिद्धियो की ओर हम सकेत कर चुके हैं। बुद्ध ने जिन विभूतियो का दावा किया, वह योग-विभूतियाँ ही है। बुद्ध की शिक्षा योग की शिक्षा थी, और वह कहता था कि अभ्यास की सफलता के चिह्न उसमें मौजूद हैं।

८. दार्शनिक सिद्धात

बुद्ध की शिक्षा में नीति प्रधान थी, तो भी विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्त की ओर से भी वह उदासीन नही रह सकता था।

उसका दार्शनिक सिद्धान्त तीन निम्न धारणाओं में आ जाता है—

(१) ससार में जो कुछ है, अस्थिर है। जो बना है, वह अवश्य टूटेगा।

(२) जीवन दुख से भरा है, दुख की निवृत्ति जीवन की समाप्ति के साथ ही हो सकती है।

(३) नित्य आत्मा का कोई अस्तित्व नही, चेतना और इसके अश सब अनित्य हैं।

इन धारणाओ की वावत तनिक विचार करें।

(१) 'जो वना है, वह अवश्य टूटेगा।'

यह ठीक है, परन्तु वनने और टूटने का अर्थ क्या है? किसी वस्तु का वनना कुछ अशो का नया मयोग है, किसी वस्तु का टूटना उसके अशो का वियोग है। अन्तिम अश तो न वनते है, न टूटते है, यदि वे वनें या टूटें, तो वे अन्तिम अश नही, उनकी वनावट में अन्य अश विद्यमान हैं। दृष्ट जगत् परमाणुओ के सयोग का फल है, और जो कुछ वास्तव में 'परम-अणु' है, वह आप मिश्रित नही हो सकता।

'ससार में जो कुछ है, अस्थिर है।'

यह भी ठीक है, प्रत्येक वस्तु की अवस्था वदलती रहती है। कोई मनुष्य एक नदी में दो वार प्रविष्ट नही होता। जव वह दूसरी वार प्रवेश करता है, तो जिस जल में पहले प्रवेश किया था, वह तो कही नीचे जा पहुँचा है, और प्रवेश करनेवाला भी इस अवधि में वदल चुका है। प्रवेश करनेवाले को लें। जव हम उसकी अवस्थाओ का चिन्तन करते हैं, तो हमारा ख्याल यह नही होता कि क, ख, ग, घ . . असख्य असवद्ध अवस्थाएँ प्रकट होती हैं, हम इन सव अवस्थाओ को सवद्ध समझते है। क ख में वदलती है, ख ग में वदलती है। जैसा जर्मनी के दार्शनिक काट ने कहा, 'कोई स्थायी वस्तु ही वदल सकती है।' हम कोरी अस्थिरता नही देखते, परिवर्तन देखते है।

(२) दुख के अस्तित्व से तो इनकार हो नही सकता, परन्तु जैसा हम देख चुके हैं, वुद्ध ने जीवन को एक पक्ष से ही देखा। जीवन में दुख के साथ सुख भी मौजूद है। सुख देर तक टिका नही रहता, तो दुख भी अस्थिर ही होता है।

(३) वुद्ध की दार्शनिक शिक्षा में सव से अधिक व्याकुल करनेवाला अश आत्मा के सवन्ध में है। वह मनुष्य को पाँच स्कन्धो का समूह वताता है। वह स्कन्ध ये हैं--

शरीर, उपलब्ध ज्ञान, भाव, क्रिया और सामान्य चेतना।

शरीर दृष्ट पदार्थों में एक है, उपलब्ध, भाव और क्रिया प्रत्येक चेतना-अवस्था के तीन पक्ष हैं, सामान्य चेतना इन पक्षो का आश्रय है। इन पाँचो अशो की अस्थिरता में कोई सन्देह नही, परन्तु यह धारणा कि मनुष्य में इनके अतिरिक्त कुछ नही, असदिग्ध नही।

वुद्ध ने प्रमाणो में शब्द प्रमाण को स्वीकार नही किया, प्रत्यक्ष और इस पर आधारित अनुमान को माना। उसके लिए प्रत्यक्ष उसका अपना अनुभव था, इसमें उसने

आत्मा को नही देखा। अनुभव करनेवाला अनुभव है ही नही, अनुभवो में मिल कैसे सकता था?

बुद्ध का उद्देश्य जन्म-मरण के चक्र से छूटना था। उसने अपने अनेक पूर्व जन्मो का ज़िक्र किया। शरीर के अश तो मृत्यु होने पर बिखर जाते है, आता और जाता कौन है? चक्र में कौन पडा है? बुद्ध के विचारानुसार, कर्म समाप्त नही हो जाता, इसका फल चरित्र के रूप में कायम रहता है, और एक जीवन से दूसरे जीवन में पहुँचता है। अस्थिरता की दुनिया में कर्म-नियम स्थिर है, पुण्य और पाप का फल अवश्य मिलता है। यहाँ फिर वही प्रश्न उठता है—'कर्म करता कौन है? और फल कौन भोगता है?' बुद्ध के अनुसार, कर्म होता है, और फल भुगतता है। अनुभववाद हमें इसी परिणाम तक पहुँचाता है।

हमें? हम तो है ही नही, परिणाम तक पहुँचनेवाला कोई नही, केवल 'परिणाम तक पहुँचना' है।

९. कारण-कार्य जजीर

कारण-कार्य सवन्ध हमारे विवेचन में प्रमुख प्रत्यय होता है। इस प्रत्यय में दो निम्न धारणाएँ सम्मिलित हैं—

(१) प्रत्येक घटना किसी कारण का कार्य होती है।

(२) यदि कोई कारण एक अवसर पर किसी कार्य को उत्पन्न करता है, तो, उन्ही हालात में, वह सदा उस कार्य को उत्पन्न करेगा।

पहली धारणा को 'कारण-कार्य नियम', और दूसरी को 'एकरूपता' का नियम कहते हैं।

बुद्ध ने दुख को व्यापक पाया, और इसकी निवृत्ति को अपना लक्ष्य बनाया। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए दुख के कारण का जानना आवश्यक था। बुद्ध को प्रतीत हुआ कि तृष्णा दुख का कारण है—व्यक्ति जीवन से चिपटा रहना चाहता है। दुख और दुख का कारण बुद्ध के चार आर्य सत्यो मे दो पहले सत्य हैं। व्यक्ति जीवन से क्यो चिपटा रहना चाहता है? बुद्ध ने कहा कि इस तृष्णा का कारण अविद्या है, व्यक्ति भूल मे समझता है कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, और इस कल्पित अस्तित्व को बनाये रखने के लिए बेकार यत्न करता रहता है। यदि उसे यह ज्ञान हो जाय कि वह तो सामान्य जीवन का अश है तो अपने यत्न को आप ही छोड देगा। व्यक्तित्व की समाप्ति ही अन्तिम लक्ष्य या निर्वाण है।

इस तरह वुद्ध ने अविद्या को दुख का कारण देखा। यह वही ख्याल है जिसे सास्य और न्याय लेकर चले थे। वुद्ध ने कारण-कार्य सवन्ध को अविद्या→ तृष्णा→दुख तक सीमित नही रखा, अपितु अविद्या और तृष्णा के मध्य में, और तृष्णा और दुख के मध्य में और कडियाँ रखकर एक कारण-कार्य जजीर वना दी।

जजीर की कडियो को 'निदान' कहते है। मूल कारण अविद्या से अन्तिम कार्य दुख तक १२ निदान हैं, इन्हें हम नीचे देते हैं।

(१) अविद्या
(२) सखार (प्रवृत्ति)
(३) विन्नय (वोध)
(४) नाम-रूप
(५) छ इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रिया और मन)
(६) सम्पर्क (विपयो का उपलव्ध ज्ञान)
(७) वेदना (अनुभूति)
(८) तृष्णा
(९) उपादान (ग्रहण, प्राप्ति, पकडना)
(१०) भव (प्रकट होना)
(११) जन्म
(१२) दुख (जरा, रोग, मृत्यु)

भारत में कारण-कार्य नियम नैतिक क्षेत्र में भी स्वीकार किया गया है। यही वुद्ध का भी मत था। जो कुछ व्यक्ति करता है, उसका फल अवश्य भोगना पडता है। कर्म वास्तव में पूरा ही उस समय होता है, जव उसका फल व्यक्त हो जाय। वुद्ध यही कहता था कि वुद्धो का काम मार्ग प्रदर्शन है, मार्ग पर चलना तो पथिक का काम है। इसका अर्थ यह है कि कोई मनुष्य किसी दूसरे को न क्षमा दे सकता है, न क्षमा दिला सकता है।

जैसा हम आगे देखेंगे, इस धारणा के सवन्ध में पीछे वौद्धो मे मतभेद हो गया।

१०. निर्वाण

निर्वाण जीवन-रूपी ज्वाला का वुझना है। यह ज्वाला देहान्त के साथ वुझ नही जाती, मृत्यु के वाद फिर जन्म होता है और यह क्रम जारी रहता है। इसकी

समाप्ति ज्ञान से होती है। ज्ञान चार सत्यो का साक्षात् करना है, और इसके लिए अष्टाग आर्य्य मार्ग पर चलना आवश्यक है।

निर्वाण में मुक्त पुरुष की अवस्था क्या होती है ? वुद्ध की शिक्षा में निपेधात्मक शव्दो का प्रयोग अधिक होता था। पचशील को ही देखें—हिंसा न करो, झूठ न वोलो, चोरी न करो, व्यभिचार न करो, मादक द्रव्यो का प्रयोग न करो। निर्वाण के सवन्ध में तो हम ऐसे शव्दो की आशा करते ही है। सावत्थी के पास एक बार बुद्ध ने भिक्षुओ को कहा—'भिक्षुओ। वहाँ पृथिवी, जल, वायु, तेज, अनन्त आकाश नही, न वहाँ अनन्त चेतना है, न शून्य है, न प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष का लोक है। वहाँ न लोक है, न परलोक है, न सूर्य है, न चन्द्र है। भिक्षुओ ! उस अवस्था को मैं आना, जाना, खडा होना, गिरना, उठना नही कहता, न उसमें स्थिरता है, न चचलता है, न कोई उसका आधार है। वह अवस्था दुख का अन्त है।'

११. भिक्षुसघ

जो पाँच साधु गौतम से, उसकी तपस्या के दिनो में, अलग हो गये थे, वह काशी में 'वुद्ध' का पहला उपदेश सुनकर उसके शिष्य वने। उसके वाद बुद्ध ने अन्य सावुओ को भी अपने सघ में शामिल करने का यत्न जारी रखा। जब कोई पुरुष भिक्षुमडल में लिया जाता था, तो उसे तीन शपथें लेनी होती थी—

(१) मैं वुद्ध की शरण में जाता हूँ।
(२) मैं धर्म की शरण में जाता हूँ।
(३) मैं सघ की शरण में जाता हूँ।

वास्तव में वुद्ध के जीवन काल में पहली प्रतिज्ञा ही महत्त्व की प्रतिज्ञा थी। वुद्ध ने शव्द प्रमाण को स्वीकार नही किया था, इसलिए धर्म वही था, जिसे वह धर्म कहता था। उसके जीवन में सघ में सभी भिक्षुओ की स्थिति एक सी थी, सव के लिए वुद्ध का वचन अन्तिम प्रमाण था। वुद्ध ने सघ का नेतृत्व अपने शरीरान्त तक किया। सघ में दो भिक्षु, जो वुद्ध के निकट सवन्धी भी थे, विशेप महत्त्व रखते थे—आनन्द और देवदत्त। आनन्द वुद्ध का अनन्य भक्त था, वास्तव मे वह वुद्ध का निजी साथी-सेवक था, जो छाया की तरह उसके साथ रहता था। देवदत्त, में जो श्रद्धा थी, वह वुद्ध-भक्ति न थी, धर्म-भक्ति थी। वुद्ध वृद्ध हुआ, तो देवदत्त ने सुझाव दिया कि वह सघ का नेतृत्व छोड दे, और इसे देवदत्त को सौंप दे। वुद्ध ने कहा—'मैं यह काम छोडने के लिये तैयार नही, और छोडूँ भी, तो तुम्हें तो कदापि नही दूँगा।'

देवदत्त बुद्ध से अलग हो गया, और उसने अपना सघ बनाया। यह कुछ समय चला, फिर समाप्त हो गया।

सघ के सबन्ध में एक कठिन स्थिति पैदा हो गयी, जब महाप्रज्ञावती ने, जो बुद्ध की सौतेली माता थी और जिसने सिद्धार्थ को दूध पिलाया था, पति के देहान्त पर पीले वस्त्रो में बुद्ध के पास पहुँची, और सघ में प्रविष्ट होना चाहा। बुद्ध स्त्रियो को सघ में लेने के विरुद्ध था, परन्तु आनन्द के आग्रह करने पर राजी हो गया और उनके लिए बहुत कडे नियम बनाये। कहते है, इस पग के उठाते समय बुद्ध ने कहा कि इस परिवर्तन के कारण बुद्धमत का जीवनकाल १००० वर्ष के स्थान में ५०० वर्ष रह जायगा।

बुद्ध भिक्षुओ को स्त्रियो से दूर ही रखना चाहता था। उसकी मृत्यु से कुछ पहले, आनन्द ने उससे पूछा—

'भगवन! स्त्रियो के सबन्ध में हम कैसा व्यवहार करें?'

बुद्ध ने कहा—'उनसे दूर रहो।'

आनन्द ने कहा—'यदि कभी निकट हो जायें, तो क्या करें?'

बुद्ध ने कहा—'उनसे बातचीत न करो।'

आनन्द ने फिर पूछा—'यदि इस स्थिति में पहले स्त्री कुछ कहना आरभ कर दे?'

बुद्ध ने कहा—'सावधान रहो।'

बुद्ध की मृत्यु ८० वर्ष में हुई। उस समय सघ में ५०० भिक्षु शामिल हो चुके थे। अन्तिम शब्द जो बुद्ध ने अपने शिष्यो से कहे, ये थे—

'भिक्षुओ! मैं तुम्हें फिर याद कराता हूँ कि सारे मिश्रित पदार्थ टूटते है। सावधान रहो।'

१२ हीनयान और महायान

बुद्ध ने अपने जीवन में कुछ लिखा न था। उसकी मृत्यु के बाद एक सभा में उसके उपदेश तीन भागो में लिखे गये। पीछे इनमें परिवर्तन भी होता रहा। समय बीतने पर मन्तव्य के सबन्ध में मतभेद प्रकट हो गये, और बुद्ध के अनुयायी दो शाखाओ में बँट गये। नयी शाखा ने अपने आपको 'महायान' और पुराने विचार के लोगो को 'हीनयान' का नाम दिया। महायान बडा यान है, हीनयान छोटा यान है। पुराने विचार के लोग अपने मत को 'थेरवाद' (पूर्वजो का मत) कहते है।

महायान के अनुयायियो ने अपने सिद्धान्त की बाबत दावा किया कि वह बडा

वौद्ध दर्शन की चार शाखाएँ ये हैं—

(१) वैभाषिक

(२) सौत्रान्तिक

(३) योगाचार

(४) माध्यमिक

पहली दो शाखाएँ हीनवाद की और दूसरी दो महायान की उपशाखाएँ हैं। इन सब के सामने प्रश्न यह था कि स्पष्ट ज्ञान का विषय क्या है ?

वैभाषिक मत

वैभाषिक विचार के अनुसार, प्रत्यक्ष ज्ञाता और अर्थ (ज्ञान-विषय) के स्पष्ट सम्पर्क का परिणाम होता है। वे ज्ञाता (मन) और ज्ञेय (जगत्) दोनो की सत्ता को मानते थे। अस्थिरता प्रकटनों में पायी जाती है, यह प्रकटन किसी स्थिर आलवन के आश्रय ही रह सकते है। प्रत्येक प्रकटन व्यक्त होता है, कुछ समय के लिए स्थिर रहता है, क्षय होता है, और विनष्ट हो जाता है। प्रकटनो का आलवन कायम रहता है। सारे वाह्य पदार्थ परमाणुओ के सयोग का परिणाम हैं, स्वय परमाणु मिश्रित नही। वैभाषिक पृथिवी, जल, तेज, वायु—चार प्रकार के परमाणुओ को स्वीकार करते थे, आकाश को नही मानते थे।

वैभाषिक इतना ही नही मानते थे कि वाह्य जगत् विद्यमान है, वे यह भी मानते थे कि ज्ञाता को उसका स्पष्ट ज्ञान होता है।

सौत्रान्तिक मत

सौत्रान्तिक विचार के अनुसार वाह्य पदार्थों का अस्तित्व प्रत्यक्ष का नही, अपितु अनुमान का विषय है। उपलव्व ज्ञान के लिए आलवन की आवश्यकता होती है, और हम वाह्य पदार्थों को ऐसा आलवन स्वीकार करते हैं। स्वय ज्ञाता यह आलवन नही, क्योकि उसके उपलव्व उसकी इच्छा पर निर्भर नही, ये उस पर ठूँसे जाते हैं। ज्ञान का विषय चेतना के वाहर है।

अन्य वौद्धो की तरह, वैभाषिक भी अस्थिरता को मानते थे। यदि वास्तव में वाहर अस्थिरता ही है तो मुझे स्थिरता का भास कैसे होता है ? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि जिस कुर्सी को मैं सामने पडा देखता हूँ, वही घटो से मेरी दृष्टि में है। सौत्रान्तिक उत्तर देता है कि कुर्सी तो प्रतिक्षण वदलती रही है, परन्तु जो उपलव्व मुझे प्राप्त होते हैं, वे एक दूसरे के वाद इतने वेग से प्राप्त होते हैं कि मुझे उनके पहले पीछे

आने का वोध ही नही होता। मैं इन उपलब्धो के अन्तर को न देखने के कारण, कुर्सी को स्थिर वस्तु समझता हूँ। सुई कागज की १० तहो को एक साथ नही बीधती, परन्तु छेदन में समय इतना थोडा लगता है कि मुझे सब तहो के एक साथ विंधने का आभास होता है।

योगाचार मत

महायान की दोनो उपशाखाएँ विज्ञानवाद को मानती हैं। योगाचार सौत्रान्तिक विचार से अगला पग ही है। यदि बाह्य पदार्थों से ज्ञाता का स्पष्ट सम्पर्क नही होता और ज्ञाता अपने उपलब्धो से उनका अनुमान करता है, तो हम निश्चय से कैसे कह सकते हैं कि उपलब्ध पदार्थों को उनके वास्तविक रूप मे दिखाते हैं? ज्ञाता और उसके वोधो तक ही सारी सत्ता सीमित है, चेतना किसी विपय पर आलवित नही। योगाचार ने ज्ञाता के अस्तित्व को स्वीकार किया, परन्तु ज्ञेय में ज्ञाता के वोधो के अतिरिक्त कुछ नही देखा। उनके विचार में सारी सत्ता मानवी है।

माध्यमिक मत

माध्यमिक सम्प्रदाय ने ज्ञाता के अस्तित्व को मानना भी आवश्यक नही समझा। उनके अनुसार सारी सत्ता वोधो की है और वोध प्रकटन है। द्रव्य का कोई अस्तित्व नही। वुद्ध ने अपने सिद्धान्त को मध्यमार्ग का नाम दिया था। माध्यमिको ने इसके अनुसरण में कहा कि किसी धारणा को सत्य या असत्य कहना इवर या उवर की सीमा तक जाना है, मध्यमार्ग यह है कि हम किसी धारणा को न सत्य कहें, न असत्य कहें।

माध्यमिक सिद्धान्त शून्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। 'शून्य' कई अर्थों में लिया गया है—खाली स्थान, आकाश, अभाव, निराकार आदि। इसे खाली स्थान के अर्थ में लें, तो जगत् में जो कुछ भी दिखाई देता है, उसकी वास्तविक सत्ता नही। यह निर्णय कौन करता है? निर्णय के यथार्थ अयथार्थ होने का प्रश्न एक ओर रहने दें, तो भी निर्णय करनेवाले की वावत तो प्रश्न उठता ही है—उसका अस्तित्व है या नही? विशुद्ध शून्यवाद पूछनेवाले और उत्तर देनेवाले दोनो के अस्तित्व को अस्वीकार करता है।

शून्यवाद के अनुसार किसी धारणा के सत्य असत्य होने की वावत हम निश्चय से कह नही सकते। स्वय वुद्ध ने कई प्रश्नो का उत्तर देने से इनकार किया, क्योंकि उसे उन प्रश्नो में उलझने का कोई लाभ नही दिखाई देता था। शून्यवाद इससे वहुत आगे जाता है।

'विवेक विलास' मे बौद्ध शाखाओ के मत को तीन श्लोको में बयान किया गया है, इनके साथ हम अपना विवरण बन्द करते हैं।

'बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण मानते हैं, वैभाषिक आदि इनके चार सम्प्रदाय हैं।'

'इनमें वैभाषिक ज्ञान के अर्थ (विषय) को विद्यमान मानते हैं, सौत्रान्तिक के अनुसार प्रत्यक्ष में बाह्य पदार्थ का ज्ञान नही होता।'

'योगाचार आकार सहित बुद्धि को मानता है, माध्यमिक अपने में केवल ज्ञान-मात्र को मानता है।'

भगवद्गीता

१. भगवद्गीता की स्थिति

भगवद्गीता की स्थिति विशेष स्थिति है। दर्शनो में इसकी गिनती हो नही सकती। यह एक काव्य है। काव्य भाव को सबोधित करता है, इसका उद्देश्य पढने या सुननेवाले को प्रभावित करना होता है। दर्शन बुद्धि को सबोधित करता है, वह जो कुछ कहता है, उसे प्रमाणित करना चाहता है। दर्शन में विश्लेषण प्रमुख है, कविता समग्र को एक चमक में देखती है।

गीता के दूसरे अध्याय में कृष्ण को इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि वह युक्तियो के प्रयोग से अर्जुन को निश्चय कराये, पीछे तो वह अपना मत बयान करता जाता है, और अर्जुन सुनता जाता है।

इस पर भी भगवद्गीता भारतीय दर्शन में महत्त्व का स्थान रखती है। इसमें जीवन का तत्त्व-अन्वेषण (फलसफा) ऐसे सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया है कि उसकी मिसाल कही और कम ही मिलती है। यह अन्वेषण गीता का केन्द्र है, परन्तु केन्द्र की तरह अल्प अश भी है। गीता में अनेक अन्य विषयो पर भी कहा है, और उनमें बहुत से विषयो का सबन्ध दार्शनिक विवेचन से है। कुछ लोग गीता को उपनिषदो का सार कहते हैं। उनके कथनानुसार उपनिषदें गौएँ है, कृष्ण ग्वाला हैं, जिसने गौओ का दूध दुहकर अर्जुन को पिला दिया। जो लोग दार्शनिक दृष्टिकोण को अपनाते हैं, उनमें कुछ कहते हैं कि भगवद्गीता में लेखक ने साख्य और वेदान्त सिद्धान्तो का मेल करने का यत्न किया है, यद्यपि वह इस यत्न में सफल नही हो सका। कुछ आलोचको के अनुसार, पुस्तक पहले एक का समर्थन करती थी, पीछे इसे अधिक प्रिय बनाने के लिए इस पर दूसरे सिद्धान्त की कलम बाधी गयी। इस विचार के लोगो में, कुछ साख्य को और कुछ वेदान्त को गीता का मूल सिद्धान्त समझते हैं।

खुले मन से गीता का पाठ करें तो प्रतीत होता है कि यह सब विचार गीता के किसी एक अश या पक्ष को अनुचित महत्त्व देते हैं।

गीता उपनिषदो के रग में रगी है, परन्तु इसके लेखक के सामने वह विशाल भवन भी था जिसे दर्शनकारो ने उपनिषदो की नीव पर खडा किया था। इतना ही

नही, गीता में बौद्ध सिद्धान्त का प्रभाव भी दिखाई देता है। जैसा पहले कह चुके है, दर्शनो पर अनेक भाष्य और उप-भाष्य लिखे गये, परन्तु इन भाष्यो में, हर एक, जैसा होना ही चाहिये था, किसी एक शाखा के सिद्धान्त का व्याख्यान था। भगवद्-गीता के लेखक ने उपनिषदो और दर्शन की शाखाओ में जो कुछ विशेष महत्त्व का समझा, उसे ले लिया, और ऐसी सामग्री को, कही परिवर्तन के बिना और कही कुछ परिवर्तन के साथ एक साथ रख दिया। जो लोग आजकल उपनिषदो और दर्शनो को पढते है, और भारत की सभ्यता पर कहते या लिखते है, वे भी यही करते है।

वर्तमान पुस्तक में भगवद्गीता को स्थान देने के दो प्रमुख कारण है —

(१) गीता जीवन का एक मनोहर तत्त्व-ज्ञान प्रस्तुत करती है,

(२) गीता, एक तरह से, उपनिषदो और दर्शनो पर चलती हुई टीका है।

वर्तमान अध्याय में हम इन दोनो पक्षो में गीता का सरसरी दृष्टि से अध्ययन करेंगे।

२. जीवन का तत्त्व-अन्वेषण

१. जीवन का सर्वश्रेष्ठ प्रेरक-तत्त्व

हमारा जीवन शून्य में व्यतीत नही होता। हम एक विस्तृत और असरल वातावरण में रहते है। यह वातावरण हमारी ओर उदासीन नही, यह हम पर निरन्तर एक या दूसरे प्रकार की क्रिया करता है। इस क्रिया की प्रतिक्रिया हमारे लिए अनिवार्य होती है। यह क्रिया-प्रतिक्रिया जीवन का चिह्न है। पशु-पक्षी भी इसी तरह जीवन को कायम रख सकते है। उन्हें एक सुविधा है—उनकी प्रकृति उनके मार्ग को निश्चित करती है। चूहे को देखने पर बिल्ली की प्रतिक्रिया एक प्रकार की होती है, गौ की दूसरे प्रकार की होती है। मनुष्यो की प्रकृति में बुद्धि का अश होता है, और यह अश स्थिति को बदल देता है। मनुष्य एक निश्चित मार्ग पर चलने पर बाधित नही होते, वे एक से अधिक सभावनाओ में से चुनाव कर सकते है। यह योग्यता उनके लिए एक जटिल समस्या खडी कर देती है—जहाँ कई सभावनाएँ है, उनमें चुनाव कैसे करें? यह नीति का प्रश्न है, जीवन का तत्त्व-अन्वेषण इस प्रश्न का उत्तर देने का यत्न करता है।

भगवद्गीता के १८ अध्याय है। पुस्तक लगभग तीन बराबर के भागो मे बटी है, और पहला भाग प्राय नैतिक समस्या का समाधान है। पहले अध्याय में अर्जुन

अपनी कठिनाई को वयान करता है, दूसरे अध्याय में, जो सारी पुस्तक में विशेष महत्त्व रखता है, कृष्ण उसे अपना मत वताता है।

कौरवो और पाडवो में युद्ध आरभ होने को था, दोनो ओर की सेनाएँ कुरुक्षेत्र के मैदान में मौजूद थी। कृष्ण ने अर्जुन के रथ को दोनो सेनाओ के मध्य में ला खडा किया। दोनो ओर से शख, नगाडे और अन्य वाजे वजे। ठीक उस समय अर्जुन के मन में सन्देह हुआ कि युद्ध करना उचित भी है या नही। अर्जुन क्षत्रिय था, उसका काम ही लडना था। उसके सन्देह का कारण विद्यमान स्थिति की विशिष्टता थी। युद्ध मे दो दल एक दूसरे के शत्रु होते हैं, और एक दूसरे को समाप्त करना चाहते हैं। कुरुक्षेत्र में निकट सवन्वी एक दूसरे के मुकाविले खडे थे। कुल-धर्म की माग यह थी कि वे एक दूसरे का रक्त न वहायें, इसके विरुद्ध धर्म की माग यह थी कि इसकी प्रतिष्ठा वनी रहे। गीता के लेखक ने पुस्तक के पहले शव्द में ही कुरुक्षेत्र को 'धर्मक्षेत्र' कह दिया है। रक्त सवन्व एक ओर खीचता था, धर्म (कर्त्तव्य) दूसरी ओर खीचता था। अर्जुन निश्चय नही कर सकता था कि इन दोनो मार्गों में किसके सामने झुके।

नैतिक दृष्टिकोण से, जो रीति समस्या प्रस्तुत करने की अपनायी गयी है, वह महत्त्वपूर्ण है। नीति में चुनाव का प्रत्यय अनिवार्य है। चुनाव के लिए आवश्यक है कि एक से अविक सभावनाएँ एक साथ अपनी विकल्पित मागें पेश करें। जव एक ही मांग हो, तो स्थिति सरल होती है। वालक से कहा जाता है कि माता-पिता की आज्ञा माने। वह इस आदेश को स्वीकार करता है और इस पर आचरण करता है। एक अवसर पर माता एक आदेश देती है, और पिता इसके विपरीत दूसरा आदेश देता है। यह स्थिति वालक के लिए एक समस्या खडी कर देती है। यही अवस्था अर्जुन के लिए दोनो सेनाओ के परीक्षण ने पैदा कर दी।

अर्जुन ने अपनी कठिनाई को यो वयान किया—

'विरोधी सेना में निकट सवन्धी और गुरुजन ही दिखाई देते हैं। इनकी हत्या करके जो कुछ प्राप्त होगा, वह किसी मूल्य का नही। इससे तो भीख माग कर निर्वाह कर लेना अच्छा है।

युद्ध में जुए का अश होता ही है। हम जीतेंगे या हारेंगे, यह तो अनिश्चित है। क्या ऐसी अवस्था में हमें रक्त वहाने के लिए पर्याप्त हेतु है?'

कृष्ण ने अर्जुन की डावाडोल स्थिति देखकर, पहले ही कहा था—

'अर्जुन! तुम्हें यह अज्ञान क्यो हुआ है? यह न आर्य आचरण है, न स्वर्ग को ले जानेवाला है, और न कीर्त्ति प्राप्त करा सकता है।' (२ २)

इस कथन में उस युक्ति-दिशा का सकेत है, जिसे कृष्ण प्रयुक्त करना चाहता था। आगे २८ श्लोको (२ ११–३८) में कृष्ण नें अर्जुन के सन्देह को निर्मूल वताने का यत्न किया है। कृष्ण के कथन का सार यह है—

(१) अर्जुन! तुम कहते हो कि इतने सवन्धियो की हत्या हो जायगी। तथ्य यह है कि मैं, तुम और अन्य सभी इस जीवन से पहले विद्यमान थे, और इसकी समाप्ति के वाद विद्यमान रहेंगे।

'जो पुरुष आत्मा को मारनेवाला समझता है, और जो इसे मरा मानता है, वे दोनो ही जानते नही, आत्मा न मारता है, न मारा जाता है।' (२ १९)

(२) यदि आत्मा सदा जन्म-मरण के वन्धन में फँसा है, तो भी मृत्यु शोक का कारण नही, मरना तो इन सव को है ही, थोडे समय का आगे पीछे का भेद ही है। (२ २६)

इन दो हेतुओ में कहा है कि युद्ध से हट जाने का निश्चय 'अनार्य' निश्चय है।

(३) तुमने तो युद्ध को जीवन का काम वनाया है। योधा अपने धर्म को पालन करत हुए मरे तो स्वर्ग-द्वार उसके लिए खुले होते हैं।

'धर्मयुक्त युद्ध से वढकर क्षत्रिय के लिए दूसरा श्रेय नही है।' (२ ३१–२)

यह हेतु युद्ध से भागने को 'अस्वर्गमय' निश्चय वताता है।

(४) यदि तुम सग्राम नही करोगे तो स्वधर्म और कीर्ति दोनो को खोकर पाप को प्राप्त होगे, सव लोग तुम्हारी अपकीर्त्ति करेंगे, और भले पुरुष के लिए अपकीर्ति मृत्यु से भी वुरी है। और यह कौन मानेगा कि तुम निकट सवन्धियो के प्रेम में युद्ध से परे रहने का निश्चय करते हो? सभी यही कहेंगे कि भयभीत होकर तुमने यह निश्चय किया है।

तुम कहते हो कि युद्ध में हार जीत का पता नही। इसका तो पता नही, परन्तु यह तो पता है कि हारोगे, तो सीधे स्वर्ग को जाओगे, और जीतोगे, तो पृथिवी को भोगोगे। (२ ३१–३७)

इन युक्तियो को देकर कृष्ण ने अर्जुन से कहा—

'लाभ-अलाभ, जीत-हार को एक समान समझकर, युद्ध के लिए तैयार हो, ऐसा करने से तुम पाप को प्राप्त न होगे।' (२ ३८)

कृष्ण की सारी युक्ति का तत्त्व यह है कि जहाँ धर्म (कर्त्तव्य) एक ओर खीचे, और कोई अन्य प्रेरक-तत्त्व दूमरी ओर खीचे, तो प्रत्येक स्थिति मे धर्म से प्ररित होना चाहिये। कर्त्तव्य-पालन की माग अन्य सभी मागो से प्रतिष्ठित है।

यह विचार गीता की नैतिक शिक्षा में मौलिक प्रत्यय है।

यह स्वच्छ वुद्धि की माग है, परन्तु वुद्धि की शक्ति उसके अधिकार के वरावर नही होती। जव भाव आगे आ जाता है, तो कई वार शासन इसके हाथ में चला जाता है। कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि वह लाभ और हानि को, जीत और हार को समान समझे, और कर्त्तव्य-परायण हो। यह वहुत कठिन काम है। सुख और दुख वर्तमान में अनुभूत होते हैं, लाभ और जीत में भविष्य के भोग की आशा भी वंधती है। वुद्धि के पथ-प्रदर्शन को स्वीकार करने में प्रमुख वाधा 'सग' (अनुराग) और 'फल' के रूप में प्रस्तुत होती है। गीता में कई वार कहा है कि कर्त्तव्य-पालन में 'सग' और 'फल' की ओर से उदासीन रहना चाहिये, कर्त्तव्य को केवल कर्त्तव्य के भाव से ही करना चाहिये।

नवीन दर्शन में, जर्मनी के दार्शनिक काट का दृष्टिकोण भगवद्गीता का दृष्टिकोण ही है। काट ने कर्त्तव्य को नीति में मौलिक प्रत्यय वनाया, और नैतिक आदेश को 'निरपेक्ष आदेश' का पद दिया—कोई और आदेश इस आदेश के मुकाविले अधिकार नही रखता। काट ने यह भी कहा कि कर्त्तव्य-पालन में भाव और फल की ओर से उदासीन रहना चाहिये।

फल प्राय भविष्य भाव ही है। वुद्धि और भाव के सग्राम में शक्ति किसी की अधिक हो, अधिकार वुद्धि का ही प्रमुख है।

२. नरक द्वार

जव भाव अति प्रवल हो जाय, और क्षणिक भी न रहे, तो उसे 'विपय' कहते हैं। पाँच 'विपय' प्रसिद्ध हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार। काम, क्रोध और लोभ को गीता में नरक द्वार कहा गया है। इन तीनो की मौजूदगी में वुद्धि अशक्त हो जाती है। सभी गाथाओ में 'काम' को अन्धा वताया गया है। काम के वश में व्यक्ति आगे-पीछे नही देखता। जव कामना पूरी नही होती, तो क्रोध उत्पन्न होता है। लोभ में वुद्धि अशक्त होकर पीछे नही हट जाती, अपितु भाव की दासी वनकर उसके प्रयोजन की सिद्धि में सहायक वनती है। लोभ का तत्त्व यह है कि एक मनुष्य दूसरे के श्रम का फल आप ले लेना चाहता है। चलें घोडे की टागें, और सवार गन्तव्य तक पहुँच जाये। घोडे से काम लेना सुगम है, मनुष्यो की हालत में दोनो ओर से वुद्धि अखाडे में उतरती है। मानव जाति में लोभ कलह का वडा कारण है, इसका क्षेत्र काम और क्रोध के क्षेत्र से अधिक विस्तृत होता है। कई वार तो सारा देश किसी अन्य देश को शोपित करने का यत्न करता है।

पश्चिम में, मध्यकाल के लेखको में दाँत का स्थान वहुत ऊँचा है। उसने

जगत्-विख्यात 'दैवी नाटक' में स्वर्ग, शोधनलोक, और नरक का मनोहर चित्र खीचा है। दाँते आप इन तीनो स्थानो में पहुँच कर इन्हें देख सका। जब वह 'आनन्द-पर्वत' पर चढने लगा, तो चीते, शेर और भेडनी ने उसकी गति में बाधा डाली। चीता काम का, शेर हिंसा का, और भेडनी लोभ की प्रतीक है। इस बयान मे दाँते ने इशारा कर दिया है कि आत्म-उन्नति में प्रमुख बाधाएँ क्या हैं। नरक के विवरण में इस ख्याल को विस्तार दिया है। दाँते का नरक एक चोगे के रूप में है, जो नीचे जाते-जाते तग होता जाता है। अभिप्राय यह है कि पतन की अति-अधम अवस्था में इने-गिने पापी ही पहुँचते हैं। दाँते ने नरक के तीन भाग किये हैं, और फिर इनमें हर एक के उपभाग किये हैं। ऊपर के भाग में कामी पुरुषो को रखा है, मध्यभाग हिंसको का स्थान है, सब से निचले भाग मे धोखा देनेवालो को रखा है। हिंसा क्रोध का परिणाम होती है, दूसरो को धोखा देने का प्रमुख कारण स्वार्थ होता है। कामी पुरुष की सकल्पशक्ति उस समय के लिए निर्बल होती है, क्रोध में यह बुद्धि के विरुद्ध काम करती है, छल मे बुद्धि स्वार्थ (लोभ) की दासी बनती है। दाँते ने छल को पापो में सबसे नीचे रखा है। सम्भव है, उसके मन में यह ख्याल प्रधान हो कि मनुष्यो में सबसे पतित मनुष्य जुडस था, जिसने ३० मुद्रा लेकर अपने गुरु श्री ईसा को पकडवा दिया। कुछ ही हो, यह मेल बहुत दिलचस्प है कि दाँते ने जिन तीन पापो के लिए नरक को दडस्थान बनाया है, वे भगवद्गीता के तीन नरकद्वार ही हैं। यह बात और भी दिलचस्प है कि गीता और दाँते ने तीनो पापो को एक ही क्रम में रखा है।

३. पतन का मार्ग

गीता मे काम को नरक द्वारो में प्रथम स्थान दिया है। काम शब्द का प्रयोग सकुचित और विस्तृत दोनो अर्थो मे होता है। विस्तृत अर्थ में हर प्रकार की कामना इसके अन्तर्गत आ जाती है। काम मानव प्रकृति मे एक मौलिक उत्तेजन है। कामना पूरी न हो, तो हम दुखी होते हैं, और यदि बस चले, तो जिस बाधा ने इसे पूरा नही होने दिया, उसे मार्ग से हटा देना चाहते हैं। यह चेष्टा तीव्र हो जाय, तो दुख तो परे रह जाता है, क्रोध प्रकट हो जाता है।

काम हमारी प्रकृति का अश है, परन्तु जो वस्तुए हमारी कामना का विषय बनती हैं, वे सभी आरभ से निश्चित नही होती। जिन वस्तुओ में एक को अनुराग होता है, वे कई अन्य मनुष्यो के लिए कोई आकर्षण नही रखती। किसी वस्तु मे अनुराग पैदा होने का प्रमुख कारण यह होता है कि उसका ख्याल हमारी चेतना मे डेरा लगाने

लगता है। किसी वस्तु का ध्यान करते रहने से उसमें आसक्ति होती है और आसक्ति से काम उत्पन्न होता है।

काम विफल होने पर क्रोध को जन्म देता है। क्रोध में वुद्धि पर पर्दा-सा पड जाता है, यह किसी क्रिया या घटना को उसके वास्तविक रूप में नही देख सकती। इस अयोग्यता का अर्थ क्या है?

कोई वस्तु जिसे हम देखते हैं, शून्य में नही होती। यह अन्य वस्तुओ से घिरी होती है, उन पर प्रभाव डालती है और उनसे प्रभावित होती है। ऐसी क्रिया-प्रतिक्रिया इसके अस्तित्व का तत्त्व है। वस्तुओ की सत्ता क्षणिक नही होती, इनका भूत भी होता है। किसी वस्तु की वावत सोचते हुए हमें उसके पिछले सवन्धो का ध्यान भी आता है। जव अर्जुन ने अपनी कठिनाई कृष्ण के सम्मुख रखी, तो उसकी वुद्धि स्थिति को उसके विविध पक्षों में देख सकती थी। उसने वन्धुओ के रक्त सवन्ध, गुरुजनो के आत्मिक सवन्ध की वावत कहा। यह सव स्मृति का काम था। वह समझता था कि युद्ध में पडते ही यह सारी वातें भूल जायगी। क्रोध में व्यक्ति वर्तमान में जीता है, भूत और भविष्य का उसके लिए अभाव ही हो जाता है। इससे पहले की अवस्था वुद्धि के आवृत होने की अवस्था थी, अव वुद्धि विनष्ट ही हो जाती है। ऐसा होने पर पतन की सीमा आ जाती है।

भगवद्गीता में इस पतन-क्रम को यो वयान किया है—'विपयों का ध्यान करनेवाले मनुष्य में उन विपयो में आसक्ति हो जाती है और आसक्ति से काम उत्पन्न होता है। (काम में रुकावट पडने) से क्रोध उत्पन्न होता है।' 'क्रोध से सम्मोह (अविवेक) उत्पन्न होता है, और इससे स्मृति काम नही करती। स्मृति के वेकार होने पर वुद्धि का नाश होता है, और वुद्धि के विनाश होने से पतन पूर्ण हो जाता है।' (२ ६२-३)

४. 'स्वधर्म' का महत्त्व

यहाँ तक जीवन के तत्त्व-ज्ञान के सवन्ध में गीता ने कहा है—

जीवन के प्रेरक-तत्त्वों में सवसे अधिक अधिकार कर्त्तव्य या धर्म का है,

कर्त्तव्य का पालन केवल कर्त्तव्य के ख्याल से करना चाहिये। 'सग' और 'फल की कामना' कर्म को नैतिक स्तर से नीचे खीच लाते हैं।

काम, क्रोध और लोभ मनुष्य को मनुष्यत्व से गिरा देते हैं, ये नरक द्वार हैं।

यह धारणाएँ हमें उचित दृष्टिकोण की वावत वताती हैं। परन्तु स्थूल जीवन

मे हम ऐसे सूक्ष्म नियमो से सतुष्ट नही होते। यह ठीक है कि धर्म का आदेश निरपेक्ष आदेश है, परन्तु किसी व्यक्ति का कर्त्तव्य निश्चित कैसे होता है? नीति मनुष्यो को एक स्तर पर रखती है परन्तु उनमें भेद भी करती है। कोई मनुष्य ऐसा नही जो नैतिक नियम से ऊपर हो, परन्तु नैतिक नियम हर एक की स्थिति को भी देखता है। प्रत्येक के लिए अपने कर्त्तव्य का पालन करना श्रेष्ठ है।

भगवद्गीता में कहा है—

'अपना धर्म अच्छे प्रकार से पालन किया जाय, तो वह चाहे दूसरे के धर्म से निचले दर्जे का ही हो, उत्तम है। अपना धर्म पालन करते हुए मरना भी कल्याण कारक है, दूसरे का धर्म पालन करना भय देनेवाला है।' (३ ३५)

यह 'स्वधर्म' निश्चित कैसे होता है?

'सामाजिक जीवन में अपना स्थान चुनने के लिए कुछ लोग शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करते है, कुछ को हालात कही धकेल देते है, बहुतेरो के लिए उनका स्थान जन्म से ही नियत होता है। अर्जुन की दृष्टि में धर्म का अर्थ प्राय कुलधर्म था। अपनी कठिनाई बयान करते हुए उसने कहा कि कुल के नाश होने पर कुलधर्म का नाश होता है, और इससे कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं। ऐसा होने पर 'वर्णसकर' उत्पन्न होता है और इसके फलस्वरूप, उस कुल के मनुष्यो का 'अनन्त काल तक नरक में वास होता है।'

कृष्ण के विचार में भी व्यक्ति का धर्म उसके वर्ण से निश्चित होता है। वर्ण-व्यवस्था श्रम-विभाजन को ध्यान में रखकर की जाय तो सभी वर्ण आवश्यक है, परन्तु जहाँ यह व्यवस्था जन्म की नीव पर हो, वहाँ ऊँच-नीच का भेद प्रकट हो जाता है। कृष्ण के मन में भी यह भेद मौजूद था। गीता (९ ३२) में कहा है—

'स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनियों में पैदा हुए लोग भी मेरी शरण मे आने पर परमगति को प्राप्त होते हैं।'

यहाँ वर्ण को जन्म पर निर्धारित किया है, ब्राह्मण और क्षत्रिय पुरुषो को एक श्रेणी में रखा है और शेष सब को दूसरी श्रेणी में रखा है।

यह एक अजीब योग है कि प्राचीन यूनान में भी इसी प्रकार का भेद किया जाता था। एथन्स में नागरिक के अधिकार व्यवस्था बनानेवालो और व्यवस्था चलाने वालो (ब्राह्मणो और क्षत्रियो) तक सीमित थे, शेष आबादी को जिनमें श्रमी और दास सम्मिलित थे, यह अधिकार प्राप्त न थे। स्त्रियाँ सभी इन अधिकारो से वचित थी।

३ भगवद्गीता और उपनिषद्

भगवद्गीता को उपनिपदो का सार कहा जाता है। परन्तु सब उपनिपदो का दृष्टिकोण एक ही नही, इसलिए यह नही कह सकते कि गीता किसी विशेष उपनिपद् की या किसी उपनिपद् वर्ग की व्याख्या ही है। गीता में किसी उपनिपद् का नाम भी नही आता। गीता का आम दृष्टिकोण उपनिपदो का दृष्टिकोण ही है।

पराविद्या और अपराविद्या

उपनिपदो में विद्या को दो भागो मे विभक्त किया है—पराविद्या और अपराविद्या। अपराविद्या लौकिक कर्त्तव्य और कर्मकाड की वावत वताती है, पराविद्या अन्तिम सत्ता के स्वरूप की वावत कहती है। उपनिपदो में पराविद्या को अपराविद्या से ऊँचा पद दिया है। अपराविद्या का फल अस्थिर होता है, इसे भोग चुकने के वाद फिर जीवन-मरण का चक्र लगने लगता है। पराविद्या का फल ब्रह्मज्ञान है, जिससे यह वन्धन सदा के लिए टूट जाता है। भगवद्गीता में भी पराविद्या को अपराविद्या से ऊँचा पद दिया है। श्लोक ८ २८ में कहा है—

'योगी इस रहस्य को जानकर, वेदो के अध्ययन, यज्ञ, तप, दान के पुण्यफल को नि सन्देह पीछे छोड जाता है, और सनातन परम पद को प्राप्त कर लेता है।'

ज्ञान और कर्म

इमी के साथ मिला हुआ प्रश्न ज्ञान और कर्म का सापेक्ष मूल्य है। उपनिपदो में ज्ञान को प्रथम स्थान दिया है। भगवद्गीता में भी कहा है कि कोई वस्तु ज्ञान के समान पवित्र करनेवाली नही, परन्तु कर्म का तिरस्कार नही किया, जैसा कही-कही उपनिपदो में हुआ है। कुछ लोग कर्मत्याग की प्रशमा करते हैं, क्योकि उनके विचार में हर एक कर्म में पाप का कुछ अश मिला ही होता है। भगवद्गीता के अनुसार कर्म का शुभ-अशुभ होना कर्त्ता के भाव पर निर्भर है। जो कर्म 'सग' और 'फल' की उपेक्षा में कर्त्तव्य-भाव से किया जाता है, वह वाधता नही, निप्काम कर्त्ता की हालत में, कर्म और अकर्म में कोई भेद नही होता। निष्काम भाव से कर्म करनेवाले का ज्ञान एक तरह से कर्म को भस्म ही कर देता है।

यह कर्म का वचाव है, परन्तु कही-कही गीता में निप्काम कर्म को ज्ञान से ऊँचा पद दिया गया है। १२ वें अध्याय में कृष्ण ने अर्जुन को आत्म-सिद्धि के विविध साधनो की वावत उपदेश दिया है। चार श्लोको (१२ ८–११) में, भक्ति को सर्वोच्च

स्थान दिया है, इससे उतर कर अभ्यास को, अभ्यास से नीचे कर्मों को कृष्ण-अर्पण करने को, और सबसे पीछे कर्मफल-त्याग को रखा है। अगले श्लोक में ही, कर्मफलत्याग को अन्तिम नहीं, अपितु प्रथम स्थान दिया है। १२ १२ में कहा है —

'अभ्यास से ज्ञान उत्तम है, ज्ञान से ध्यान उत्तम है, ध्यान से कर्मफल त्याग उत्तम है। इस त्याग से तुरन्त शान्ति प्राप्त हो जाती है।'

सभवत इस श्लोक में ज्ञान से साख्य और ध्यान से पातजल योग अभिप्रेत हैं।

ब्रह्माण्ड विवेचन

उपनिषदो में कहा गया है कि जगत् 'अक्षर' से उत्पन्न हुआ है। उत्पादक के लिए 'अव्यक्त' शब्द का प्रयोग भी हुआ है। यह भी कहा गया है कि ब्रह्म की शक्ति जो जगत् की उत्पत्ति का कारण है, जगत् को धारण भी करती है, और अन्त मे जगत् उमी में लय भी हो जाता है। गीता में भी उत्पादक के लिए 'अक्षर' और 'अव्यक्त' दोनो शब्दो का प्रयोग हुआ है। (८ २१) अव्यक्त को दो प्रकार का वयान किया है—एक वह जो इस दृष्ट जगत् में व्यक्त होता है, दूसरा 'सनातन अव्यक्त' इस अव्यक्त से भी परे है, और वह प्रलय काल मे नष्ट नही होता।

ब्रह्माड की वनावट की वावत गीता ने साख्य विवरण को अपनाया है। इसकी वावत आगे कहेंगे।

ब्रह्म विवेचन

ब्रह्म की वावत जो कुछ उपनिषदो में कहा है, उसे गीता मे स्वीकार किया गया है। ब्रह्म की सत्ता ही मूल सत्ता है। ब्रह्माड में जो कुछ हो रहा है, वह उसी की शक्ति से हो रहा है। गीता के मध्य भाग में कृष्ण ने ब्रह्म और अपने आपको अभिन्न वताया है। उपनिषद् मे श्वेतकेतु को शिक्षा देते हुए, आरुणि ने कई वार कहा—'सारे विश्व में मूल सत्ता एक ही है, वह आत्मा है, और श्वेतकेतु! वह तू है।' कृष्ण ने इस शिक्षा के पहले भाग को पूर्णतया स्वीकार किया, परन्तु अन्तिम भाग को वदल कर कहा—'और अर्जुन! वह मैं हूँ।' जो प्रतिष्ठा आरुणि ने श्वेतकेतु को दी थी, वह अर्जुन को नही मिली।

ब्रह्म के मवन्ध में गीता का मत वेदान्त-मिद्धान्त समझा जाता है। इसकी वावत कुछ अधिक आगे कहेंगे।

मानव विवेचन

आत्मा को उपनिषदो में नित्य और अविनाशी तत्त्व कहा है। जैसा पहले देख चुके हैं, छादोग्य उपनिषद् (३ १० ६) में, अगिरस के पुत्र घोर ने देवकी-पुत्र कृष्ण से कहा—'जब किसी मनुष्य का मृत्युकाल निकट हो तो वह अपने आत्मा को सबोधित करके कहे—तू अखड है, तू अविनाशी है, तू जीवन का तत्त्व है।' मृत्युकाल का तो कुछ पता नही, घोर का उपदेश सदा याद रखने की बात है। घोर का शिष्य और अर्जुन का शिक्षक एक ही कृष्ण न हो, तो भी मत तो दोनो का एक ही है। गीता के दूसरे अध्याय में कुछ सर्वप्रिय श्लोक आत्मा के अमरत्व का वर्णन करते हैं।

गीता का मौलिक नैतिक सिद्धान्त यह है कि कर्त्तव्य का पालन इसी ख्याल से करना चाहिये कि यह कर्त्तव्य है। उपनिषदो में मुख्य प्राण को सभी देवो में 'ज्येष्ठ और श्रेष्ठ' कहा है। बाकी देव (आँख, कान, मन, वाणी) अपनी क्रिया में अपने लिए भोग निकाल लेते हैं, इसीलिए असुर उन्हें पाप से बींध सकते हैं। मुख्य प्राण की क्रिया में स्वार्थ का अश नही, यह जो कुछ करता है, दूसरो के कल्याण के लिए करता है। मुख्य प्राण निष्काम क्रिया का नमूना है। गीता निष्काम कर्म का आदेश देने में यही कहती है—'मुख्य प्राण को आचरण का आदर्श बनाओ।'

साकार नैतिक जीवन के सबन्ध में, गीता यज्ञ, तप और दान पर विशेष बल देती है। यह तीनो हमें नरक-द्वारो की ओर जाने से रोकते हैं। काम के प्रहार को रोकने का सुगम साधन यह है कि हमारा जीवन तपस्या का जीवन हो। दान का स्रोत करुणा का भाव है, जिस मनुष्य में यह भाव प्रबल हो, वह क्रोध के वश में नही होता। लोभी पुरुष दूसरो की सम्पत्ति पर अपना अधिकार करना चाहता है, यज्ञ करने वाला अपनी सम्पत्ति को दूसरो के अर्पण करता है। यज्ञ और दान दोनो में हम अपने स्व से ऊपर उठते और अपने आपको समाज का अग समझते हैं। दोनो में प्रेरक भावना एक ही है—यज्ञ में यज्ञ करनेवाला नही जानता कि वह किसे लाभ पहुँचा रहा है, दान में उसे यह ज्ञान होता है।

छादोग्य उपनिषद् में धर्म के स्कन्धो की निम्न सूची दी है—

अध्ययन, यज्ञ, दान, तप, ब्रह्मचर्य (आचार्य कुल में निवास) यह सूची साधारण नागरिक के लिए है। कृष्ण अर्जुन को उपदेश दे रहा था, उसके लिए अर्जुन की स्थिति को देखना आवश्यक था। अर्जुन का ब्रह्मचर्य काल बीत चुका था और अध्ययन भी गौण हो चुका था।

उपनिषदो में अनेक स्थानो पर कहा गया है कि प्रजापति की दो प्रकार की सन्तान है—देव और असुर। असुर आत्मा को शरीर के रूप में देखने पर तैयार हो जाते

है, देवो के प्रतिनिधि इन्द्र को यह विचार सतुष्ट नही करता। असुरो मे अपनी शक्ति को दूसरो के खिलाफ वर्तने की चाह होती है, देवो की बडी आवश्यकता यह है कि वे सयम में रहते हुए अपने उच्च पद पर टिके रहें।

भगवद्गीता में मनुष्यो में देव और असुर भेद को स्वीकार किया है, और दैवी और आसुरी वृत्तियो पर विस्तार से कहा है। १६वाँ अध्याय सारा ही दैवी और आसुरी सपदाओ के लक्षण के अर्पण है।

यो तो गीता उपनिषदो के रग में रगी ही है, परन्तु 'कठ उपनिषद्' के साथ इसका विशेष सवन्ध दिखाई देता है। दोनो पुस्तके एक उपदेश का वर्णन है कठ में यम का उपदेश है जो उसने नचिकेता को दिया, गीता में कृष्ण का उपदेश है जो उसने अर्जुन को दिया। दोनो पुस्तको में लेखक अपनी ओर से कुछ नही कहता।

कृष्ण का प्रमुख काम अर्जुन का सन्देह दूर करना था, उसे यह बताना था कि प्रत्येक स्थिति में कर्त्तव्य का पालन ही प्रथम माग है। यह उद्देश्य पहले छ अध्यायो मे पूरा हो जाता है। शेप दो भाग वेदान्त और साख्य सिद्धान्त का व्याख्यान है, और मौलिक उद्देश्य से असगत से है। कठ उपनिषद् में भी छ वल्लियाँ है।

इन वाहरी समानताओ के अतिरिक्त, निम्न बातें ध्यान के योग्य हैं—

(१) कठ उपनिपद् की पहली वल्ली विषय-प्रवेश ही है। नचिकेता यम से आत्मा के अमरत्व की बावत पूछता है। यम उसे इस वर पर आग्रह न करने को कहता है, और इसके स्थान में इस लोक का धनधान्य और यमलोक के भोग स्वीकार कर लेने का परामर्श देता है। जव नचिकेता नही मानता, तो यम अपना उपदेश इस वाक्य से आरभ करता है—

'श्रेय एक वस्तु है और प्रेय दूसरी वस्तु है।

वुद्धिमान् श्रेय को चुन लेता है, परन्तु मूर्ख लोभवश प्रेय को अगीकार करता है।'

गीता में दूमरे अध्याय के आरभ में ही अर्जुन कृष्ण से कहता है—

'जो निश्चय किया हुआ श्रेय है, वह मुझे वताओ।

मै पृथिवी के ऐश्वर्ययुक्त राज्य को और देवताओ के आधिपत्य को भी अपने शोक का इलाज नही समझता।' (२ ७, ८)

(२) थोडा आगे उपनिपद् की तीसरी वल्ली मे कहा है—

'इन्द्रियो मे उनके विपय परे है, विपयो से मन परे है। मन से वुद्धि परे है और वुद्धि से महान् परे है। महान् से अव्यक्त परे है, अव्यक्त से पुरुप परे है, पुरुप से परे कुछ नही। वही अन्तिम हद है, वही अन्तिम गति है।' (३ १०, ११)

गीता में भी थोडा आगे, तीसरे अध्याय में, कहा है—

'इन्द्रियो को परे कहते हैं, इन्द्रियो से परे मन है, और मन से परे वुद्धि है। और जो वुद्धि से अत्यन्त परे है, वह आत्मा है।' (३ ४२)

उपनिषद् मे दो श्लोक है, गीता में एक श्लोक है। उपनिषद् की सूची में से 'विषय', 'महान्' और 'अव्यक्त' गीता की सूची में विद्यमान नही, परन्तु इन्द्रिय, मन, वुद्धि और आत्मा को दोनो सूचियो में एक ही क्रम में रखा है।

(३) आत्मा के अमरत्व की वावत उपनिषद् की दूसरी वल्ली में १९ वाँ श्लोक यह है—

"यदि मारनेवाला ख्याल करता है—'मैं मारता हूँ', और मारा जानेवाला ख्याल करता है—'मैं मारा गया हूँ', तो यह दोनो यथार्थ नही जानते। यह (जीवात्मा) न मारता है, न मरता है।"

गीता में भी दूसरे अध्याय के १९वे श्लोक में कहा है—

'जो इस आत्मा को मारनेवाला समझता है, और जो इसे मारा गया मानता है, वे दोनो नहीं जानते। यह आत्मा न मारता है, न मरता है।'

उपनिषद् में इस श्लोक से पहला, और गीता में इससे अगला श्लोक ये हैं—

'यह चेतन आत्मा न जन्म लेता है, न मरता है, यह किसी अन्य वस्तु से वना नही, न कुछ इससे वना। यह अजन्मा और नित्य है, कभी इसका आरभ नही हुआ और यह सदा कायम रहेगा। शरीर का नाश होने पर भी इसका नाश नही होता।'

(कठ—२ १८)

'यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है। अथवा यह होकर फिर न होगा, ऐसा भी नही है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत (नित्य) और पुरातन है। शरीर का नाश होने पर इसका नाश नही होता।'

(गीता—२ २०)

उपनिषद् के श्लोको और गीता के श्लोको की भाषा में कुछ भेद है, परन्तु समान शब्दो की सख्या अधिक है। दोनो में छदो की भी समानता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक पुस्तक के श्लोक मूल हैं और दूसरी के श्लोक उनका भाषातर है।

४. भगवद्गीता और साख्य-योग

भगवद्गीता में कहा है कि वालवुद्धि पुरुष ही साख्य और योग में भेद करते हैं, वास्तव में दोनो एक ही हैं। गीता में योग शब्द का प्रयोग वहुत हुआ है, इसके विविध

अध्याय साख्ययोग, कर्मयोग, कर्मसन्यासयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि नामो से प्रसिद्ध हैं।

भगवद्गीता और सांख्य

दर्शनकारो में कपिल और व्यास दोनो का नाम गीता मे आया है, और एक ही प्रसग में। कृष्ण ने कहा है—'सिद्धो में मैं कपिल मुनि हूँ'। (१० १६) आगे चलकर कहा है—'मुनियो में मैं व्यास हूँ।' (१० ३७)

साख्य द्वैतवाद का समर्थक है, यह इसका अलगानेवाला चिह्न है। अद्वैतवाद पुरुष और प्रकृति में एक को अस्वीकार करता है; प्रकृतिवाद चेतना को प्रकृति का प्रकटन बताता है, अध्यात्मवाद प्रकृति को आत्मा की कल्पना समझता है। द्वैतवाद प्रकृति और पुरुष दोनो को स्वतन्त्र सत्ता का पद देता है। गीता के १३वें अध्याय में प्रकृति और पुरुष के लिए 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' का प्रयोग किया है और आरभ में ही कहा है कि 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' का ज्ञान ही ज्ञान है। चौथे श्लोक मे कहा है कि 'जो कुछ कृष्ण कहने जा रहा है, वही ऋषियो द्वारा गाया गया है, वेदमत्रो में वताया गया है, और वही ब्रह्मसूत्रो का मत है।' इस कथन का अन्तिम भाग विशेष महत्त्व रखता है।

यह कहते ही, गीता 'क्षेत्र' का वर्णन करती है। कहा है—

'महाभूत, अहकार, बुद्धि और अव्यक्त, १० इन्द्रियाँ, मन, और पाँच इन्द्रियो के विपय,'

'इच्छा, द्वेप, सुख, दु ख, सघात, चेतना, धृति—यह, विकारो के सहित, 'क्षेत्र' सक्षेप से कहा गया।' (१३ ५–६)

यहा पहले श्लोक में साख्य के २४ तत्त्वो (मूल प्रकृति और इसके विकारो) की सूची दी है, कविता की आवश्यकतावश क्रम कुछ वदल दिया गया है। दूसरे श्लोक में मन की प्रक्रियाओ का वर्णन है, और इसके साथ सघात (शरीर) को भी जोड दिया है।

पुरुप मूल प्रकृति (अव्यक्त) और इसके विकारो से अलग है, वह 'क्षेत्र' से अलग, २५वा तत्त्व है।

१३ १८ में साख्य द्वैत का स्पप्ट शब्दो में वर्णन किया है—

'प्रकृति और पुरुप दोनो को ही अनादि जान। यह भी जान कि 'विकार' और 'गुण' प्रकृति से पैदा होते हैं।'

प्रकृति का विकास पुरुष की दृष्टि में होता है। जो कुछ हो रहा है, वास्तव में पुरुष उससे निर्लिप्त है, प्रकृति के सयोग के कारण वह भोक्ता है।

प्रकृति का विकास होता कैसे है ?

मूल प्रकृति सत्त्व, रज, तम—तीन गुणो का सामजस्य है। इस सामजस्य के टूटने पर विकास का आरभ होता है। तीनो गुण रहत एक साथ है, परन्तु इनकी शक्ति एक दूसरे की अपेक्षा वढती घटती रहती है। विकास का कारण गुणो की शक्ति का वढना घटना ही है। साख्य के अनुसार मन भी प्रकृति के विकारो में एक है, गीता में भी इसे इन निकारो में दिया है। मन में भी सत्त्व, रज, और तम विद्यमान हैं और इनकी शक्ति अविक न्यून होती रहती है। मन के सवन्ध में तीन गुण इसके तीन पक्ष–ज्ञान, क्रिया और भाव है। भगवद्गीता मे गुणो की वावत कहते हुए मन पर अधिक ध्यान दिया है। १४ वें अध्याय में कहा है कि तीन गुण आत्मा को शरीर में वाधते हैं; सत्त्वगुण सुख में लगाता है, रजोगुण कर्म में लगाता है, तमोगुण प्रमाद में लगाता है। (१३ ५, ९)

साख्य मे कहा है कि जव पुरुप अपने आप को प्रकृति से भिन्न समझ लेता है, तो उसके वन्वन कट जाते हैं। गीता में कहा है—'जव देह में निवास करनेवाला (पुरुप) तीनो गुणो से पार हो जाता है, तो वह जन्म-मरण, जरा, और दुखो से छूटकर अमृत को प्राप्त करता है।' (१४ २०) १० वें अध्याय में कहा है कि मनुष्यो की श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी होती है। यह भेद मनुष्यो के आहार मे, यज्ञ में, दान में, तप में भी पाये जाते हैं।

साख्य में पुरुप और प्रकृति का भेद मौलिक सिद्धान्त है। मूल प्रकृति (अव्यक्त) एक है, और वाह्य जगत् मे जो वहुत्व दिखाई देता है, वह अव्यक्त के सामजस्य टूटने का परिणाम है। दूसरी ओर पुरुप अनेक हैं। गीता में पुरुप-वहुत्व को सर्वत्र माना है। कृष्ण कहता है, अर्जुन सुनता है। कृष्ण, अपने कथनानुसार, शरीर ही इसलिए धारण करता है कि सावु पुरुपो को तारे और पापियो का नाश करे।

इस तरह गीता ने साख्य के निम्न सिद्धान्तो को स्वीकार किया है—

(१) पुरुप और प्रकृति एक दूसरे से भिन्न अन्तिम तत्त्व हैं,

(२) प्रकृति का विकास गुणो का सामजस्य टूटने से होता है,

(३) प्रकृति के सयोग में, पुरुष अपने आप को वधन में डाल देता है, पुरुप और प्रकृति में भेद करना ही वन्वन से छूटना है,

(४) पुरुप अनेक हैं।

भगवद्गीता और योग

गीता (१० १७) मे अर्जुन ने कृष्ण को 'योगी' कह कर सबोधित किया है। सजय ने उसे 'महायोगेश्वर' कहा है और पुस्तक के अन्तिम श्लोक में 'योगेश्वर कृष्ण' और धनुषधारी अर्जुन के सहयोग के महत्त्व का वर्णन किया गया है। १०वें अध्याय में ही कृष्ण ने अपनी विभूतियो का विस्तार से वर्णन किया है। यह विभूतिया पातजल योग की विभूतियो से भिन्न हैं। पतजलि की विभूतिया प्राय प्रकृति के सबध में हैं; योगी दीवार में से गुजर जाता है, दीवार का पर्दा उसे परे पडी वस्तुओ को देखने के अयोग्य नही बनाता, वह आकर्षण नियम की अवहेलना करके वायु में उड सकता है। कृष्ण अपनी विभूतियो की बावत कहता है—

'अर्जुन! मैं सब भूतो के हृदय में स्थित आत्मा हू, सब भूतो का आदि, मध्य और अन्त भी मैं हू।' (१० २०) अगले श्लोको में वह अपने आपको विविध श्रेणियो में सर्वोत्म बताता है—देवो में इन्द्र, इन्द्रियो में मन, वृक्षो में पीपल, गौओ में कामधेनु, सिद्धो में कपिल, मुनियो में व्यास। दूसरे प्रकार की वस्तुओ को भी ध्यान मे रखा है—अपने आपको राक्षसो में कुवेर, दैत्यो में प्रह्लाद, छल करनेवालो में जुआ (जुंआरी ?) कहा है। श्लोक ३९ में फिर अपने आपको सभी भूतो का 'वीज' और 'अन्तरात्मा' कहा है।

योगदर्शन मे पहले दो योगाग यम और नियम हैं। गीता में दैवी सम्पत्ति वालों के गुणो का वर्णन करते हुए यमो और नियमो की अधिक सख्या को उन गुणो में सम्मिलित किया है।

योग का उद्देश्य चित्त की वृत्तियो का निरोध है। योगदर्शन में अभ्यास और वैराग्य को इस निरोध के साधन वताया है।

गीता (६ ३५) में कहा है कि मन चचल है परन्तु अभ्यास और वैराग्य से कावू मे आ सकता है।

पतजलि और गीता के दृष्टिकोण में एक भेद दिखाई देता है। पातजल योग में यम और नियम दो पहले अग हैं, धारण, ध्यान और समाधि अन्तिम अग हैं। अन्तिम तीन अगो को 'ध्यान' भी कहा जाता है। पातजल योग में ध्यान का स्थान कर्म से ऊचा है। यही आम योगियो का मत है। गीता में कर्मत्याग पर नही, अपितु कर्म-फल त्याग पर वल दिया है। निष्काम कर्म को ज्ञान और ध्यान दोनो से श्रेष्ठ वताया है।

५. भगवद्गीता और मीमासा

भगवद्गीता में पूर्व मीमासा की ओर सकेत नही किया, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी ओर उपेक्षा भी नही की।

पूर्वमीमासा में प्रमुख बातें दो हैं—

(१) धर्म आदेश (प्रेरणा) है, और धर्म के आदेश श्रुति में मिलते हैं।

(२) धर्म का प्रमुख अश यज्ञ कर्म का करना है।

भगवद्गीता में भी धर्म या कर्त्तव्य पर कोई दार्शनिक वाद नही। कृष्ण ने अर्जुन को शास्त्रों की ओर देखने को कहा। इससे आगे गया, तो कहा—

'सब धर्मों को त्याग कर एक मेरी शरण में आ।' (१८ ६६)

यहा सिद्धान्त रूप में, मीमासा की तरह धर्म को चोदना या आदेश स्वीकार किया है।

गीता में यज्ञ के महत्त्व को स्वीकार किया है।

३ १० में कहा है कि कल्प के आरभ में प्रजापति ने प्रजा को 'यज्ञसहित पैदा किया' और उन्हें आदेश दिया कि वे यज्ञ द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो, ३ १५ में कहा है कि 'ब्रह्म सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है।' यज्ञ का तत्त्व यह है कि व्यक्ति अपनी कमाई में से कुछ भाग दूसरो के लिए व्यय करता है। ३ १३ में कहा है—

'यज्ञ से बचे हुए को खानेवाले सन्त सब पापो से छूट जाते है, जो पापी अपने लिए ही पकाते हैं, वे तो पाप ही खाते है।'

जिन तीन कर्मों की विशेष प्रशसा की है, उनमें भी यज्ञ को प्रथम स्थान दिया है। परन्तु गीता ने यज्ञ को मीमासा के सीमित अर्थो में नही लिया। ४ ३३ में कहा है कि 'वेदवाणी में बहुत प्रकार के यज्ञों का व्याख्यान किया है, वे सब एक या दूसरे प्रकार की क्रिया का फल हैं।' इसके पहले, कई प्रकार के यज्ञो की बाबत कहा है। इनमें ईश्वर-पूजा, इन्द्रियसयम, प्राणायाम भी सम्मिलित हैं। ४ २८ में कहा है—

'कुछ लोग द्रव्ययज्ञ करते हैं, कुछ तपयज्ञ, कुछ योगयज्ञ, कुछ व्रतयज्ञ, कुछ स्वाध्याय-यज्ञ करते है।

यह भी कहा है कि द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ उत्तम है।

गीता ने पूर्वमीमासा की अपेक्षा द्रव्ययज्ञ के महत्त्व को बहुत कम कर दिया है।

गीता में 'ब्रह्मसूत्र' और इसके रचयिता व्यास दोनो का नाम आता है। आम ख्याल के अनुसार गीता का मध्यभाग प्राय वेदान्त का व्याख्यान है। वेदान्त का सिद्धान्त क्या है? जैसा हम देख चुके हैं, स्वय कृष्ण ने 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' की व्याख्या करते

हुए कहा कि जो कुछ वह कहने लगा है, वही 'ब्रह्मसूत्र' का मत है। उत्तर मीमासा की व्याख्या में हम देख चुके हैं कि वादरायण ने कई स्थानो पर ब्रह्म और जीव के भेद पर वल दिया है। वादरायण के सूत्रो पर वोधायन ने भाष्य लिखा, परन्तु वह भाष्य अब मिलता नही। उसके पीछे कुछ भाष्य हुए, इनमें भाष्यकारो ने 'ब्रह्मसूत्र' में अद्वैत को नही देखा। गौडपाद ने माडूक्य उपनिषद् पर कारिकाएँ लिखी और उनमें अद्वैत का समर्थन किया। गौडपाद के प्रभाव में शकराचार्य ने उपनिषदो और वेदान्त सूत्रो में अद्वैतवाद को देखा। शकर के प्रभाव में अब वेदान्त और अद्वैत को एक ही अर्थ में लिया जाने लगा है।

भगवद्गीता 'ब्रह्मसूत्र' में क्या देखती है?

गीता के मध्यभाग में, कृष्ण ने 'उत्तम पुरुष' का बहुत प्रयोग किया है ७वें अध्याय में ३० श्लोको में से २८ मे, ९वें अध्याय में ३४ श्लोको मे से २९ में ऐसा सकेत है। १०वा अध्याय कृष्ण का कथन ही है, और इसके ३५ श्लोको में हर एक में यह सकेत विद्यमान है। कृष्ण ने अपनी बावत जो कुछ कहा, उसमें सर्वविख्यात कथन दो निम्न श्लोको मे मिलता है—'भारत' जब-जब धर्म की ग्लानि और अवर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मै अपने आपको रचता हूँ' 'साधु पुरुषो के तारने के लिए, बुरे कर्म करनेवालो के विनाश के लिए, मै युग-युग में प्रकट होता हूँ।' (४ ७, ८)

यहाँ कृष्ण ने अपने अतिरिक्त अर्जुन का और अनेक युगो में भले और बुरे पुरुषो का अस्तित्व माना है। जो सग्राम पुण्य और पाप में चल रहा है, वह कृष्ण के एक सृजन से समाप्त नही हो जाता, युग-युग में धर्म की रक्षा करनी होती है। इस एक कथन की मौजूदगी में गीता में अद्वैत देखना अर्थहीन-सा प्रतीत होता है।

कृष्ण ने अपने आपको वस्तुओ का अन्तरात्मा और बीज-देनेवाला कहा है। अन्य पदार्थों की श्रेणियो में अपने आपको प्रमुख कहा है, पुरुषो में अपने आपको 'पुरुपोत्तम' कहा है। यदि एक के बिना कुछ है ही नही, तो उत्तम और अवम का भेद हो ही नही सकता।

गीता के मध्य भाग मे भक्ति पर वहुत जोर दिया है। भक्ति प्रेमी और प्रिय, उपामक और उपास्य, के भेद को स्वीकार करती है।

६ भगवद्गीता और बौद्ध सिद्धान्त

भगवद्गीता में साख्य, योग, और ब्रह्मसूत्र का जिक्र किया है, कपिल और व्यास का नाम भी आया है। गौतम बुद्ध या बौद्ध सिद्धान्त की ओर कोई स्पष्ट सकेत

नही। परन्तु प्रतीत होता है कि गीता मे वौद्ध ललकार से निपटने का यत्न किया गया है, और इस यत्न में समझौते का अश भी मौजूद है।

वुद्ध की शिक्षा में निम्न वातें प्रमुख थी—

(१) ससार मे जो कुछ है, मिश्रित है, इसलिए इसका विनाश होगा।

(२) आत्मा कोई नित्य द्रव्य नही, यह भी वना है और टूटेगा।

(३) ससार दु खमय है। जीवन के अन्त के साथ ही दु ख का अन्त हो सकता है। जीवन ज्वाला का वुझ जाना ही अन्तिम उद्देश्य, निर्वाण, है।

वुद्ध ने परमात्मा की वावत कुछ नही कहा। कुछ लोगो के विचार मे वह परमात्मा में विश्वास नही करता था, कुछ लोगो के विचार में उसने ब्रह्मविद्या और नीति को एक दूसरे से अलग रखा, और अपने कथनो को नैतिक उपदेश तक सीमित किया।

सम्भवत वुद्ध के समय में यज्ञो में पशुवलि का रिवाज था। वुद्ध की नैतिक शिक्षा में अहिंसा मौलिक प्रत्यय था। वुद्ध कर्मकाड को वेकार समझता था।

भगवद्गीता ने परमात्मा और आत्मा के अस्तित्व को वैदिक सिद्धान्त का मुख्य अश समझा और इनका म मर्थन किया। वौद्ध सिद्धान्त में भक्ति के लिए कोई स्थान न था। गीता ने भक्ति के महत्त्व को स्वीकार किया और इसे सर्वसाधारण में प्रिय वनाने के लिए, साकार और निराकार दोनो प्रकार की पूजा का उपदेश दिया। 'अव्यक्त अक्षर (निराकार ब्रह्म) की पूजा करनेवालो को वहुत क्लेश होता है, मैं अपने भक्तो को शीघ्र ही मृत्युरूप ममार सागर से पार कर देता हूँ।'

(१२ ५–७)

वुद्ध की शिक्षा प्राय अपने भिक्षुओ के लिए थी, कृष्ण अर्जुन को रणभूमि मे उपदेश दे रहा था। हम यह आशा नही कर सकते कि अहिंसा के मूल्य की वावत दोनो का दृष्टिकोण एक हो। वुद्ध ने अपनी शिक्षा में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया, कृष्ण ने दैवी सपदा वाले पुरुपो के लक्षणो में अभय को प्रथम स्थान दिया है, और अहिंसा को १०वाँ स्थान दिया है। आसुरी मपदा को प्राप्त हुए पुरुपो के छ लक्षणो में क्रोध को चौथे स्थान पर रखा है।

इससे अधिक महत्त्व इस वात का है कि कृष्ण की दृष्टि मे किमी काम की कीमत लगाने के लिए उसके दृष्ट आकार की नही, अपितु कर्त्ता के भाव को देखना चाहिये। कृष्ण ने युद्ध में पडे अर्जुन को युद्ध से रोका नही, अपितु अनिच्छुक अर्जुन को युद्ध में धकेल दिया।

सिद्धान्त में परमात्मा और आत्मा का अस्तित्व, व्यवहार में कर्त्तव्य का निर-

पेक्ष आदेश—इन दो वातो में कृष्ण ने वौद्ध मत का विरोध किया। अव समझौते के अश की ओर देखे।

भारतीय दर्शन की विविध शाखाओ में अन्तिम उद्देश्य वन्धन से छूटना है। कही यह वन्धन दुख के रूप में देखा गया है, कही अविद्या या अभद्र के रूप मे। छुटकारे के लिए 'मोक्ष', 'कैवल्य', 'योग', आदि शव्दो का प्रयोग किया गया है। गौतम वुद्ध ने इसके लिए 'निर्वाण' का प्रयोग किया। उपनिपदो और दर्शनो में परमगति के लिए 'निर्वाण' का प्रयोग नही हुआ। भगवद्गीता के तीन मुख्य श्लोको में 'व्रह्मनिर्वाण' का प्रयोग हुआ है—

'जो पुरुप आत्मा में ही सुख, आराम और ज्ञान पाता है, वह योगी व्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता है।'

'जिन पुरुपो के पाप नप्ट हो गये हैं, जिन्हें कोई सशय नही रहा, जो सव भूतो के हित में मस्त हैं, एकाग्र चित्त वाले और व्रह्मवेत्ता है, वे व्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करते हैं।'

'जो काम-क्रोध से विमुक्त हैं, जिनका चित्त वश में है, जिन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका है, ऐसे यतियो के लिए हर ओर से व्रह्मनिर्वाण प्राप्त होता है।'

(५ २४–२६)

कर्म के सवन्व मे कृष्ण ने कर्मकाड की अपेक्षा नैतिक क्रिया को अधिक महत्त्व दिया। उसने 'यज्ञ' के अर्थ को विस्तृत किया और तप, ज्ञान, प्राणायाम आदि को यज्ञ ही वयान किया। यही नही, 'ज्ञान यज्ञ' को 'द्रव्य यज्ञ' से ऊँचा पद दिया। ऐसी व्याख्या को वौद्ध अपनी जीत समझ सकते थे। ऐसा यज्ञ तो वे भी करते थे।

७ पश्चाद्दर्शन

अव्याय के आरभ में कहा गया था कि भगवद्गीता दर्शनो मे एक दर्शन नही, परन्तु एक चलन्त टिप्पणी है। अव्याय के अन्त में, कुछ शव्द पश्चाद्दर्शन के रूप में कहना अनुचित न होगा।

भगवद्गीता का विपय 'न्याय' और 'वैशेपिक' से असवद्ध है। 'न्याय' का प्रमुख काम 'प्रमाण' और 'प्रमेय' की व्याख्या है, वैशेपिक छ 'पदार्थों' की वावत कहता है। गीता मे 'प्रमाण' और 'पदार्थ' का ज़िक्र तक नही।

साख्य के साथ गीता का घनिप्ठ सवन्ध है। गीता में पुरुप और प्रकृति के भेद को स्पप्ट शव्दो मे स्वीकार किया है, प्रकृति में अव्यक्त और व्यक्त के भेद को माना है,

विकास के फल—२४ प्राकृत विकारो का जिक्र किया है, विकास के कारण को तीन गुणो के आपसी सबन्ध में देखा है।

सास्य में अन्तिम उद्देश्य पुरुष और प्रकृति का पृथक् होना है, इसी को गीता गुणातीत होना कहती है।

योग शब्द का प्रयोग गीता में बहुत हुआ है। योग अनुशासन को गीता ने महत्त्व दिया है, और योग के अगो की बाबत प्रशसा के शब्दो मे जिक्र किया है। परन्तु जहाँ पातजल योग ने 'ध्यान' को प्रमुख स्थान दिया है, वहाँ गीता में ध्यानयोग के साथ भक्तियोग और कर्मयोग को भी महत्त्व दिया है। इनमें कर्म, निष्काम कर्म, को ध्यान से श्रेष्ठ कहा है। ध्यानयोग और भक्तियोग को एक स्तर पर रखा है, केवल इतना कहा है कि भक्तियोग ध्यानयोग से सुगम मार्ग है।

पूर्वमीमासा का मौलिक सिद्धान्त यह है कि 'धर्म चोदना-लक्षण वाला है।' यह न तो प्राकृत नियम की तरह अबाध्य है, न राजनीतिक नियम की तरह बदलता रहता है, यह प्रेरणा या आदेश है। इसका अधिकार सर्वोच्च है, परन्तु इसे मानना न मानना व्यक्ति का अपना काम है। गीता ने भी धर्म को आदेश के रूप में ही देखा है। जैमिनि ने धर्म का स्रोत वेद को बताया था, कृष्ण ने वेदशास्त्र के साथ अपने आपको भी सयुक्त कर दिया। पूर्वमीमासा में धर्म प्राय कर्मकाड था, गीता ने यज्ञ को विस्तृत अर्थ में लिया और निष्काम कर्म को प्रथम स्थान दिया।

उत्तर मीमासा के मौलिक सिद्धान्त को गीता ने स्वीकार किया—ब्रह्म विश्व का आदि मूल है, वही इसे धारण करता है, और उसी में इसका अन्तिम स्थान है। इस स्वीकृति के साथ, जो कुछ वेदान्त सूत्रो में ब्रह्म की बाबत कहा गया था, उसे कृष्ण ने अपने आप पर लागू कर दिया।

बौद्ध सिद्धान्त के विरुद्ध गीता ने ब्रह्म और आत्मा के अस्तित्त्व पर बल दिया। इसने अहिंसा को भी भिन्न दृष्टिकोण से देखा। कोई क्रिया अपने आपमें अच्छी या बुरी नहीं, जिस भाव से यह की जाती है, वह इसे अच्छा या बुरा बनाता है।

गीता ने परमगति के लिए 'निर्वाण' शब्द का प्रयोग किया, यज्ञ को विस्तृत अर्थो में लिया। यहाँ गीता कुछ बौद्ध विचार के निकट पहुँची।

गीता का प्रमुख भाग उसका जीवन का फल्सफा है, जिसे पहले भाग में बहुत मनोहर रीति से प्रस्तुत किया गया है। 'अपना कर्त्तव्य पालन करो, क्योकि यह कर्त्तव्य है, 'सग' और 'फल' को परे रहने दो।'

५. भगवद्‌गीता और मीमासा

भगवद्‌गीता में पूर्व मीमासा की ओर सकेत नही किया, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी ओर उपेक्षा भी नही की।

पूर्वमीमासा में प्रमुख बातें दो हैं—

(१) धर्म आदेश (प्रेरणा) है, और धर्म के आदेश श्रुति में मिलते हैं।

(२) धर्म का प्रमुख अश यज्ञ कर्म का करना है।

भगवद्‌गीता में भी धर्म या कर्त्तव्य पर कोई दार्शनिक वाद नही। कृष्ण ने अर्जुन को शास्त्रो की ओर देखने को कहा। इससे आगे गया, तो कहा—

'सब धर्मों को त्याग कर एक मेरी शरण में आ।' (१८ ६६)

यहा सिद्धान्त रूप में, मीमासा की तरह धर्म को चोदना या आदेश स्वीकार किया है।

गीता में यज्ञ के महत्त्व को स्वीकार किया है।

३ १० में कहा है कि कल्प के आरभ में प्रजापति ने प्रजा को 'यज्ञसहित पैदा किया' और उन्हें आदेश दिया कि वे यज्ञ द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो, ३ १५ में कहा है कि 'ब्रह्म सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है।' यज्ञ का तत्त्व यह है कि व्यक्ति अपनी कमाई में से कुछ भाग दूसरो के लिए व्यय करता है। ३ १३ में कहा है—

'यज्ञ से बचे हुए को खानेवाले सन्त सब पापो से छूट जाते हैं, जो पापी अपने लिए ही पकाते है, वे तो पाप ही खाते है।'

जिन तीन कर्मों की विशेष प्रशसा की है, उनमें भी यज्ञ को प्रथम स्थान दिया है। परन्तु गीता ने यज्ञ को मीमासा के सीमित अर्थो में नही लिया। ४ ३२ में कहा है कि 'वेदवाणी में बहुत प्रकार के यज्ञो का व्याख्यान किया है, वे सब एक या दूसरे प्रकार की क्रिया का फल हैं।' इसके पहले, कई प्रकार के यज्ञो की बाबत कहा है। इनमें ईश्वर-पूजा, इन्द्रियसयम, प्राणायाम भी सम्मिलित हैं। ४ २८ में कहा है—

'कुछ लोग द्रव्ययज्ञ करते हैं, कुछ तपयज्ञ, कुछ योगयज्ञ, कुछ व्रतयज्ञ, कुछ स्वाध्याय-यज्ञ करते हैं।

यह भी कहा है कि द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ उत्तम है।

गीता ने पूर्वमीमासा की अपेक्षा द्रव्ययज्ञ के महत्त्व को बहुत कम कर दिया है।

गीता में 'ब्रह्मसूत्र' और इसके रचयिता व्यास दोनो का नाम आता है। आम ख्याल के अनुसार गीता का मध्यभाग प्राय वेदान्त का व्याख्यान है। वेदान्त का सिद्धान्त क्या है? जैसा हम देख चुके हैं, स्वय कृष्ण ने 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' की व्याख्या करते

हुए कहा कि जो कुछ वह कहने लगा है, वही 'ब्रह्मसूत्र' का मत है। उत्तर मीमासा की व्याख्या में हम देख चुके है कि वादरायण ने कई स्थानो पर ब्रह्म और जीव के भेद पर वल दिया है। वादरायण के सूत्रो पर वोधायन ने भाष्य लिखा, परन्तु वह भाष्य अव मिलता नही। उसके पीछे कुछ भाष्य हुए, इनमें भाष्यकारो ने 'ब्रह्मसूत्र' मे अद्वैत को नही देखा। गौडपाद ने माडूक्य उपनिषद् पर कारिकाएँ लिखी और उनमें अद्वैत का समर्थन किया। गौडपाद के प्रभाव मे शकराचार्य ने उपनिषदो और वेदान्त सूत्रो मे अद्वैतवाद को देखा। शकर के प्रभाव मे अव वेदान्त और अद्वैत को एक ही अर्थ में लिया जाने लगा है।

भगवद्गीता 'ब्रह्मसूत्र' में क्या देखती है ?

गीता के मध्यभाग में, कृष्ण ने 'उत्तम पुरुष' का बहुत प्रयोग किया है ७वें अध्याय में ३० श्लोको में से २८ मे, ९वें अध्याय में ३४ श्लोको मे से २९ में ऐसा सकेत है। १०वा अध्याय कृष्ण का कथन ही है, और इसके ३५ श्लोको में हर एक में यह सकेत विद्यमान है। कृष्ण ने अपनी वावत जो कुछ कहा, उसमे सर्वविख्यात कथन दो निम्न श्लोको में मिलता है—'भारत' जव-जव धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तव ही मैं अपने आपको रचता हूँ' 'साधु पुरुषो के तारने के लिए, बुरे कर्म करनेवालो के विनाश के लिए, मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।' (४ ७, ८)

यहाँ कृष्ण ने अपने अतिरिक्त अर्जुन का और अनेक युगो में भले और बुरे पुरुषो का अस्तित्व माना है। जो सग्राम पुण्य और पाप मे चल रहा है, वह कृष्ण के एक सृजन से समाप्त नही हो जाता, युग-युग में धर्म की रक्षा करनी होती है। इस एक कथन की मौजूदगी में गीता मे अद्वैत देखना अर्थहीन-सा प्रतीत होता है।

कृष्ण ने अपने आपको वस्तुओ का अन्तरात्मा और वीज-देनेवाला कहा है। अन्य पदार्थो की श्रेणियो में अपने आपको प्रमुख कहा है, पुरुषो में अपने आपको 'पुरुषोत्तम' कहा है। यदि एक के विना कुछ है ही नही, तो उत्तम और अवम का भेद हो ही नही सकता।

गीता के मध्य भाग में भक्ति पर वहुत जोर दिया है। भक्ति प्रेमी और प्रिय, उपासक और उपास्य, के भेद को स्वीकार करती है।

६ भगवद्गीता और बौद्ध सिद्धान्त

भगवद्गीता मे साख्य, योग, और ब्रह्मसूत्र का जिक्र किया है, कपिल और व्यास का नाम भी आया है। गौतम वुद्ध या वौद्ध सिद्धान्त की ओर कोई स्पष्ट सकेत

नही। परन्तु प्रतीत होता है कि गीता में बौद्ध ललकार से निपटने का यत्न किया गया है, और इस यत्न में समझौते का अश भी मौजूद है।

वुद्ध की शिक्षा में निम्न बातें प्रमुख थी—

(१) ससार में जो कुछ है, मिश्रित है, इसलिए इसका विनाश होगा।

(२) आत्मा कोई नित्य द्रव्य नही, यह भी वना है और टूटेगा।

(३) ससार दु खमय है। जीवन के अन्त के साथ ही दु ख का अन्त हो सकता है। जीवन ज्वाला का वुझ जाना ही अन्तिम उद्देश्य, निर्वाण, है।

वुद्ध ने परमात्मा की बावत कुछ नही कहा। कुछ लोगो के विचार में वह परमात्मा में विश्वास नही करता था, कुछ लोगो के विचार में उसने ब्रह्मविद्या और नीति को एक दूसरे से अलग रखा, और अपने कथनो को नैतिक उपदेश तक सीमित किया।

सम्भवत वुद्ध के समय में यज्ञो में पशुवलि का रिवाज था। वुद्ध की नैतिक शिक्षा में अहिंसा मौलिक प्रत्यय था। वुद्ध कर्मकाड को वेकार समझता था।

भगवद्गीता ने परमात्मा और आत्मा के अस्तित्व को वैदिक सिद्धान्त का मुख्य अश समझा और इनका स मर्थन किया। वौद्ध सिद्धान्त में भक्ति के लिए कोई स्थान न था। गीता ने भक्ति के महत्त्व को स्वीकार किया और इसे सर्वसाधारण मे प्रिय वनाने के लिए, साकार और निराकार दोनो प्रकार की पूजा का उपदेश दिया। 'अव्यक्त अक्षर (निराकार ब्रह्म) की पूजा करनेवालो को वहुत क्लेश होता है, मैं अपने भक्तो को शीघ्र ही मृत्युरूप ससार सागर से पार कर देता हूँ।'

(१२ ५–७)

वुद्ध की शिक्षा प्राय अपने भिक्षुओ के लिए थी, कृष्ण अर्जुन को रणभूमि में उपदेश दे रहा था। हम यह आशा नही कर सकते कि अहिंसा के मूल्य की वावत दोनो का दृष्टिकोण एक हो। वुद्ध ने अपनी शिक्षा में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया, कृष्ण ने दैवी सपदा वाले पुरुषो के लक्षणो में अभय को प्रथम स्थान दिया है, और अहिंसा को १०वाँ स्थान दिया है। आसुरी सपदा को प्राप्त हुए पुरुषो के छ लक्षणो में क्रोध को चौथे स्थान पर रखा है।

इससे अधिक महत्त्व इस वात का है कि कृष्ण की दृष्टि में किसी काम की कीमत लगाने के लिए उसके दृष्ट आकार की नही, अपितु कर्त्ता के भाव को देखना चाहिये। कृष्ण ने युद्ध में पडे अर्जुन को युद्ध से रोका नही, अपितु अनिच्छुक अर्जुन को युद्ध में धकेल दिया।

सिद्धान्त में परमात्मा और आत्मा का अस्तित्व, व्यवहार में कर्त्तव्य का निर-

पेक्ष आदेश—इन दो बातो मे कृष्ण ने बौद्ध मत का विरोध किया। अब समझौते के अश की ओर देखें।

भारतीय दर्शन की विविध शाखाओ में अन्तिम उद्देश्य बन्धन से छूटना है। कही यह बन्धन दुख के रूप में देखा गया है, कही अविद्या या अभद्र के रूप में। छुटकारे के लिए 'मोक्ष', 'कैवल्य', 'योग', आदि शब्दो का प्रयोग किया गया है। गौतम बुद्ध ने इसके लिए 'निर्वाण' का प्रयोग किया। उपनिषदो और दर्शनो मे परमगति के लिए 'निर्वाण' का प्रयोग नही हुआ। भगवद्गीता के तीन मुख्य श्लोको में 'ब्रह्मनिर्वाण' का प्रयोग हुआ है—

'जो पुरुष आत्मा में ही सुख, आराम और ज्ञान पाता है, वह योगी ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता है।'

'जिन पुरुषो के पाप नष्ट हो गये हैं, जिन्हें कोई सशय नही रहा, जो सब भूतो के हित में मस्त हैं, एकाग्र चित्त वाले और ब्रह्मवेत्ता हैं, वे ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करते हैं।'

'जो काम-क्रोध से विमुक्त हैं, जिनका चित्त वश में है, जिन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका है, ऐसे यतियो के लिए हर ओर से ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होता है।'

(५ २४–२६)

कर्म के सबन्ध में कृष्ण ने कर्मकाड की अपेक्षा नैतिक क्रिया को अधिक महत्त्व दिया। उसने 'यज्ञ' के अर्थ को विस्तृत किया और तप, ज्ञान, प्राणायाम आदि को यज्ञ ही बयान किया। यही नही, 'ज्ञान यज्ञ' को 'द्रव्य यज्ञ' से ऊँचा पद दिया। ऐसी व्याख्या को बौद्ध अपनी जीत समझ सकते थे। ऐसा यज्ञ तो वे भी करते थे।

७ पश्चाद्दर्शन

अध्याय के आरभ में कहा गया था कि भगवद्गीता दर्शनो में एक दर्शन नही, परन्तु एक चलन्त टिप्पणी है। अध्याय के अन्त में, कुछ शब्द पश्चाद्दर्शन के रूप में कहना अनुचित न होगा।

भगवद्गीता का विषय 'न्याय' और 'वैशेषिक' से असबद्ध है। 'न्याय' का प्रमुख काम 'प्रमाण' और 'प्रमेय' की व्याख्या है, वैशेषिक छ 'पदार्थों' की बाबत कहता है। गीता में 'प्रमाण' और 'पदार्थ' का ज़िक्र तक नही।

साख्य के साथ गीता का घनिष्ठ सबन्ध है। गीता में पुरुष और प्रकृति के भेद को स्पष्ट शब्दो में स्वीकार किया है, प्रकृति में अव्यक्त और व्यक्त के भेद को माना है,

विकाम के फल—२४ प्राकृत विकारो का जिक्र किया है, विकाम के कारण को तीन गुणो के आपसी सवन्ध में देखा है।

साख्य में अन्तिम उद्देश्य पुरुप और प्रकृति का पृथक् होना है, इसी को गीता गुणातीत होना कहती है।

योग शब्द का प्रयोग गीता में बहुत हुआ है। योग अनुशासन को गीता ने महत्त्व दिया है, और योग के अगो की वावत प्रशसा के शब्दो में जिक्र किया है। परन्तु जहाँ पातजल योग ने 'ध्यान' को प्रमुख स्थान दिया है, वहाँ गीता में ध्यानयोग के साथ भक्तियोग और कर्मयोग को भी महत्त्व दिया है। इनमे कर्म, निष्काम कर्म, को ध्यान से श्रेष्ठ कहा है। ध्यानयोग और भक्तियोग को एक स्तर पर रखा है, केवल इतना कहा है कि भक्तियोग ध्यानयोग से सुगम मार्ग है।

पूर्वमीमासा का मौलिक सिद्धान्त यह है कि 'धर्म चोदना-लक्षण वाला है।' यह न तो प्राकृत नियम की तरह अवाध्य है, न राजनीतिक नियम की तरह बदलता रहता है, यह प्रेरणा या आदेश है। इसका अधिकार सर्वोच्च है, परन्तु इसे मानना न मानना व्यक्ति का अपना काम है। गीता ने भी धर्म को आदेश के रूप मे ही देखा है। जैमिनि ने धर्म का स्रोत वेद को बताया था, कृष्ण ने वेदशास्त्र के साथ अपने आपको भी सयुक्त कर दिया। पूर्वमीमासा में धर्म प्राय कर्मकाड था, गीता ने यज्ञ को विस्तृत अर्थ मे लिया और निष्काम कर्म को प्रथम स्थान दिया।

उत्तर मीमासा के मौलिक सिद्धान्त को गीता ने स्वीकार किया—ब्रह्म विश्व का आदि मूल है, वही इसे धारण करता है, और उसी में इसका अन्तिम स्थान है। इस स्वीकृति के साथ, जो कुछ वेदान्त सूत्रों में ब्रह्म की वावत कहा गया था, उसे कृष्ण ने अपने आप पर लागू कर दिया।

बौद्ध सिद्धान्त के विरुद्ध गीता ने ब्रह्म और आत्मा के अस्तित्त्व पर वल दिया। इसने अहिसा को भी भिन्न दृष्टिकोण मे देखा। कोई क्रिया अपने आपमे अच्छी या बुरी नही, जिस भाव से यह की जाती है, वह इसे अच्छा या बुरा बनाता है।

गीता ने परमगति के लिए 'निर्वाण' शब्द का प्रयोग किया, यज्ञ को विस्तृत अर्थों में लिया। यहाँ गीता कुछ बौद्ध विचार के निकट पहुँची।

गीता का प्रमुख भाग उसका जीवन का फल्सफा है, जिसे पहले भाग में बहुत मनोहर रीति से प्रस्तुत किया गया है। 'अपना कर्त्तव्य पालन करो, क्योकि यह कर्त्तव्य है, 'सग' और 'फल' को परे रहने दो।'

विकास के फल—२४ प्राकृत विकारो का ज़िक्र किया है, विकास के कारण को तीन गुणो के आपसी सवन्ध मे देखा है।

साख्य में अन्तिम उद्देश्य पुरुप और प्रकृति का पृथक् होना है, इमी को गीता गुणातीत होना कहती है।

योग शब्द का प्रयोग गीता में वहुत हुआ है। योग अनुशासन को गीता ने महत्त्व दिया है, और योग के अगो की वावत प्रशसा के शब्दो मे ज़िक्र किया है। परन्तु जहाँ पातजल योग ने 'ध्यान' को प्रमुख स्थान दिया है, वहाँ गीता में ध्यानयोग के साथ भक्तियोग और कर्मयोग को भी महत्त्व दिया है। इनमे कर्म, निष्काम कर्म, को ध्यान से श्रेष्ठ कहा है। ध्यानयोग और भक्तियोग को एक स्तर पर रखा है, केवल इतना कहा है कि भक्तियोग ध्यानयोग से सुगम मार्ग है।

पूर्वमीमासा का मौलिक सिद्धान्त यह है कि 'धर्म चोदना-लक्षण वाला है।' यह न तो प्राकृत नियम की तरह अवाध्य है, न राजनीतिक नियम की तरह वदलता रहता है, यह प्रेरणा या आदेश है। इसका अधिकार सर्वोच्च है, परन्तु इसे मानना न मानना व्यक्ति का अपना काम है। गीता ने भी धर्म को आदेश के रूप मे ही देखा है। जैमिनि ने धर्म का स्रोत वेद को वताया था, कृष्ण ने वेदशास्त्र के साथ अपने आपको भी सयुक्त कर दिया। पूर्वमीमासा मे धर्म प्राय कर्मकाड था, गीता ने यज्ञ को विस्तृत अर्थ में लिया और निष्काम कर्म को प्रथम स्थान दिया।

उत्तर मीमासा के मौलिक सिद्धान्त को गीता ने स्वीकार किया—ब्रह्म विश्व का आदि मूल है, वही इसे धारण करता है, और उसी मे इसका अन्तिम स्थान है। इस स्वीकृति के साथ, जो कुछ वेदान्त सूत्रो में ब्रह्म की वावत कहा गया था, उसे कृष्ण ने अपने आप पर लागू कर दिया।

वौद्ध सिद्धान्त के विरुद्ध गीता ने ब्रह्म और आत्मा के अस्तित्व पर वल दिया। इसने अहिंसा को भी भिन्न दृष्टिकोण मे देखा। कोई क्रिया अपने आपमें अच्छी या वुरी नही, जिस भाव से यह की जाती है, वह इसे अच्छा या वुरा वनाता है।

गीता ने परमगति के लिए 'निर्वाण' शब्द का प्रयोग किया, यज्ञ को विस्तृत अर्थो में लिया। यहाँ गीता कुछ वौद्ध विचार के निकट पहुँची।

गीता का प्रमुख भाग उसका जीवन का फल्सफा है, जिसे पहले भाग में वहुत मनोहर रीति से प्रस्तुत किया गया है। 'अपना कर्त्तव्य पालन करो, क्योकि यह कर्त्तव्य है, 'सग' और 'फल' को परे रहने दो।'